बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के अन्तर्गत
संस्कृत विषय में पी-एच. डी. उपाधि
हेतु प्रस्तुत

2006

शोध निर्देशक -
डॉ. टी. आर. निरञ्जन
विभागाध्यक्ष - संस्कृत
मथुरा प्रसाद स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, कोंच (जालौन)

शोधच्छात्रा -
कु. विनीता देवी
पुत्री श्री भरतलाल पटेल
ग्राम व पोस्ट विलाटी करके
जनपद-झाँसी

‘ॐ गं गणपतये नमः’
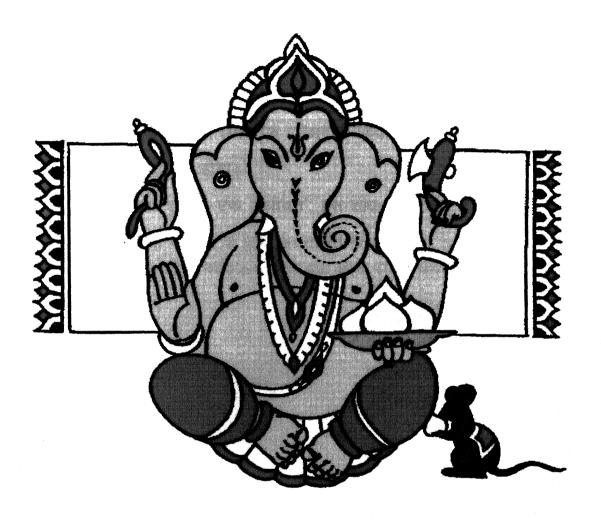
ॐ गणेश्वरो गणक्रीणो गणनाथो गणाधिपः ।
एकदंष्ट्रो वक्रतुण्डो गजवक्त्रो महोदरः ॥

गणेश पुराण-उपासना खण्ड

<u>अग्रेषण-पत्र</u>

कु. विनीता पटेल शोध छात्रा ने मेरे निर्देशन में **''गणेश पुराण–एक अध्ययन''** विषय पर शोध कार्य किया है और अपना शोध प्रबन्ध बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी; द्वारा प्राप्त पी–एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत किया है।

कु. विनीता पटेल सुशील, विनम्र छात्रा है। अध्ययन काल में अनुशासित रहकर उन्होंने यह शोध कार्य बहुत ही लगन एवं परिश्रम से किया है। कु. विनीता पटेल का यह परिश्रम सफलीभूत ही सिद्ध होगा।

मैं **''गणेश पुराण–एक अध्ययन''** इस शोध–प्रबन्ध को पी–एच. डी. उपाधि प्रदान करने हेतु अपनी संस्तुति के साथ अग्रसारित करता हूँ।

शोधार्थी निर्धारित वांछित तिथि २०० दिन तक शोध कार्य सम्पन्न किया।

गणेश चतुर्थी
08-12-06

शोध निर्देशक

डॉ. टी. आर. निरञ्जन
विभागाध्यक्ष–संस्कृत
मथुरा प्रसाद स्नातकोत्तर महाविद्यालय
कोंच (जालौन) उ. प्र.

आत्म निवेदन

विश्व साहित्य के अक्षय भण्डार में पुराण एक अद्‌भुत एवं सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं वेदों के पश्चात गुणों का प्रामाण्य है इनका अपना इतिहास है यह अतीत को जोड़ने वाली श्रृंखला के समान है इनमें मानव प्रजा और कल्पना का अद्‌भुत समन्वय है।

पुराण से नीति एवं धर्म का ज्ञान पद–पद पर प्राप्त होता है। पुराण विद्या शिल्प कला आदि अनेक विषयों की विवेचना होने से शास्त्र भी है पुराण आर्य सर्वस्व हैं।

अखिल भारतीय जनता के हृदय में भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार तथा धर्मपरायणता को दृष्टिपूर्वक प्रतिष्ठित करने का श्रेय पुराणों को ही प्राप्त है। वेद शास्त्र ईश्वर, वर्णाश्रम–धर्म, पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता एवं परलोक की सत्ता पर जो हमारा अटूट विश्वास है यह समग्र आस्तिकता पुराणों की ही देन है।

उपर्युक्त कथित तथ्यों के विचारोपरान्त इन सब पक्षों की पूर्ति को दृष्टिपात रखते हुये "गणेश पुराण–एक अध्ययन" को अनुसन्धान का विषय बनाने का एक मुख्य उद्‌देश्य यह है कि पुराणों के विषय में प्रचलित मान्यताओं का निराकरण करना, एवं पुराणों के शुद्ध और उपयोगी स्वरूप को समझना। प्रस्तुत शोध विषय में इसी प्रकार की शोध की अनन्त सम्भावनायें अन्तर्भूत तथा विचारणीय एवं गवेषणीय है।

प्रस्तुत शोध "श्री गणेश जी" को केन्द्र में रखकर किया गया है। श्री गणेश जी सर्व स्वरूप परात्पर, पूर्ण ब्रह्म, साक्षात् परमात्मा तथा विघ्नेश्वर हैं। उनकी कृपा दृष्टि होने से विघ्नों का पर्वत अपने आप धराशायी होकर क्षण भर में विनष्ट हो जाता है अतएव किसी भी धार्मिक कार्यक्रम के आरम्भ में श्री गणेश की पूजा किये बिना सिद्धि होना सम्भव नहीं है।

प्रस्तुत शोध विषय 'गणेश पुराण–एक अध्ययन' का चयन दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुये किया गया है। प्रथमतः 'गणेश पुराण' को उसके सम्पूर्ण वर्ण्य विषय के साथ सम्यक् ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करना द्वितीयतः गाणपत्य सम्प्रदाय के स्वतन्त्र अस्तित्व के आधारभूत मौलिक ग्रन्थ के रूप में इसके महत्व की विवेचना करना; दोनों बिन्दुओं पर प्रकाश डालने वाला एक मात्र महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गणेश पुराण' है। 'मुद्‌गल

पुराण' इसके समकक्ष है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में 'गणेश पुराण–एक अध्ययन' के अन्तर्गत सांस्कृतिक अध्ययन, ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं दार्शनिक तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

मैंने अपने इस शोध प्रबन्ध को विषय वस्तु की दृष्टि से पाँच अध्यायों में विभक्त किया है और उपसंहार में संक्षिप्त रूप में उनका निष्कर्ष प्रस्तुत है। ये पाँच अध्याय इस प्रकार विभक्त हैं।

प्रथमतः भूमिका के अन्तर्गत – गणेश की उत्पत्ति, गाणपत्य सम्प्रदाय का विकास, गणेश पुराण में सामाजिक एवं आर्थिक बोध, गणेश पुराण धार्मिक एवं दार्शनिक विश्लेषण।

प्रथम अध्याय में अवधारणा एवं स्रोत के अन्तर्गत – गणेश के सन्दर्भित मुद्रा शास्त्रीय एवं अभिलेखीय साक्ष्य। मूर्तिकला के आधार पर गणेश की प्राचीनता, वेदों में गणेश स्तवन पूजन, ऋग्वेद, पुराणों, बौद्ध धर्म में गणेश, पुराण और इतिहास का पार्थक्य, पुराण लक्षण, सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित, उप पुराण अर्थ एवं वैशिष्ट्य, संख्या, सूची, भेद गणेश पुराण का काल निर्धारण।

द्वितीय अध्याय में गाणपत्य सम्प्रदाय का उदय, गाणपत्य समुदाय और गणेश पुराण, गणेश का स्वतन्त्र स्वरूप, गणेश पुराण की विषय–वस्तु, उपासना खण्ड, क्रीड़ा खण्ड का ऐतिहासिक महत्व, गणेश का स्वरूप एवं उसके विभिन्न अवतार, गणेश पुराण तथा अन्य पौराणिक साहित्य के सन्दर्भ में।

तृतीय अध्याय में सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन की दशा, गणेश पुराण में वर्ण्य–व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, संस्कार, स्त्री दशा, खान–पान, वस्त्राभूषण, आमोद–प्रमोद और मनोरंजन के साधन, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना के मूलभूत तत्व, राजनैतिक स्थिति, गणेश पुराण और तत्कालीन अर्थ व्यवस्था।

चतुर्थ अध्याय में धार्मिक तत्व, दर्शन तत्व, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्ति, दान, तप, ज्ञान, कर्म, भगवद्गीता और गणेश गीता तुलनात्मक विवेचन, गणेश पुराण में तन्त्रोपासना।

पंचम अध्याय में प्रतिमा शास्त्रीय स्वरूप का प्रारम्भ, पुराणों में गणेश का

स्वरूप, आगम ग्रन्थों में गणेश स्वरूप, गणेश के आयुध, वस्त्र, आभूषण, भुजायें, मूर्ति विज्ञान में गणेश प्रतिमा का विकास, गणेश के प्राचीन मन्दिर, भारतीय संस्कृति में श्री गणेश मङ्गल स्वरूप श्री गणेश। गाणपत्य सम्प्रदाय के विकास तथा उसके द्वारा गणपति पूजा के प्रसार के लिये आवश्यक तत्वों को तलासने का प्रयास भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में दिखायी देगा।

उपसंहार के अन्तर्गत शोध की प्रमुख उपलब्धियों एवं वैशिष्ट्यों का वर्णन प्रस्तुत है। शोध–प्रबन्ध के अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थ सूची दी गयी है।

प्रस्तुत शोध कार्य की सम्पूर्ति में मेरे गुरूजनों, परिजनों, मित्रों एवं अनेक विर्द्वजनों का अयाचित सहयोग एवं मार्गदर्शन मुझे मिला है। इनके अभाव में कदाचित् यह कार्य सम्भव ही न हो पाता। अतएव सबके प्रति कृतज्ञता जताना मेरा धर्म है। प्रस्तुत शोध कार्य डॉ. टी. आर. निरञ्जन विभागाध्यक्ष–संस्कृत मथुरा प्रसाद स्नातकोत्तर महाविद्यालय कोंच (जालौन) के निर्देशन में किया गया है। गुरू और ज्ञान एक दूसरे के पूरक और पर्याय हैं इस तथ्य को मैंने डॉ. निरञ्जन के साथ काम करते हुये अनुभव किया। उनके वैदुष्य, व्यक्तित्व और मानुष्य ने मेरे ऊपर बहुत प्रभाव डाला है। ऐसे गुरुवर के आशीर्वाद, प्रोत्साहन और प्रेरणा से ही प्रस्तुत शोध कार्य वर्तमान स्वरूप में सम्मुख है। यदि मैंने उनके ज्ञान, अध्ययन और अनुभव का पूरा लाभ नहीं उठाया तो यह मेरी पात्रता की कमी हो सकती है।

महाविद्यालय के पूज्य विद्वान प्राचार्य श्री वीरेन्द्र सिंह एवं गुरूजनों डॉ. रामसजीवन शुक्ल, डॉ. सुरेन्द्र नारायण सक्सेना, डॉ. वीणा सक्सेना, प्रो. उमेश कंचन, डॉ. जयशंकर तिवारी आदि की सत्प्रेरणा मुझे निरन्तर प्रोत्साहित करती रही है। मैं इनकी कृतज्ञ हूँ। इन सभी विद्वान गुरूजनों ने समय–समय पर अपने अमूल्य सुझावों से न सिर्फ शोध कार्य को सुगम बनाया, बल्कि शीघ्र पूरा करने की प्रेरणा भी दी। इन विद्वत्जनों के परामर्श, अपनत्व और आशीर्वाद का लाभ शोध कार्य के सन्दर्भ में मुझे सर्वदा मिला है।

साथ ही गुरू पत्नी श्रीमती क्रान्ति देवी के मिले सहयोग की भी मैं हमेशा ऋणी हूँ। मेरी सहयोगी लेकिन उससे भी अधिक मेरी अनन्य मित्र जेबा खान, स्वराज्यमणि ने यथावसर बहुत कम समय में अनेक पुस्तकों से शोध सामग्री को मुझे उपलब्ध कराया है

तथा अध्ययन के दौरान आये अवरोधों में मुझे सन्तुलित रखा है। अच्छे और सचमुच के मित्रों से दुर्लभ होती जा रही इस दुनिया में यह दोनों अपवाद हैं इसलिये हमेशा स्मृति में रहेंगी।

महाविद्यालय के पुस्तकालय अधीक्षक श्री नरेश चन्द्र द्विवेदी के प्रति भी मैं आभारी हूँ। समयोचित उन्होंने पुस्तकें उपलब्ध कराकर मेरी सहायता की है। मैं उनके प्रति आभार प्रकट करती हूँ।

पिता और सन्तान के रिश्ते में औपचारिकता नहीं, धनीभूत अपनत्व होता है इसे सिर्फ अनुभव किया जा सकता है। मैं सीधे–सीधे मन की बात कहना चाहूँगी कि मेरे आदरणीय पिता श्री भरतलाल व पूज्नीय माता जी श्रीमती रामकली देवी ने इस कार्य में अथ से इति तक सहयोग कर मुझे आगे बढ़ाया है। जीवन में और आगे बढ़ जाना ही सम्भवतः उनके (पितृ) ऋण से मुक्ति होगी। शोध–प्रबन्ध को वर्तमान रूप देने में मेरे भाई सुरेन्द्र सिंह व सुरजीत सिंह, भाभी उमा के सहयोग के लिये कृतज्ञ हूँ। जिन आत्मीयजनों में सतीश चन्द्र, श्रीमती ममता, योगेन्द्र, प्रीति आदि से मिले प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोग के प्रति मैं आभारी हूँ।

कम्प्यूटर द्वारा प्रिंट करके शोध–प्रबन्ध को स्वच्छ और सुन्दर रूप देने में मेरी मदद मु. जियाउर्रहमान अंसारी (गुड्डू) महक कम्प्यूटर्स बजरिया, उरई ने की, एतदर्थ आभारी हूँ।

अन्त में श्री गणेश जी महाराज की महती कृपा थी जो कि शोध–प्रबन्ध निर्विघ्न समाप्त हुआ अन्यथा मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ।

मुझे पूर्ण आशा एवं विश्वास है कि नीर–क्षीर विवेक रखने वाले परीक्षकगण प्रमादवश हुई अपरिहार्य त्रुटियों की ओर ध्यान न देते हुये इस शोध प्रबन्ध का मूल्यांकन करेंगे।

कु० विनीता देवी

गणेश चतुर्थी
08-12-06......

विनयावनत
कु. विनीता पटेल

विषयानुक्रमणिका

✦✦✦

भूमिका

प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन का अध्ययन प्राच्य विद्या (ओरियंटलिज्म) एवं भारत विद्या (इंडोलॉजी) के अंतर्गत 18वीं–19वीं शताब्दी में पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों द्वारा विशुद्ध रूप से किया गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस दिशा में नयी ऐतिहासिक शोध पद्धति के अंतर्गत कतिपय विद्वानों ने धर्म का अध्ययन समाजशास्त्रीय और नाट्य शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में किया है। इसमें इतिहासकारों, विशेष रूप से डी. डी. कौशाम्बी, मैक्समूलर, विलियम जोंस, वेबर आदि की इतिहास–दृष्टि नयी और मौलिक है। रेडफील्ड ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में धर्म के अध्ययन का नया आयाम प्रस्तुत किया। उन्होंने महत्तर तथा लघुतर परम्परा की दृष्टि से पुराणों के अध्ययन की अनन्त सम्भावनायें प्रस्तुत की हैं। उनमें उक्त दोनों परम्पराओं का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। कुणाल चक्रवर्ती ने हाल ही में प्रकाशित अपनी महत्वपूर्ण 'द बंगाल पुराणाज' में बंगाल के पुराणों की व्याख्या करते हुये रेडफील्ड तथा श्रीनिवास के 'ब्राह्मणाइजेशन' (ब्राह्मणीकरण) तथा 'संस्कृताइजेशन' (संस्कृत भाषा का परिधीय क्षेत्रों में विस्तार) के सन्दर्भ में बंगाल के शाक्त सम्प्रदाय एवं परम्पराओं की व्याख्या की है। प्रायः धर्म का अध्ययन आदर्शों, मूल्यों, अवधारणाओं, विश्वासों, सिद्धांतों जैसे अभूत तथ्यों के आधार पर किया जाता है। मिथक और मीमांसा इसके अभिन्न अंग माने जाते हैं। प्रतीकात्मकता, आध्यात्मिकता एवं रहस्यवादिता के साथ कर्मकाण्ड के यथार्थ एवं ठोस धरातल का भी अध्ययन किया जाता है। 'कर्मकाण्ड' शून्य में नहीं उत्पन्न हो सकते। उनकी एक निश्चित मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि देश एवं काल की सीमाओं के भीतर होती है। धर्म के सामाजिक आयामों का अध्ययन भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के इतिहास–लेखन में प्रारंभ हुआ।

भारतीय धर्म और उससे सम्बद्ध विविध पक्षों के अध्ययन की अनंत सम्भावनायें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत समाहित हैं। इतिहासकार एवं धार्मिक भाष्यकार की दृष्टि धर्म के प्रति अलग–अलग होती है। इतिहासकार धर्म का अध्ययन देश–काल के सन्दर्भ में करता है। वह उन कारणों को उद्घाटित करना चाहता है जो किसी निश्चित देश–काल की सीमाओं में विशिष्ट तरह के धर्मों को जन्म देते हैं। इस आधार पर देखा जाये तो प्रस्तुत

शोध विषय 'गणेश पुराण एक अध्ययन' में शोध की अनन्त सम्भावनायें अंतर्भूत हैं। गणेश जी को केन्द्र में रखकर ही 'गणेश पुराण–एक अध्ययन' संभव है। गणेश जी अपने स्वरूप की विस्मयकारी छवियों और व्याख्याओं के साथ भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक चिन्तन–धारा में विद्यमान हैं। गणेश पुराण इस चिन्तन–धारा को आलोकित तो करता ही है, पौराणिक काव्य की विशिष्ट शैली से भी परिचित कराता है। अतः शोध के लिये यह बहुत उपयुक्त और महत्व का विषय है।

गणेश की उपासना प्राचीन काल से जनसाधारण में प्रचलित रही है। साहित्य, कला एवं लोकपरम्परा में उनकी उपासना से संबंधित विविध आख्यान, गणेश के स्वरूप के भेदोपभेद तथा व्रत–पर्व आदि अनेक रूपों में आज तक विद्यमान हैं। 'गणेश पुराण' तथा 'मुद्गल पुराण' दोनों ही गाणपत्य सम्प्रदाय के अध्ययन हेतु सर्वाधिक विशद् एवं महनीय स्रोत हैं। लेकिन अभी तक इन पुराणों का ऐतिहासिक सन्दर्भ में, अन्य पौराणिक साक्ष्यों के साथ, तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा सका है। जो कि यह अध्ययन अनिवार्य और उपयोगी है।

गणेश का पौराणिक स्वरूप विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के पारस्परिक अन्तर्भावन का प्रतिफल है। वैदिक वाङ्मय में 'गण' और 'गणपति' एक सामान्य नाम था। उत्तरवैदिक काल तक 'विनायक' नाम भी उल्लिखित हुआ है। अथर्वशीर्ष उपनिषद् में रुद्र को 'विनायक' कहा गया है। महाभारत में गणेश्वरों और विनायकों का देवताओं के साथ उल्लेख हुआ है और उन्हें सर्वत्र विद्यमान माना गया है। मानवगृह सूत्र में शालकंटक, कुष्माण्डराजपुत्र, उस्मित् तथा देवयजन का उल्लेख हुआ है, जिनसे ग्रसित होने पर मनुष्य विविध प्रकार के दुःस्वप्न देखता है, अनेक विघ्नों से आक्रांत हो जाता है। इन उल्लेखों से संभावित लगता है कि रुद्र के शिव–परम्परा में पूर्णतया समाहित होने के कारण गणपति भी शिव परिवार के अंग बन गये होंगे। इसी प्रकार रुद्र को अथर्वशीर्ष उपनिषद् में विनायक कहने की परम्परा ने विनायक और गणपति को एकाकार कर दिया होगा। विनायक द्वारा विघ्न उपस्थित करने की कल्पना से ही विघ्नप्रदाता, विघ्नविनाशक आदि के रूप में गणपति या गणेश की अवधारणा विकसित हुई। विनायकों की शान्ति के लिये किये जाने

वाले कृत्य भी महत्वपूर्ण हैं। इन कृत्यों में सरसों के तेल से विनायकों को आहुति दी जाती है तथा चत्वर पर धान या चावल के साथ पकी और कच्ची मछली रखी जाती है। इस प्रकार का कृत्य विनायकों को निश्चय ही वैदिकेतर सिद्ध करता है। यह कहा जा सकता है कि गणेश अवैदिक देव हैं तथा उनका उद्भव मानवगृह सूत्र के चार दुष्ट विनायकों से माना जा सकता है। विनायक का अस्तित्व लोकदेवता और ग्रामदेवता दोनों ही रूपों में प्रचलित था। याज्ञवल्क्य स्मृति में इन चारों विनायकों का सामंजस करके एक विनायक का स्वरूप दिया गया। स्कंद या कार्तिकेय या कुमार, मौलिक रूप में एक अन्य ग्रामदेवता हैं, जिन्हें महाभारत में विघटनकारी कहा गया है। कालान्तर में स्कंद देव सेनापति बन जाते हैं और ब्राह्मण देव समूहों में सम्मिलित हो जाते हैं। विनायक अब कार्तिकेय के दुष्ट आत्माओं के समूह के प्रमुख बन जाते हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति में विनायक के ब्राह्मणीकरण का प्रथम चरण प्रारंभ होता है। उन्हें अम्बिका के पुत्र के रूप में रखा गया है। गुप्तोत्तर काल के पुराणों में यह शिव और पार्वती के पुत्र बन जाते हैं। इसी काल में वे शिव गणों के नेता बन जाते हैं। इस प्रकार विनायक गणेश, धीरे–धीरे गणों के प्रमुख, ब्राह्मण धर्म के प्रमुख देव एवं शिव और पार्वती के पुत्र के रूप में कल्पित होते हैं। शिव–पार्वती के पुत्र के रूप में वे बाधाओं और विपत्तियों को दूर करने वाले विघ्नहर्ता, सिद्धिदाता, भाग्य प्रदाता बन जाते हैं। मानवगृहसूत्र और याज्ञवल्क्य स्मृति के विनायक के ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया पुराणों में जाकर पूरी होती है। विनायक एक नियमित और असीमित परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरते हैं तथा ब्राह्मण देव समूह के प्रमुख देवताओं के समकक्ष की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। विनायक और गणेश के रूप में उनके व्यक्तित्व की द्वंद्वात्मक प्रकृति से उन्हें लोकप्रियता मिली। विनायक ग्राम देवता के रूप में विघ्नहर्ता हैं, जबकि गणेश के रूप में एक पौराणिक देव विघ्नहर्ता हैं। ब्राह्मण देव समाज में शिव–पार्वती के पुत्र रूप में ऊँचा स्थान उन्हें प्राप्त हुआ। इस स्तर को प्राप्त कर लेने के बाद पुराण स्वयं उनकी विलक्षण विशेषताओं की व्याख्या करते हैं।

ब्राह्मण देव–समाज में गणेश के तीव्र उत्थान का प्रमुख कारण गाणपत्य सम्प्रदाय का विकसित होना भी है। 'गणपात्य' आरम्भ में गणपति या गणेश के उपासक

थे। उनके लिये गणेश वास्तविक सत्य थे। शिव, विष्णु तथा अन्य देवों से भी उच्च। इस विचारधारा को समाज में स्थापित करने तथा अपने आराध्य को लोकप्रिय बनाने के लिये गाणपत्यों द्वारा श्रुति, स्मृति और पुराणों के समानांतर नया साहित्य रचा गया। गाणपत्य साहित्य की प्रमुख रचना 'गणेश पुराण' है। इसमें गणेश के जन्म से सम्बन्धित रोचक आख्यान हैं, जिनमें एक ओर सभी देवों से ऊँचे उन्हें प्रतिष्ठित–स्थापित करने की भावना सन्निहित है, दूसरी ओर, उनके गजवदन होने के मूल में पौराणिकेतर तत्व का समावेश है। 'गणेश पुराण' में गणेश के अवतारवाद, स्वरूप, सगुण, निर्गुण, दर्शन, जनजीवन से सम्बन्धित विभिन्न परम्पराओं का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

गणेश के प्रतिमा स्वरूप को समझने में भी 'गणेश पुराण' सहायक है। कुमारस्वामी ने यह संभावना व्यक्त की थी कि गणेश प्रतिमा का मूल, अमरावती स्तूप से मिले एक उष्णीष पर अंकित गजमुखी यक्षों से स्थापित किया जा सकता है। गणेश के प्रतिमा लक्षण का प्रथम उल्लेख बृहत्संहिता में है, जिसमें उन्हें द्विभुजी तथा हाथ में परशु तथा मूली मिले हुये प्रदर्शित करने का विधान है। उल्लेखनीय है कि गणेश पुराण में कलिपूज्य गणपति के वर्णन में उन्हें द्विभुजी ही बताया गया है। यद्यपि उन्हें चतुर्भुजी, बहुभुजी, सर्वयज्ञोपवीती आदि रूपों में भी वर्णित किया गया है। यह वर्णन विष्णुधर्मोत्तर पुराण से मेल खाता है। इस प्रकार गणेश पुराण में एक ओर प्राचीन परम्पराओं का निर्वहन दिखाई देता है, दूसरी ओर, नवीन परम्पराएँ भी स्थापित हुयी हैं। नगर, खर्वर, ग्राम आदि में गणेश के विभिन्न स्वरूपों की प्रतिष्ठा का उल्लेख भी गणेश पुराण में आया है। इसमें अन्य पुराणों की ऐसी सामग्री बहुतायत से प्राप्त होती है, जिनका अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है। कालान्तर में विकसित होने वाले नृत्तगणपति, महागणपति, उच्छिष्टगणपति आदि का तथ्यपरक उल्लेख भी गणेश पुराण करता है। गणेश प्रतिमाओं का निर्माण तीसरी–चौथी शताब्दी में आरंभ हो गया था। यद्यपि हुविष्क के सिक्के पर धनुष तथा बाण धारण किये एक आकृति के नीचे 'गणेश' अंकित है, लेकिन गजवदन गणेश से उसे सम्बन्धित करना उचित नहीं लगता। मथुरा संग्रहालय में गुप्तकालीन गणेश मूर्तियाँ संग्रहीत है। इसी प्रकार उदयगिरि, अहिच्छत्रा, भीतरगाँव, देवगढ़, राजघाट आदि से प्राप्त

प्रतिमाएँ भी प्रारम्भिक कोटि में रखी जा सकती हैं। पूर्वमध्यकाल में गणेश का स्वरूप और अधिक जटिल हो जाता है। अंशुमदभेदागम, सुप्रभेदागम, अपराजितपृच्छा, विष्णुधर्मोत्तर पुराण आदि में गणेश के इसी जटिल एवं संकुल स्वरूप का उल्लेख है। गणेश पुराण के विवरणों के साथ इन सबका तुलनात्मक अध्ययन ऐतिहासिक एवं कलात्मक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण जान पड़ता है।

गणेश की ब्राह्मण देवसमूह में स्वीकारोक्ति और उनका उत्थान स्पष्टतः कला में व्यक्त हुआ है। मौलिक रूप में विनायक दुष्टात्मा व केवल द्विभुजी हैं, किन्तु पौराणिक देवता के रूप में वे चतुर्भुजी और बहुभुजी हैं। वे हाथों में भिन्न–भिन्न प्रकार के आयुध तथा वस्तुएँ धारण किये हुये हैं। सर्वप्रथम वे शिव मन्दिर में विनीत स्थिति में हैं, अर्थात् द्वार देवता हैं। अग्रमण्डप, मुखमण्डप और अर्द्धमण्डप की दीवारों पर पार्वती के साथ अंकित हैं। मंदिर की दीवारों के गवाक्षों में शिव के अनुचर देव के रूप में, शिव से सन्दर्भित पौराणिक घटनाओं के अंकन में गौण भूमिका में दिखाई देते हैं। बाद में, शिव मंदिरों में वे परिवार देवता या पार्श्व देवता के रूप में अंकित होने लगे। अंततः स्वतंत्र रूप से गणेश के लिये मंदिरों का निर्माण प्रारंभ हुआ, जिसमें वे मुख्य गर्भगृह में प्रतिस्थापित हुये। महाबलीपुरम् में पल्लवकालीन एकाश्मक रथ–मंदिरों की श्रृंखला में गणेश–रथ भी प्राप्त होता है।

गणेश पुराण में विभिन्न व्रतों एवं पर्वों का उल्लेख भी है। इन पर्वों और व्रतों में किये जाने वाले कृत्यों से लौकिक एवं पौराणिक पक्षों के परस्पर अन्तरावलम्बन पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। मस्त्य पुराण में वर्णित विभिन्न पर्व–तिथियों एवं गणेश पुराण की उन्हीं पर्व–तिथियों के कर्मकाण्ड में कतिपय अंतर भी परिलक्षित होता है, जिनके विश्लेषण के माध्यम से ऐतिहासिक–सांस्कृतिक तथ्यों को उद्घाटित किया जा सकता है। इसी प्रकार गणेश पुराण में आये तीर्थों का भौगोलिक ज्ञान भी गंभीर शोध का विषय है।

गणेश पुराण ऐतिहासिक, पौराणिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी स्वतंत्र एवं संपूर्ण अध्ययन के क्षेत्र में अभी तक उपेक्षित ही रहा है। गाणपत्य सम्प्रदाय से सम्बंधित कुछ विकीर्ण कार्य ही अवश्य प्रकाशित हुये हैं।

ऐसे ही अनेक अनुसंधानपूर्ण कार्यों के बावजूद गणेश तथा गाणपत्य सम्प्रदाय

से सन्दर्भित विभिन्न क्षेत्रों में शोध व विश्लेषण की बहुत संभावनाएँ बची थीं। ऐतिहासिक संदर्भों में गणेश की परम्परा, महत्व, नवीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियों में उनके उद्भव व विकास की आवश्यकता का परीक्षण करना अभी भी शेष था।

परिवर्तित होती भौतिक परिस्थितियों के अनुरूप मानवीय आवश्यकताएँ भी बदल जाती हैं। बदलती भौतिक परिस्थितियाँ और मनुष्य के धार्मिक जीवन पर इसके प्रभाव के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया कि सामाजिक परिवर्तन मनुष्य को नये विचारों और नयी आकांक्षाओं की प्रेरणा देते हैं, जिससे धार्मिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का नवीनीकरण होता है।

आधुनिक इतिहासकारों ने गणेश को एक कालक्रमिक ढाँचे में रखकर परीक्षण करने का प्रयास किया है, जिसमें गणपति का आविर्भाव हुआ तथा उन कारणों को भी तलाशने की कोशिश की है कि वह क्यों धीरे–धीरे विभिन्न धार्मिक धाराओं में स्थान बना लेने में सक्षम होते हैं। इन नवीन विचारकों व विश्लेषकों ने यह परीक्षण करने का प्रयास किया कि कैसे गणेश पर ब्राह्मणवादी मुलम्मा चढ़ाया गया। कैसे गाणपत्य सम्प्रदाय मध्यदेश से बाहर फैलकर सीमांतों तक पहुँच गया। और कैसे इस विस्तार में प्रांतीय विश्वासों व परम्पराओं का समावेश होता गया। कैसे और कब गणपति वणिकों व व्यावसायिक समूहों से जुड़ गये। क्यों गाणपत्य सम्प्रदाय अस्तित्व में आया और कैसे गणपति विभिन्न धर्मों यथा बौद्ध, जैन, स्मार्त में भी महत्वपूर्ण बन गये। इन विचारकों का विश्लेषण विश्वासों और व्यवहार की प्रांतीय विविधता के साथ–साथ उन तत्वों पर भी प्रकाश डालता है जो किसी देवता को वृहद व विस्तृत फलक पर सार्वभौमिकता प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, इन विचारकों ने गणपति से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं और उन पर आधारित कर्मकाण्ड एवं उपासना का विशद् विश्लेषण भी किया है। गणपति के पौराणिक व्यक्तित्व में समाहित विभिन्न अन्तर्विरोधों और आयामों के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। मिथकीय–पौराणिक गणपति की भूमिका तब ज्यादा स्पष्ट होती है जब उनकी तुलना पौराणिक देव समूह के अन्य द्वितीयक देवताओं से की जाती है। स्पष्ट है, आधुनिक शोधों व नवीन विश्लेषणों में गणेश को उनकी मिथक व परम्परा के नवीन

आयामों के अंतर्गत अध्ययन करने का प्रयास किया गया है तथा हिन्दू संस्कृति, विभिन्न धर्मों, शास्त्रोक्त पद्धतियों व सामाजिक मनोविज्ञान आदि से गणेश के सम्बन्ध को विश्लेषित किया गया है।

गाणपत्य सम्प्रदाय के इतिहास–लेखन से सम्बंधित उपर्युक्त निष्कर्षों की समीक्षा करते समय समस्त लेखन को तीन वर्गों में रखा जा सकता है –

1. धर्म के सम्बन्ध में किया गया इतिहास–लेखन
2. कला के सम्बन्ध में किया गया इतिहास–लेखन
3. साहित्य के सम्बन्ध में किया गया इतिहास–लेखन

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्म एवं कला से सम्बन्धित गाणपत्य विषयक इतिहास–लेखन तो बहुत समृद्ध और विस्तृत है। पर गाणपत्य सम्प्रदाय के विशिष्ट साहित्य से सम्बन्धित स्वतंत्र इतिहास–लेखन लगभग नगण्य और उपेक्षित है। हाजरा के पश्चात् 'गणेश पुराण' पर विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ। इतना ही नहीं, अंग्रेजी या हिन्दी भाषा में इसका अनुवाद तक अनुपलब्ध है। प्रस्तुत शोध–विषय ''गणेश पुराण–एक अध्ययन'' का चयन दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुये किया गया है। प्रथमतः, गणेश पुराण को उसके सम्पूर्ण वर्ण्य विषय के साथ सम्यक् ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करना। द्वितीयतः गाणपत्य सम्प्रदाय के स्वतंत्र अस्तित्व के आधारभूत मौलिक ग्रंथ के रूप में इसके महत्व की विवेचना करना। यद्यपि 'गणेश' शब्द की प्राचीनता वैदिक काल तक जाती है किन्तु पौराणिक देवता के रूप में जिस गणेश की प्रतिष्ठा हुई, उसके विकास में वैदिक, अवैदिक, श्रुति–स्मृति, आर्य–अनार्य, महत्तर एवं क्षुद्र लोक परम्पराओं आदि का योगदान दिखाई देता है। स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में गाणपत्य धर्म गणेश के विकास की अंतिम तथा सर्वोच्च अवस्था है। इस अवस्था का परिचय कराने वाला एकमात्र महत्वपूर्ण ग्रंथ 'गणेश पुराण' है। 'मुद्गल पुराण' इसके समकक्ष है।

प्रस्तुत विषय की शोध के लिये चयन करने का उद्देश्य इस भ्रान्त धारणा की तर्कसंगत समीक्षा करना भी है, कि गाणपत्य सम्प्रदाय मध्यकाल में, विशेषकर पेशवाओं के समय में, स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ।

गणेश पुराण की संरचना के अनेक स्तर हैं। स्वयं गणेश पुराण में इसे कई व्यक्तियों द्वारा श्रवण करने और कराने का सन्दर्भ प्राप्त होता है। इसमें प्राचीन एवं नवीन परम्पराओं का समावेश भी है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में क्रम निर्धारण करने का प्रयास भी इस शोध कार्य के माध्यम से किया गया है। गणेशोपासना के साथ–साथ इस पुराण से तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक पक्षों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यद्यपि यह गणेश पुराण का प्रमुख प्रतिपाद्य नहीं है। फिर भी कथा एवं उपासना के तारतम्य में ऐसे तथ्य स्वतः ही आ गये हैं।

गणेश पुराण के सांस्कृतिक अध्ययन के अंतर्गत ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं दार्शनिक पटलों को सम्यक्रूपेण विश्लेषित एवं समीक्षित करने का प्रयत्न प्रस्तुत शोध ग्रंथ में है। अपने अध्ययन में मैंने शोध की ऐतिहासिक प्रणाली का ही प्रयोग किया है। यद्यपि समाजशास्त्रीय पद्धति का प्रयोग गणेश पुराण की रचना की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने में किया गया है। ऐतिहासिक प्रणाली का व्यवहार करते हुये 'गणेश पुराण' के समकालीन साहित्यिक, अभिलेखिक, मौद्रिक एवं कलात्मक साक्ष्यों की सम्यक् समीक्षा की गयी है। गाणपत्य सम्प्रदाय तथा गणेश पुराण से ज्ञात सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा कलात्मक पक्षों का तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत शोध में किया गया है।

शोध–प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में बाँटा गया है।

प्रथम अध्याय में गणेश की अवधारणा और प्राचीनता, वेदों में उल्लिखित 'गणपति' से पौराणिक गणेश का समाकलन, गणेश पुराण को उपपुराण के अंतर्गत रखने के लिये प्राप्त साक्ष्यों का परीक्षण, गणेश पुराण का काल निर्धारण आदि है। द्वितीय अध्याय में गाणपत्य सम्प्रदाय के उद्भव एवं विकास, अभिलेखगत उल्लेख गणेश पुराण के प्रतिपाद्य विषय की विवेचना करते हुये उसमें अंतर्निहित सांस्कृतिक पक्षों का अनुशीलन किया गया है। तृतीय अध्याय में गणेश पुराण में परिलक्षित सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों का विश्लेषण है तथा पूर्वमध्यकाल में होने वाले सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिवर्तनों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया गया है। इस काल में मुद्राओं के अभाव से

उत्पन्न ह्रासोन्मुखी अर्थ–व्यवस्था का आंकलन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में धार्मिक एवं दार्शनिक अवस्था का निरूपण करते हुये गणेश उपासना पर सांख्य, योग, शैव, वैष्णव तत्वों, भक्ति परम्परा तथा तंत्रोपासना के प्रभाव का विस्तृत विवेचन किया गया है। पंचम अध्याय में गणेश के प्रतिमा विज्ञान का अनुसंधानपरक अध्ययन करके पौराणिक वाङ्मय, आगमों तथा शिल्प–शास्त्रों में उल्लिखित गणेश–प्रतिमाओं की गणेश पुराण में वर्णित गणेश प्रतिमा से तुलनात्मक विवेचना है। पूर्व मध्यकाल की गणेश–प्रतिमाओं का अध्ययन भी इसी अध्याय में है। गाणपत्य सम्प्रदाय के विकास तथा उसके द्वारा गणपति पूजा के प्रसार के लिये आवश्यक तत्वों को तलाशने का प्रयास भी प्रस्तुत शोध प्रबंध में दिखायी देगा।

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

गणेश की उत्पत्ति

अवधारणा एवं स्रोत

गणेश हिन्दू देवमण्डल में अग्रपूज्य दैव के रूप में जाने जाते हैं। 'गण' शब्द सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में अभिलेखित किया गया है।(1) सामान्य रूप से इस शब्द की व्युत्पत्ति 'गण' से मानी जाती है, जिसका अर्थ है 'गिनना' या 'गणना करना'। 'गण' संज्ञा का साहित्यिक अर्थ है 'समूह या झुण्ड'(2)। फलस्वरूप 'गणपति' शब्द का अर्थ एक सेनानायक के रूप में लिया जाता है। गणेश या गणपति को सामान्य रूप से झुण्ड के नेता या शिव के अनुचर के रूप में माना जाता है।

'गणेश' और 'गणपति' दोनों ही शब्द समान अर्थ रखते हैं, अर्थात् गुणों के नेता या मालिक। गणेश से सम्बन्धित पहला नाम गणपति है, जो साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। यह नाम पहली बार ऋग्वेद में आया है।(3) वहाँ इसे वृहस्पति या ब्रम्हणस्पति, जो ईश्वर समूह के मालिक या मंत्रों के मालिक हैं, के लिये प्रयोग किया गया है।(4) वहाँ वृहस्पति को ज्येष्ठराज के रूप में सम्बोधित किया गया है, जिसने हाथ में एक कुल्हाड़ी पकड़ रखी है।(5) गणपति शब्द ऋग्वेद में इन्द्र के लिये भी प्रयोग किया गया है। वहाँ इन्हें मालिक(6) या नायक(7) के रूप में वर्णित किया गया है।

पूर्व ऐतिहासिक काल में गण एक गणचिन्ह (टोटम) के रूप में मान्य था। पशु का गणचिन्ह के रूप में पूजन होना इस बात का द्योतक है कि व्यवस्थित धार्मिकता विकसित होने के पूर्व ही प्रतीकात्मकता का महत्व समझा जाने लगा था। कभी–कभी

---

1. ऋग्वेद, II.23.1
2. मोनियर विलियम्स, संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोश
3. ऋग्वेद II.23.1
4. वही, II.2.3.1
5. वही, X.53.9
6. वही, 112.9, III.88.7.9
7. वही, X.111.8

गणचिन्ह माने जाने वाले पशु का मानवीकरण किया जाता था तथा उसको अत्यधिक महत्व दिया जाता था। पश्चिम पर्शिया से प्राप्त, पेरिस संग्रहालय में संग्रहीत, एक मूर्ति में इस प्रकार का अंकन पाया गया है। यह अंकन 1200–1000 ई. पू. के बीच का माना जाता है। तत्व–मीमांसा एवं दर्शन शास्त्र में मनुष्य द्वारा ईश्वर के मुखों तथा स्वरूपों का, अपनी मानसिक योग्यता एवं कल्पनाओं के अनुसार निर्माण करने की प्रवृत्ति का, विकास टोटम के मनुष्यीकरण से शुरू हुआ था।

भारतीय देव मंदिरों में अनेक प्रसिद्ध एवं सुरुचिपूर्ण आकृतियों में से एक देव की आकृति गज के समान मुख देव गणेश की है। शिव के गणों एवं व्यक्तिगत सहायकों में गणेश को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हैं। गणेश का वाहन मूषक माना जाता है। गणेश को सामान्यतः व्यक्तिगत रूप से या कहीं–कहीं अन्य देवताओं के साथ विघ्नविनाशक का या सौभाग्य लाने वाले देव के रूप में पूजा जाता है। गणेश पूजन के प्रारम्भ एवं विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिये पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों के अध्ययन की आवश्यकता है।

प्राचीन आर्य जाति जो भारतवर्ष के मरूस्थलों, पर्वतों एवं जंगलों में निवास करती थी, जंगली गजों के आतंक से बहुत आश्चर्यचकित एवं आतंकित थी।[(1)] किसी अन्य साधन, जो इनके आतंक को समाप्त कर सकें, की अनुपलब्धता होने पर और संभवतः इस शक्ति के साथ स्वयं को आत्मसात करने के लिये, प्राचीन जनजातियों ने गज के रूप में संरक्षक देवता की पूजा प्रारम्भ की।[(2)]

सम्भवतः गणेश पूजा का उद्‌भव उत्तरी एवं उत्तर–पश्चिमी भारत के क्षेत्रों से हुआ है जहाँ गज बहुतायत से पाये जाते हैं।[(3)] यह परंपरा इसके साथ ही दक्षिणी, पूर्वी व उत्तरी क्षेत्रों में भी फैल गयी। पश्चिम भारत के पूर्वीतट, विशेष रूप से महाराष्ट्र एवं त्रावणकोर तक इसका प्रसार हुआ।

---

1. मित्रा, हरिवारा, गणपति, विश्व भारती, शांति निकेतन, कलकत्ता प्रकाशन, 1992, पृ.5
2. वही, पृ. 19
3. भारत में गजों का विवरण देखने के लिये, इनसाइलोपीडिया ब्रिटिनिका, ग्यारहवाँ एडीशन, हिमालया एण्ड गज

इस बात के भी साक्ष्य मिलते हैं कि गणेश पूजा का सम्बन्ध गजों से है। इसके साक्ष्य पश्चिमी भारत में तान्त्रिकों, एवं दक्षिणी भारत में शैवगामिकों के लेखों में उल्लिखित हैं। गजों की बढ़ोत्तरी होने के कारण (क्योंकि गज राजाओं से सम्बन्धित है) राजाओं द्वारा अपनी जनता की भलाई के लिये गज–संवेदना एवं गज–ग्राह नामक कार्यक्रम सम्पन्न कराया जाने लगा।

ऋग्वेद में गणपति शब्द का प्रयोग 'ब्रह्मणस्पति' की उपाधि के रूप में आया है। ऋग्वेद का मंत्र[1] "गणानां त्वां गणपतिं हवामहे" जो गणेश के आह्वान के लिये प्रयुक्त होता है, ब्रह्मणस्पति का ही मंत्र है। ऋग्वेद[2] में इन्द्र को गणपति के रूप में सम्बोधित किया गया है। तैत्तिरीय संहिता[3] एवं वाजसनेही संहिता में पशु (विशेषतः अश्व) रुद्र के गाणपत्य कहे गये हैं। ऐतरेय ब्राह्मण[4] में स्पष्ट आया है कि "गणानां त्वा" नामक मंत्र ब्रह्मणस्पति को सम्बोधित है। वाजसनेही संहिता[5] में बहुवचन (गणपतिभ्यश्च वो नमः) तथा एकवचन (गणपतये स्वाहा) दोनों रूपों का प्रयोग हुआ है। मध्यकाल में गणेश का जो विलक्षण रूप (हस्तिमुख, लम्बोदर, मूषक वाहन) वर्णित है, यह वैदिक संहिता में नहीं पाया जाता। वाजसनेही संहिता[6] में मूषक को रुद्र का पशु अर्थात् "रुद्र को दिया जाने वाला पशु" कहा गया है। गृह एवं धर्मसूत्रों में धार्मिक कृत्यों के समय गणेश पूजन का कोई संकेत नहीं मिलता।[7] स्पष्ट है कि गणेश पूजा की परम्परा कालान्तर में प्रारंभ हुई होगी। बौधायन धर्म–सूत्र[8] में देवतर्पण में विघ्न विनायक, वीर, स्थूल, वरद, हस्तिमुख, वक्रतुण्ड, एकदन्त एवं लम्बोदर का उल्लेख मिलता है। किन्तु यह अंश क्षेपक–सा लगता है।[9] बौधायन गृह

---

1. ऋग्वेद, वैदिक संशोधन मण्डल, वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 19,2.23
2. वही, 10, 112.9
3. तैत्तरीय संहिता 4,1,2,2
4. ऐतरेय ब्राह्मण, ए. वी. कीथ द्वारा अनूदित, 4.4
5. वाजसनेही संहिता, सं. वासुदेव लक्ष्मण पन्सीकर, 16,25
6. वही, 3.57
7. काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ. प्र. लखनऊ, 1962 भाग–1, पृ. 185
8. बौधायन धर्मसूत्र, संपा. आर. शर्मा शास्त्री, 2, 5. 83.90
9. काणे, पी. वी., वही. पृ. 185

सूत्र[1] व मानव गृह सूत्र[2] में विनायक चार माने गये हैं–शालंकटक, कूष्माण्डराजपुत्र, उस्कित और देवयजन। इसमें कहा गया है कि ये दुष्ट आत्मायें हैं तथा जिन्हें पकड़ लेती हैं उन्हें तरह–तरह के शारीरिक, मानसिक व आर्थिक कष्ट देती हैं। उन्हें दुःस्वप्न आते हैं तथा कृषकों की भूमि नष्ट हो जाती हैं। मानव गृहसूत्र ने इस विनायकों द्वारा उत्पन्न बाधा से मुक्ति पाने के लिये पूजन की क्रियाओं का वर्णन किया है।[3] वैजवाय गृह (अपरार्क, याज्ञवल्क्य)[4] में भी मित, सम्मित, शालकंटक एवं कूष्माण्डराजपुत्र नामक चार विनायकों का वर्णन मिलता है। इनके द्वारा भी उन्हीं बाधाओं के उत्पन्न करने की चर्चा की गयी है जैसा कि मानव गृहसूत्र में है, तथा उन दुष्ट आत्माओं को शांत करने हेतु उनके पूजन की विधि भी दी गयी है। याज्ञवल्क्य स्मृति में चारों विनायक, एक विनायक बन जाते हैं। यह संभवतः उपनिषदों के एकेश्वरवादी विचारधारा का प्रभाव रहा होगा।[5] इन दोनों संदर्भों से विनायक सम्प्रदाय के विकास की प्रथमावस्था का परिचय मिलता है। आरम्भ में विनायक दुरात्माओं के रूप में वर्णित हैं, जो भयंकरता एवं भाँति–भाँति का अवरोध खड़ा करते हैं। कालान्तर में शांति हेतु उनकी पूजा के विधान की परम्परा शुरू हुई। काणे महोदय[6] का विचार है कि इस सम्प्रदाय में रुद्र के भयंकर स्वरूपों एवं आदिवासी जातियों के धार्मिक कृत्यों का समावेश हो गया। याज्ञवल्क्य स्मृति में विनायक सम्प्रदाय के कालान्तरीय स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। विनायक को यहाँ पर गणों के स्वामी के रूप में ब्रह्मा एवं रुद्र द्वारा नियुक्त दर्शाया गया है।[7] उसे न केवल अवरोध उत्पन्न करने वाला, प्रत्युत मनुष्य के क्रिया संस्कारों में सफलता देने वाला कहा गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति[8] में विनायक के चार नाम हैं – मित, सम्मित, शालकंटक एवं कूष्माण्ड राजपुत्र। उनकी माता का नाम है

---

1. बौधायन गृहशेष सूत्र, 3.10.6
2. मानव गृहसूत्र, संपा. रामकृष्ण हर्षाजी, 2.4
3. मानव गृह सूत्र, संपा. रामकृष्ण हर्षा जी, नयी दिल्ली, II.14
4. याज्ञवल्क्य स्मृति, संपा., टी. गणपति शास्त्री, बम्बई, 1940, 271–75
5. हाज़रा, आर. सी., गणपति, वरशिप एण्ड द उपपुराणाज
6. काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, वही, पृ. 186
7. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.271
8. वही, 1.285

अम्बिका। विश्वरूप व अपरार्क[1] ने भी विनायक के चार नाम ही बताये हैं। किन्तु मिताक्षरा ने शालकंटक एवं कूष्माण्डराजपुत्र के दो–दो भागों में तोड़कर छह नाम गिनाये हैं–मित, सम्मित, शाल, कटंकट, कूष्माण्ड एवं राजपुत्र।[2] अतः यह कहा जा सकता है कि गणेश वैदिक देवों की पंक्ति में किसी देशोद्भव जाति से आये और रुद्र (शिव) के साथ जुड़ गये।[3] याज्ञवल्क्य ने विनायक की प्रसिद्ध उपाधियों जैसे–एकदन्त, गजानन, लम्बोदर आदि की चर्चा नहीं की है।

गणपति संबंधी विचार के विकास का अगला चरण महाभारत के प्रारंभिक भागों में तुलनात्मक रूप से प्राप्त होता है। वनपर्व[4] एवं अनुशासनपर्व[5] में वर्णित विनायक मानवगृह सूत्र के विनायक के समान ही हैं। महाभारत में एक स्थल पर विनायक को अमैत्रीपूर्ण, दुर्गुण, दैत्य, भूत, राक्षस व पिशाच के रूप में वर्णित किया गया है।[6] उनकी संख्या दो से अधिक बतायी गयी है।[7] आगे यह भी वर्णित है कि ये विनायक मनुष्य के कार्यों में बाधा उत्पन्न करते हैं तथा आवश्यक रीतियों से पूजा करने पर वे संतुष्ट भी हो जाते हैं।[8] महाभारत में एक स्थान पर विनायक को 'गणेश्वर' की उपाधि से प्रतिलक्षित किया है तथा यह भी उल्लिखित है कि ये गणेश्वर विनायक समस्त ब्रह्मांड को नियंत्रित करते हैं।[9] बौधायन गृहशेष सूत्र[10] में विनायक की आराधना के लिये भिन्न ढंग अपनाया है और उन्हें भूतनाथ, हरितमुख, विघ्नेश्वर कहा है एवं 'अपूप' तथा 'मोदक' की आहुतियों की चर्चा की है। स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य की अपेक्षा बौधायन मध्यकाल के धर्मशास्त्रकारों के अधिक समीप लगते हैं। इन उल्लेखों के अतिरिक्त आधुनिक स्मृतियों में गणेश की पूजा

1. याज्ञवल्क्य स्मृति पर अपरार्क की कमेन्ट्री
2. काणे, पी. वी, वही, पृ. 187
3. वही, पृ. 187
4. महाभारत, वन पर्व एवं अनुशासन पर्व
5. वही, XIII 150.25
6. वही, XII 284.131
7. वही, III 65.23., XII 284.131, XIII 150.25
8. वही, III 65.23
9. वही, XIII 65.23
10. बौधायन गृहशेष सूत्र, संपा., आर. शास्त्री, मैसूर, 1920, 3.10

परम्परा का उल्लेख मिलता है जहाँ उन्हें मातृकाओं के साथ पूजा जाता है। गोमिल स्मृति के अनुसार सभी कृत्यों के आरंभ में गणाधिप के साथ 'मातृका' की पूजा होनी चाहिये। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईसा की पाँचवीं एवं छठीं शताब्दी के उपरान्त ही गणेश एवं उनकी पूजा से सम्बन्धित सभी प्रसिद्ध विशिष्टताएँ स्पष्ट हुई होंगी।[1]

गणेश से संदर्भित मुद्राशास्त्रीय एवं अभिलेखीय साक्ष्य

कुषाण शासक हुविष्क (111–138 ई.) के काल के दो सिक्के प्राप्त हुये हैं, जिन पर ब्राह्मी में 'गणेश' शब्द उत्कीर्ण है। उसमें एक आकृति को धनुष की प्रत्यंचा खींचे हुये अंकित किया गया है। इस आकृति को शिव से समीकृत किया गया है। इन सिक्कों के माध्यम से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'गणेश' शब्द कुषाण काल में गजमुखी देव के लिये नहीं प्रयुक्त होता था।[2] गुप्तकालीन सिक्कों[3] में लक्ष्मी, विष्णु, वरुण, दुर्गा एवं कुमार या कार्तिकेय का चित्रांकन तो प्राप्त होता है किन्तु गणेश का अंकन अभी तक प्राप्त सिक्कों में कही भी उपलब्ध नहीं हैं।

नागमणिका (दूसरी–पहली शताब्दी ई. पू.) के नानाघाट शिलालेखों में विभिन्न देवों का उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे धम्र, इन्द्र, संकर्षण वासुदेव, सूर्य, चन्द्र, चारों लोकपाल, यम, कुबेर, वरुण और वायु। किन्तु गणेश का उल्लेख यहाँ नहीं है।[4] वस्तुतः 300 ई. तक के ब्राह्मी शिलालेखों में गणेश या विनायक का कोई संदर्भ नहीं मिलता है। प्रारंभिक गुप्त शासकों के[5] अभिलेखों में गणेश, गजपति या विनायक का कोई उल्लेख नहीं है। विष्णु कुन्डिन शासक माधववर्मन (छठीं शताब्दी) के वेलुपुरु के अभिलेख में दन्तिमुख–स्वामी (गणेश) की प्रतिमा स्थापना एवं विनायक पूजा का उल्लेख प्राप्त होता है। यह विनायक का सर्वप्रथम अभिलेखीय साक्ष्य है। भास्करवर्मन के सिलहर (बांग्लादेश)

---

1. काणे, पी. वी., वही, पृ. 186
2. गैटी, एस. के., अर्ली इण्डियन क्वाइन्स एण्ड करेन्सी सिस्टम, नई दिल्ली 1970, पृ. 9–10
3. बैनर्जी, जे. एन., डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी, कलकत्ता, 1956, पृ. 125
4. युवराज कृष्णन, गणेश; अनरिवेलिंग एन एनिग्मा, मोतीलाल बनारसीदास 1919, पृ. 105
5. प्रारंभिक गुप्त अभिलेखों में 'गण' को 'समघ' या एक कबीलायी जनजाति के संदर्भ में प्रयोग किया गया है।

के आठवीं शताब्दी के अभिलेख में गणेश का अप्रत्यक्ष संदर्भ प्राप्त होता है। भास्करवर्मन[1] के एक अन्य ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण लेख में गणेश का उल्लेख हुआ है जिसमें उन्हें अगणित गुणों से युक्त, कलियुग को समाप्त करने के लिये जन्म लेने वाले तथा गजमुखी स्वरूप का कहा गया है। सकराई (जयपुर) के 822 ई. के अभिलेख में गणेश का उल्लेख प्राप्त होता है। राजस्थान में जोधपुर के पारा घटियाले[2] के स्तंभ पर गणेश की चार प्रतिमायें हैं, जो चारों दिशाओं में अंकित हैं। इस अभिलेख का प्रारंभ विनायक के सम्बोधन से किया गया है। इसकी तिथि 862 ई. मानी गयी है।

अनेक महत्वपूर्ण विदेशी यात्रियों के विवरणों में गणेश का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। 7वीं शताब्दी में भारत आने वाले त्सांग एवं इत्सिंग दोनों के विवरण में गणेश या गजपति की चर्चा नहीं हुयी है। किंतु 10–11वीं शताब्दी में भारत आये विदेशी यात्री अल्बरुनी[3] ने विनायक का उल्लेख किया है। अल्बरुनी के अनुसार मयूर पर सवारी करने वाले स्कंद के पिता महादेव (शिव) है, जबकि मनुष्य के शरीर पर गजशीर्ष धारण करने वाले विनायक, ब्रह्मा के पुत्र हैं। विनायक को अल्बरुनी ने सप्तमातृकाओं से भी सम्बद्ध कहा है।

मूर्तिकला के आधार पर गणेश की प्राचीनता

गणेश का कला के क्षेत्र में जो प्रारंभिक स्वरूप प्राप्त होता है वह द्विभुजी गणेश का है। उत्तर भारत में गणेश की उपस्थिति तीसरी से पाँचवीं शताब्दी के बीच शुरू हो गयी थी जबकि दक्षिण भारत में चौथी शताब्दी में यत्र–तत्र तथा क्रमबद्ध रूप में उत्तर पल्लव काल से मूर्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि 7वीं शताब्दी के अंत से 8वीं शताब्दी के प्रारंभ तक गणेश की प्रतिमायें दक्षिण भारत में प्राप्त होने लगी थी। द्विभुजी गणेश का स्वरूप, उनके ग्राम देवता व स्थानीय पूज्य देव होने की परम्परा को प्रतिलक्षित करता है जबकि 5वीं शताब्दी के पश्चात् वे बहुभुजी स्वरूप में प्रदर्शित होने लगे,

1. एपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड XII, 1913–14, भास्कर वर्मन का निधानपुर ताम्रलेख–प्रो. पी. भट्टाचार्य
2. इपिग्राफिका इंडिका, खण्ड IX, पृ. 227
3. अल्वरुनीज़ इंडिया, अनु. ई. श्चाउ, पृ. 118–120

जो उनके पौराणिक देव स्वरूप को भी परिलक्षित करता है।

गांधार कला शैली में शिव, पार्वती, स्कंद और षष्टी (Sasti) का अंकन तो हुआ है, किन्तु गणेश पूर्णतया अनुपस्थित हैं।[1] भारत के बाहर अफगानिस्तान में सर्वप्रथम गणेश की द्विभुजी मूर्ति प्राप्त हुयी है जो काबुल के पास गर्डेज में स्थित थी। उसका काल 4–5वीं शताब्दी माना गया है।

प्रारंभ में गणेश को मंदिर मूर्तिकला में उच्च स्थान नहीं प्राप्त था।[2] वस्तुतः वह महत्वपूर्ण नहीं थे। उन्हें शिव के अनुचर के रूप में, नवग्रह के बाद, सप्तमातृकाओं के सहचर या शिव की पौराणिक कथाओं के साथ दर्शाया गया है। गणेश की मूर्ति के गर्भग्रह में स्थापित होने तक का पूरा विकास–क्रम मंदिरों के स्थापत्य में दिखायी देता है। प्रारंभ में गणेश मंदिरों के मुख्यार पर, फिर मुख्य मण्डप, महामण्डप, अर्द्धमण्डप, रथिका पर तत्पश्चात् मंदिरों के सहस्तम्भों में पार्षद देवों के साथ दर्शाये गये। बाद में गणेश मुख्य गर्भगृह पार्षद देवताओं के साथ मंदिर में स्थापित हुये। यह उनके विकास–क्रम का दूसरा चरण था, जिसका काल 5वीं–10वीं शताब्दी तक माना गया है।[3]

मूर्तियों के विकास के इस चरण में वे तांत्रिक देव के रूप में उभर कर आये। उन्हें उनकी शक्तियों, सिद्धि व बुद्धि के साथ, दर्शाया गया है। उत्तर भारत में तांत्रिक गणेश का सर्वप्रथम दर्शन झूमरा[4] से प्राप्त मूर्ति में होता है जिसमें उन्हें शक्ति के साथ दिखाया गया है। यह गाणपत्य सम्प्रदाय के प्रारंभिक चरण को रेखांकित करता है।[5]

गणेश को उनके वाहन के साथ प्रारंभ में नहीं दर्शाया गया है। 10वीं–11वीं शताब्दी के आस–पास उन्हें मूषिका या चूहे के वाहन के साथ दर्शाया गया। यह गणेश

---

1. कृष्णन युवराज, गणेश : अनरेवलिंग एन एनिग्मा, मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1919, पृ. 1.05–6
2. कुमार गुप्त के 414 ई. के भिलसा (Bilsad) प्रस्तर अभिलेख में स्वामी महासेन (स्कंद) के मंदिर का उल्लेख है, किन्तु गणेश का कोई उल्लेख नहीं है।
3. कृष्णन युवराज, गणेश : अनरिवलिंग एन एनिग्मा, मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1919, पृ. 106
4. वही, पृ. 74–78
5. वही, पृ. 48–50

के विकास का अगला चरण प्रदर्शित करता है। इस चरण में वे विशिष्ट वाहन के साथ प्रदर्शित हुये, जिस कारण उन्हें ब्राह्मण देवों के वर्ग में रखा गया। स्पष्ट है कि गणेश ने पौराणिक देवमण्डल के स्थान को धीरे–धीरे प्राप्त किया। 8वीं से 12वीं शताब्दी तक का विकास चरण उन्हें गर्भगृह के मुख्य देव तक पहुँचाता है। यह सिद्ध करता है कि इस काल तक गणेश समाज में मुख्यदेव के रूप में स्थापित हो चुके थे।

वेदों में गणेश

भारतीय विचारकों, इतिहासकारों ने अनेक तर्क–वितर्क के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि गणेश वैदिक देवता नहीं हैं। एलिस गेटी के अनुसार तैत्तरीय आरण्यक में 'दंतिन' शब्द आराधना गजमुखी देव के लिये प्रयुक्त हुआ है।[1] कुछ विद्वानों का कथन है कि रुद्र, शिव और गणेश मूलतः एक ही हैं। लुइस रिनॉव विद्वान ने यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता में दिये गये साक्ष्यों से गणेश की वैदिक उत्पत्ति माना है। हेराज[2] के अनुसार ऋग्वेद में सर्वप्रथम गणपति शब्द वृहस्पति के लिये प्रयुक्त हुआ है जो कि गणों के ईश हैं। उनका यह भी मानना है कि दंतिन के संदर्भ में तैत्तरीय आरण्यक में प्रयुक्त शब्द गणपति के लिये है। कोर्टराइट के अनुसार गणपति दंतिन और वक्रतुण्ड के वैदिक और पौराणिक संदर्भ ऐतिहासिक उत्पत्ति की दृष्टि से उपयुक्त साक्ष्य नहीं हैं। जबकि पद के साहित्य गणेश की उत्पत्ति का सूत्र इन्हीं संदर्भों से जोड़ते है। यह महत्वपूर्ण है कि गणेश पूजन की उत्तरकालीन परम्परा गणेश की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये उन्हें वैदिक साहित्य से जोड़ती है तथा वैदिक देवसमूह में प्रतिष्ठित करती है।

(i) ऋग्वेद में गणेश

ऋग्वेद II.23.1, यजुर्वेद, कृष्ण यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता 23.143 एवं काठक संहिता 10.12.44 में 'गणपति'' शब्द का उल्लेख हुआ है।

ऋग्वेद[3] तथा अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित है कि गणपति सेवकों के देव,

---

1. एलिस गैटी, गणेश, नई दिल्ली, 1971 (द्वि. सं.) पृ. 2–3
2. एच हेराज़, द प्राब्लम ऑफ गणपति, दिल्ली 1972, पृ. 27–28
3. ऋग्वेद 11.23.1

बुद्धिमानों में बुद्धिमान, वृहस्पति एवं ज्ञानी ब्राह्मणों में प्रमुख है। ऋग्वेद में इस मंत्र के द्वारा ब्रह्मणस्पति को सम्बोधित किया गया है। काठक संहिता में इसके द्वारा अग्नि एवं विष्णु को सम्बोधित किया गया है। तैत्तिरीय संहिता[1] में इस मंत्र का उच्चारण विशिष्ट सम्मान प्रदान करने के लिये किया गया है।

इसमें से किसी भी मंत्र का प्रयोग शास्त्रीय गणेश, गणपति या विनायक को सम्बोधित करने के लिये नहीं हुआ है।

ऐतरेय ब्राह्मण[2] में वर्णित "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे" की व्याख्या ब्रह्मणस्पति, जो कि वृहस्पति के रूप में पहचाने जाते हैं, को सम्बोधित करते हुये की गयी है।[3] शतपथ ब्राह्मण में गणपति शब्द 'अश्व' के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो देवताओं को स्वर्ग ले जाता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि किसी भी मध्यकालीन स्मृतिकार ने इस मंत्रों को शास्त्रीय गणपति या गणेश से सन्दर्भित करते हुये प्रस्तुत नहीं किया है।

(ii) यजुर्वेद में गणेश

मैत्रायणी संहिता[4] में एक मंत्र है जो स्पष्ट रूप से शास्त्रीय गणपति को सन्दर्भित करता है। इस मंत्र में 11 गायत्री हैं जो विभिन्न देवताओं को सम्बोधित करती हैं। चौथी गायत्री में उल्लिखित मंत्र में गणेश का नाम है। हस्तीमुख (गज–मुखी) जो क्ला़सिकल गणेश, गज के सिर वाले देव, की ओर इंगित करता है।

यह मंत्र केवल पाण्डुलिपि में ही मिलता है एवं कृष्ण यजुर्वेद के किसी अन्य रूपान्तरण जैसे तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता एवं कपिस्ठल संहिता में नहीं प्राप्त होता। यह शुक्ल यजुर्वेद के रूपान्तरण (कण्व मध्यान्दिन) में भी नहीं है। यह भी महत्वपूर्ण है कि पाण्डुलिपि में दन्ति गायत्री का एवं आनंद आश्रम के रूपान्तरण में गणेश गायत्री का गजमुखी ईश्वर के रूप में वर्णन है।

---

1. तैत्तिरीय संहिता, 2.3 143 एवं काठक संहिता 10.12.44
2. ऋग्वेद, II.23.1
3. शतपथ ब्राह्मण
4. मैत्रायणी संहिता, 2.9. 13–13

(iii) अथर्ववेद में गणेश

अथर्ववेद[1] में अनेक मंत्र हैं जो विभिन्न आसुरीय एवं ईश्वरीय प्रवृत्ति के देवों को वर्णित करते हैं। ये हैं मित्र, विष्णु, प्रजापति, इन्द्र, वृहस्पति, आर्यमन, वरूण, विवासवेन्त, उत्पतास, उत्कास, राहु, धूमकेतु, रुद्र, वासुस, आदिव्यास इत्यादि नामों से सम्बोधित किये जाते हैं। लेकिन गणेश, गणपति या विनायक को वर्णित नहीं किया गया है।

गणेश एवं वैदिक रीति–रिवाज

यह रेखांकित करना महत्वपूर्ण हो सकता है कि गणेश, विनायक या गणपति को वैदिक रीति–रिवाजों में कोई स्थान नहीं दिया गया है।

शान्ति क्रिया में, विशेष रूप से असुर को परास्त करने के लिये, ईश्वर की उपासना की जाती है। इन वैदिक शान्ति क्रियाओं में गणेश, विनायक या गणपति का कोई स्थान नहीं है। यह क्रियाएँ विभिन्न वैदिक देवों जैसे इन्द्र, ब्रह्म, रुद्र, वासुस, आदित्य, सोम, वृहस्पति, वरुण, विष्णु, राहु, केतु आदि को सम्बोधित करके की जाती थीं।[2]

वैदिककालीन रीति–रिवाजों एवं शान्ति क्रियाओं में गणेश या गणपति की अनपुस्थिति इस बात की द्योतक है या यह साक्ष्य प्रस्तुत करती है कि गणेश वैदिक देव नहीं हैं। मैत्रायणी संहिता में वर्णित 'गणेश गायत्रियाँ' मात्र प्रक्षिप्त अंतर्वेशित अंश हैं।

पुराणों में गणेश

पुराणों में गणेश की उत्पत्ति के संबंध में अनिर्णय की स्थिति है। ब्राह्मण पुराण[3] के अनुसार किसी भी संस्कार की पूर्ति के लिये गजानन का पूजन किया जाना आवश्यक होता है। वे किसी कार्य के पूर्ण होने या इच्छाओं की पूर्ति के लिये, जैसे प्रत्यय एवं जन्म के संस्कार, यात्रा, वाणिज्य, गुरु एवं देवों के पूजन के संस्कार एवं संकट में पूजे जाते हैं। यह कहा गया है कि गणेश का पूजन कष्ट के समय में, कर्मकाण्डों की सिद्धि में सफलता

---

1. अथर्ववेद, 19.9.11, तैत्तिरीय संहिता III.4.10; VI 1.7 7–8, ऐतरेय ब्राह्मण 3.2; 13.10.10; 32.4; 37.2; संख्यानां ब्रह्मन् 3.3 तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.1.8.2
2. पी. वी. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पूना, खण्ड V, पृ. 719–20
3. ब्रह्माण्ड पुराण, 2.3.42

दिलाता है और इसमें भी सन्देह नहीं है कि गणेश सभी के कष्टों को दूर करने व सफलता दिलाने में सहायक हैं।

मत्स्य पुराण[1] कहता है कि गजमुखी विनायक सम्पन्नतादायक व बुद्धिदायक हैं। वह सुझाव देता है कि महादान का प्रारम्भ विष्णु, शिव व विनायक के पूजन से करना चाहिये। इस पुराण में उल्लेख है कि मंदिर में गणेश की मूर्ति की स्थापना शुभ मानी जाती है। इसमें शिव की बायीं ओर निर्मित पार्वती के पास गणेश की मूर्ति बनाने का निर्देश दिया गया है।[2]

लिंग पुराण[3] में गजमुखी विनायक को दैत्यों के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने के लिये जन्मित बताया जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण[4] में गणेश को शिव एवं पार्वती के पुत्र के रूप में एवं विघ्नविनाशक के रूप में सूर्य, विष्णु, शिव, अग्नि तथा दुर्गा से पहले पूजनीय कहा गया है।

वाराह पुराण[5] यह बताता है कि गजमुखी विनायक बुरे कर्म में बाधा उत्पन्न करने के लिये जन्मित हैं। प्रस्तुत पुराण यह भी उद्घोषणा करते हैं कि विनायक को आराधना में प्राथमिकता मिलनी चाहिये अन्यथा वह कार्य की सफलता को नष्ट कर देते हैं।[6]

स्कन्द पुराण[7] में बताया गया है कि गणपति मनुष्य को मोक्ष के मार्ग से विमुख करता है। इसका अर्थ यह माना जा सकता है कि गणेश मनुष्य प्रजाति को इस लोक में ही रखता है, उसको मुक्ति के मार्ग पर नहीं जाने देता। यह स्पष्ट रूप से स्कन्द पुराण 7.1.37 में वर्णित किया गया है, जहाँ यह बताया जाता है कि गणेश की उत्पत्ति इसीलिये

---

1. मत्स्य पुराण, 260.62.66, आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1907, अनु. आर. पी. त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
2. वही, 769.56,18
3. लिंग पुराण, 103.75–81 विब्लोपोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1885
4. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण 3.7.9 जय विद्यासागर, कलकत्ता, 1880
5. वाराह पुराण 23.3–4 संपा. पी. एच. शास्त्री, कलकत्ता, 1893
6. वही, 23.30
7. स्कन्द पुराण 6.131.151, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1910

की गयी है कि वह मनुष्य प्रजाति को दैवलोक में प्रवेश करने से रोकें। दैवलोक मृत्युलोक के जीवों से अत्यधिक भर गया है। गणेश विशेष रूप से स्त्रियों, म्लेच्छ, शूद्र एवं पापियों को रोकें जो सोमेश्वर या सोमनाथ की कृपा से स्वर्ग में प्रवेश पा लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप यज्ञ, तप, ज्ञान, स्वाध्याय एवं व्रतों को प्रमुखता नहीं मिलती। शिव भी कुछ नहीं कर सकते क्योंकि वह भी अपने भक्तों को स्वर्ग में प्रवेश से नहीं रोक सकते। पार्वती ने अपने शरीर को रगड़ कर एक गजेन्द्र का निर्माण किया और घोषणा की कि यह सभी के लिये बाधाओं का निर्माण करेगा और उनको महान मोह से भर देगा—मोहनामाहिताविस्ता।

गौतम महात्म्य, जो ब्रह्म पुराण[1] का उत्तरी योग है, के अनुसार विनायक संस्कारों के सफल होने में बाधा उत्पन्न करते हैं। सफलता के लिये उनका पूजन आवश्यक है।

अग्नि पुराण[2] में विनायक को एक दुष्ट आत्मा के रूप में वर्णित किया गया है जिसे मनुष्य के कार्य में बाधा डालने के लिये उत्पन्न किया गया है। अग्नि पुराण[3] ने निर्देशित किया है कि सफलता प्राप्त करने के लिये गणपति का पूजन अत्यंत आवश्यक है।

नारद पुराण[4] के अनुसार, विनायक को गणों के नेता के रूप में रुद्र, ब्रह्मा एवं शिव द्वारा नियुक्त किया गया है। शिव पुराण[5] के अनुसार गणेश का उचित प्रकार से किया गया पूजन सभी तरह की सफलता दिलाता है तथा बाधाओं को दूर भी करता है।

पद्म पुराण[6] ने गणेश को सर्वसिद्धिकारक के रूप में वर्णित किया है अर्थात् वह सभी सफलतायें प्राप्त कराता है, सभी विघ्नों का विनाश करने वाला है।

---

1. ब्रह्मपुराण, 41.1.14
2. अग्निपुराण 266.1.6, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रन्थावली गुणांक 41 पूना, 1900 अनूदित एम. एन. दत्त, कलकत्ता, 1901
3. अग्निपुराण, 318.7–14 अनूदित एम. एन. दत्त, कलकत्ता, 1901
4. नारदपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1905
5. शिवपुराण, 24.18.–10.12 पंचानन वर्करत्न बंवासी प्रेस, कलकत्ता, 1314
6. पद्मपुराण 1.66 संपा. एम. सी. आप्टे, आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना

बौद्ध धर्म में गणेश

बौद्ध धर्म में छठीं शताब्दी तक गणेश की पूजा परम्परा स्वीकृत हो चुकी थी। पश्चिमी घाट के बौद्ध गुफा स्थापत्य में गणेश के अंकन के अनेक साक्ष्य प्राप्त होते हैं।[1] यह उल्लेखनीय है कि चीन में कुंग सीयेन नामक स्थल पर पर स्थित बौद्ध मंदिर में, जिसका काल 531 ई. माना जाता है, गणपति के चिंतामणि स्वरूप का अंकन प्राप्त होता है।

चीनी बौद्ध धर्म की परम्परा में गणेश का संबंध नाग, हस्ति, वायु आदि देवताओं के साथ प्राप्त होता है।[2] बौद्ध परंपरा में गणपति से सम्बन्धित साहित्यिक सन्दर्भ आठवीं शताब्दी के बाद मिलने प्रारंभ हो जाते हैं। दुर्भाग्यवश नालंदा, विक्रमशिला आदि में सुरक्षित बौद्ध पाण्डुलिपियाँ मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा नष्ट कर दी गयी। तिब्बत, नेपाल व चीन में जो बौद्ध साहित्य सुरक्षित बचा है उनसे बौद्ध परम्परा में गणपति के महत्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। तिब्बती परम्परा में कम से कम तीरा ग्रन्थ निर्विवाद रूप से गाणपत्य ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें से पन्द्रह का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में विल्किसन द्वारा किया जा चुका है।

यद्यपि तिब्बती परम्परा के इन गाणपत्य ग्रन्थों का काल निर्धारण दुष्कर कार्य है तथापि इनके मूल रचयिता या अनुवादकों के नाम के आधार पर इन्हें 8वीं–11वीं शताब्दी के बीच रखा जाता है। इनमें अधिकांश नाम भारत के प्रसिद्ध बौद्ध आचार्यों के हैं, जैसे अमोघवज्र (8वीं शताब्दी), दीपंकर श्रीज्ञान (11वीं शताब्दी), नालन्दा के नागार्जुन (7वीं–8वीं शताब्दी), कोशल के वैरोचन तथा गया के गयाधन (दोनों 11वीं शताब्दी) आदि। तिब्बती परम्परा के इन ग्रन्थों में नालन्दा और विक्रमशिला के महाविहारों में प्रचलित धार्मिक आस्थाओं व परम्पराओं पर प्रकाश पड़ता है।

यह उल्लेखनीय है कि इनमें से कुछ बौद्ध गाणपत्य ग्रन्थों में गणपति की पूजा

---

1. ब्राउन, राबर्ट एल, गणेश इन साउथईस्ट एशियन आर्ट, स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क प्रेस एलबॉनी, 1991, भूमिका, पृ. 8
2. गेटी एलिस, गणेश, द्वितीय संस्करण, मनोहरलाल, नयी दिल्ली, 1971 पृ. 68–69

से पहले अविलोकितेश्वर, वज्रडाकिनी, वज्रपाणि या सभी बुद्ध व बोधिसत्वों की पूजा परम्परा के प्रभाव प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत अन्य ग्रन्थों में केवल गणपति की प्रतिमा और उनके मण्डल की रचना के विषय में विस्तृत विवरण मिलता है। इसी सन्दर्भ में गणेश की पूजा विधि, मंत्र, अनुष्ठान व उनकी शक्तियों पर प्रकाश डाला गया है। बौद्ध परम्परा में भी गणपति की पूजा विघ्नहर्ता तथा मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले देवता के रूप में प्राप्त होती है। गणपति को सिद्धि, बुद्धि और करुणा का देवता बताया गया है। तिब्बती बौद्ध ग्रंथ, बौद्ध गणपति तथा ब्राह्मण परम्परा के विनाशकारी देवता विनायक के बीच भेद स्थापित करते हैं।[1] मानवगृह सूत्र में विनायक की शांति के लिये जो मंत्र या अनुष्ठान प्राप्त होते हैं,[2] उन्हीं में कुछ परिवर्तन के साथ उनका उल्लेख 'विनायक ग्रह निर्मोचन' नामक तिब्बती बौद्ध ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

बौद्धों की तांत्रिक परम्परा से जुड़े गणपति के व्यक्तित्व के दो स्वरूप दिखायी देते हैं–रौद्र स्वरूप वाले देव और शांत व करुण व्यक्तित्व वाले देव। गणपति के रौद्र स्वरूप के लक्षण भैरव शिव के अनुरूप बताये गये हैं।[3] उन्हें मुण्डमाल धारण किये हुये, वज्र लिये हुये, रक्त या नील वर्ण का बताया गया है। शांत स्वरूप वाले गणेश के व्यक्तित्व में बोधिसत्व अविलोकितेश्वर का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता हैं। उन्हें परमदयालु या महाकरुणा का देवता कहा गया है। बोधिसत्व की कल्पना बौद्ध परम्परा में एक ऐसे देवता के रूप में प्राप्त होती है जो अपनी दया व करुणा से मानव की समस्त आकांक्षाओं को परिपूर्ण करते हैं। बौद्ध सन्दर्भ में प्राप्त होने वाले गणपति के ऊपर सभी प्रकृति का आरोपण किया गया है और उन्हें अविलोकितेश्वर का ही प्रगट स्वरूप बताया गया है। एक मंत्र में गणपति को श्वेतवर्णी तथा चतुर्भुजी बताया गया है। इनके सिर पर लक्षण के रूप में अमिताभ की मूर्ति होने का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है। गणपति के इस संयुक्त स्वरूप में भैरव शिव और बोधिसत्व अविलोकितेश्वर दोनों के व्यक्तित्व का समन्वय है। इस परम्परा का प्रचार जापान में भी बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में हुआ तथा जापानी परम्परा में इसी प्रकार के संयुक्त स्वरूप

---

1. थापन, अनिता रैना, वही, पृ. 283
2. मानव गृह सूत्र, II–14
3. थापन, अनिता रैना, वही, पृ. 183

वाले गणपति को 'कांगीटेन' (Kangi-Ten) कहा गया है।[1]

विद्वानों के अनुसार गणपति के इस प्रकार के स्वरूप में बौद्ध तथा ब्राह्मण–शैव परम्पराओं के समन्वय, सामंजस्य व सह अस्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। बहुसंख्यक बौद्ध तंत्र साहित्य में बुद्ध व शिव का एकीकरण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आगे चलकर गणपति का सामंजस्य बुद्ध व बोधिसत्व के साथ किया जाने लगा। बहुसंख्यक साक्ष्य से सूचना मिलती है कि गणेश को शुद्ध बौद्ध देवता के रूप में मान्यता प्राप्त थी। गैटी वर्मा से प्राप्त अनेक गणपति प्रतिमाओं का उल्लेख किया है जिनमें उनकी मुद्रायें व लक्षण बुद्ध मूर्तियों के समान हैं।[2]

बौद्ध परम्परा का गाणपत्य साहित्य पालराजवंश के काल से सम्बन्धित है जो कि भारत में बौद्ध धर्म का अंतिम रचनात्मक काल माना जाता है। इस काल में अनेक सामाजिक परिवर्तन हुये। भक्ति तथा तंत्र के प्रभाव से बौद्ध व ब्राह्मण धर्म के सम्प्रदायों ने प्रचलित लोकधर्मी विश्वासों व परम्पराओं को स्वयं में समायोजित किया।[3] गणपति समन्वय के सर्वोत्तम प्रतीक दिखायी देते हैं। गणपति में ब्राह्मण, बौद्ध तथा प्रचलित विश्वास इन तीनों धाराओं का बड़ा सहज समन्वय हुआ। इन्हें धार्मिक सामंजस्य का ऐसा प्रतीक कहा जा सकता है जिसने शास्त्रीय परम्परा और लोक परम्परा के मध्य सेतु का कार्य किया। बौद्ध साक्ष्यों से भी यह स्पष्ट होता है कि बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों में गणेश को प्रधान देवता बनाकर तत्कालीन धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये गाणपत्य सम्प्रदाय को प्रतिष्ठा मिली।

पुराण

प्राचीन भारतीय संस्कृति के स्वरूप, इतिहास व उसके विकास–क्रम को जानने में धार्मिक–साहित्यिक ग्रन्थों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इनमें भी पुराणों का विशेष महत्व है। इनमें विषय को सहज, सरल, कथापरक व आख्यान शैली में अभिव्यक्त किया

---

1. थापन, अनिता रैना, वही, पृ. 184
2. गेटी एलिस, गणेश, पृ. 52–53
3. थापन, अनिता रैना, वही, पृ. 185

गया है। उच्चकोटि के धर्म व दर्शनमूलक तत्वों को भी सहज व सुग्राह्य शैली में अभिव्यक्ति मिली है। जिस काल विशेष में पुराणों की रचना हुई, उस काल की संस्कृति, धर्म, आदर्श, मान्यतायें, समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति आदि जीवन के सभी पक्षों को समग्र दृष्टिकोण से समाहित किया गया। इन्हीं विशिष्टताओं के कारण पुराण जनसामान्य में लोकप्रिय हुये। लोकप्रियता के कारण ही उनके माध्यम से सर्वोत्कृष्ट मूल्यों व आदर्शों को लोगों तक पहुँचाने का प्रयास किया गया। यदि हमें भारतीय संस्कृति के विविध पहलुओं को, उसकी समग्रता व व्यापकता के साथ जानना है, तो पुराण से ज्यादा सहयोगी अवयव कोई अन्य नहीं हो सकता।[1]

'पुराण' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक बार हुआ है। यहाँ उसका अर्थ है 'प्राचीनता' या 'पूर्वकाल में होने वाला'। वायु पुराण के अनुसार[2] –

यस्मात् पुरा हवनतीयं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्वते।।

'पुरा अनति', अर्थात् प्राचीन काल में जो जीवित था। पुराणों की परिभाषा पद्म पुराण[3] में इससे थोड़ी भिन्न दी गयी है। इसके अनुसार, जो प्राचीनता की अर्थात् परम्परा की कामना करता है, वह पुराण कहलाता है। ब्रह्माण्ड पुराण[4] की इससे भिन्न एक तृतीय उत्पत्ति है – 'पुरा एतत् अभूत्' अर्थात् 'प्राचीन काल में ऐसा हुआ।' इन समग्र व्युत्पत्तियों की मीमांसा करने से स्पष्ट है कि 'पुराण' का वर्ण्य विषय प्राचीनकाल से सम्बद्ध है।[5]

पुराण, संकलित ग्रन्थ हैं तथा इनके संकलनकर्ताओं को, इनकी संरचना के निमित्त एक विशद तथा पूर्व पौराणिक, विशेषतः वैदिक साहित्य से भिन्न, शैली अपनानी पड़ी थी।[6] ''इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'' के रूप में जो पौराणिक शैली प्रचलित हुई, उसके प्राथमिक प्रयास के परिणाम में अविकसित वैदिक आख्यानों तथा इतिवृत्तों को

---

1. ऋग्वेद, 3.54.9, 3.58.6, 10.130.6
2. वायु पुराण, 1.203
3. पद्म पुराण, 5.2.53
4. ब्रह्माण्ड पुराण, 1.1.173
5. उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, चौखम्बा, वाराणसी, 1987, पृ. 3
6. राय, एस. एन., पौराणिक धर्म एवं समाज, पंचनद, नया कटरा, 1968, पृ. 3

संकलित रूप देने की चेष्टा की गई।[1] पुराणों की यह विशिष्टता रही कि आख्यानों को पौराणिक रूप प्रदान करते समय, इनके अतीत और मौलिक तत्वों को ग्रहण करने के साथ–साथ नवोदित प्रवृत्तियों और नवीन परिस्थितियों के अनुकूल संशोधन और परिवर्द्धन लाने का प्रयास भी किया गया। पौराणिक आख्यानों में दो बातें मुख्यतः दिखाई देती हैं। एक तो इन्हें परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल तथा सामान्य जनवर्ग की प्रवृत्तियों के अनुकूल आकार देना। दूसरा, वैदिक उक्ति को विस्तार देना तथा उसे जनवर्ग में प्रचलित करना। वैदिक वाङ्मय सभी के लिये सुगम नहीं था, अतएव वेदोक्ति को आख्यान के माध्यम से प्रस्तुत करने के पीछे अभिप्राय था–वेद से अपरिचित लोक–समुदाय के ज्ञान को बढ़ाना।

पुराण संरचना की जो विशिष्ट शैली प्रारंभ में अपनायी गई, उसका मूलभूत लक्ष्य था आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्प जैसे विषयों को संहत रूप प्रदान करना। ये विषय विकसित अथवा अर्द्धविकसित रूप में अंशतः वैदिक वाङ्मय में, अधिकतर मौखिक रूप में, विकीर्ण स्थिति में पड़े हुये थे। पौराणिकों ने लेखक, रचयिता और कवि की दृष्टि से कम, संग्रहीता और संकलनकर्ता की दृष्टि से अधिक, व्यवस्थित रूप देना चाहा। इसी संग्रहीत, संकलित और व्यवस्थित पद्धति का परिचय प्राथमिक पुराणों के एक श्लोक द्वारा प्राप्त होता है।[2]

वेदों तथा पुराणों में ऐसे आख्यान उपलब्ध होते हैं जिनके विवरण में या तो समरूपता है या जिन्हें पहले के आधार पर दूसरे के अनुवर्ती विकास का साक्ष्य प्राप्त होता है।[3] परन्तु पौराणिक वाङ्मय का यथार्थ स्वरूप तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी से विकास क्रम प्राप्त करता है।[4] पुराण भारतीय परम्परा के पोषक हैं तथापि समय–समय पर परिष्करण

---

1. वही, पृ. 3
2. विष्णु पुराण, 3 6 16; वायु पुराण, 60.21; ब्रह्माण्ड पुराण, 2.34.21
3. विण्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 1, पृ. 518
4. हाजरा, आर. सी. पौराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ. 8–17
वायु पुराण तृतीय शताब्दी, विष्णु पुराण तृतीय–चतुर्थ शताब्दी, मार्कण्डेय पुराण तृतीय–चतुर्थ शताब्दी में संरचित हुये।

एवं संवर्द्धन प्रक्रिया द्वारा प्रक्षिप्तांशों के माध्यम से नव्य उपकरणों को समाविष्ट करके उन्हें समृद्ध बनाया गया है। पुरुरवा और उर्वशी का पौराणिक आख्यान इस तथ्य की पुष्टि करता है। इस प्रकार पुराणों का रचना काल तृतीय–चतुर्थ शताब्दी से लेकर चौदहवीं–पन्द्रहवीं शताब्दी तक का माना जा सकता है।[1] पुराणों में आचार्यों के वर्णन से लेकर वर्णाश्रम, ब्राह्मणधर्म, श्राद्ध, व्रत, सांख्य, योग, प्रकृति, दर्शन, राजाओं की वंशावली आदि सभी कुछ वर्णित है। दर्शन और भक्ति इसका मुख्य विषय है।

पुराण और इतिहास का पार्थक्य

प्राचीन काल में इतिहास तथा पुराण की विभाजन रेखा बड़ी धूमिल थी। धीरे–धीरे आगे चलकर दोनों अभिधानों का वैशिष्ट्य निश्चित कर दिया गया।[2] कौटिल्य ने जिसे पुराण के साथ संयुक्त कर इतिवृत्त कहा है,[3] वह विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित 'इतिहास' शब्द का पर्याय प्रतीक होता है। मनुस्मृति में इतिहास, पुराण और आख्यान का अलग–अलग उल्लेख है।[4] जबकि महाभारत स्वयं को 'इतिहास' ही नहीं बल्कि 'इतिहासोत्तम'[5] बताता है। वायु पुराण पुराणों के अंतर्गत होते हुये भी अपने को 'पुरातन इतिहास' कहता है।[6]

इमं यो ब्राह्मणो विद्वानितिहासं पुरातनम्।
श्रृणुयाद् श्रावयेद्वापि तथा ऽध्याप्रयेऽपि च।।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च सम्मतम्।
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिना।।

– यही श्लोक ब्रह्माण्ड पुराण 4.4.47, 50 में भी उपलब्ध है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन युग में पुराण का इतिहास

---

1. पाण्डेय, सी. डी., साम्ब पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद, 1986, पृ. 2
2. उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी 1987, पृ. 6
3. अर्थशास्त्र, 5. 13–14
4. मनुस्मृति
5. महाभारत, आदि पर्व, 1. 17
6. वायु पुराण, 103. 48, 51, कलकत्ता, 18801

तथा आख्यान से पार्थक्य और वैशिष्ट्य माना जाता था परन्तु जैसे—जैसे पुराणों के स्वरूप में अभिवृद्धि होती गई, यह पार्थक्य कम होता गया। परिणामतः इतिहास और पुराण के लक्षण प्रायः एकाकार होते गये। अमरकोश[1] की दृष्टि में इतिहास 'पुरावृत्तम्' है, तो नीलकण्ठ की दृष्टि में पुराण भी वही पुरावृत्त है—पुराणं पुरावृत्तम्[2] आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पद्म पुराण, वायुपुराण, ब्रह्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, नारदीय व मत्स्यपुराण के संदर्भों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि इतिहास और पुराण का प्रथम प्रयोग अनेक अवांतरकालीन वैदिक ग्रन्थों तथा पुराणों में उपलब्ध होता है। कभी 'इतिहास' पुराण को गतार्थ करता था किन्तु अंतिम काल में 'पुराण' इतिहास को ही नहीं बल्कि समस्त वाङ्मय को अपने में गतार्थ करता है।[3] प्रो. एस. एन. राय इस संदर्भ में मानते हैं कि इतिहास के समावेश के कारण पुराण—संरचना को गति—विस्तार का अवकाश अवश्य मिला और यदि 'इतिहास' शब्द की पृथक सत्ता रही भी होगी तो वह पौराणिकों द्वारा विहित शैली के कारण अपने संभावित मूल रूप में स्पष्ट नहीं हो सकती।[4]

अट्ठारह महापुराण

पुराण परंपरा की प्रतिष्ठा तथा पुराण संरचना के संकलित स्तर के बीच में पर्याप्त व्यवधान था। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार, पुराण संख्या का विस्तार तीन स्तरों के साथ हुआ था। पहले स्तर पर, जैसा कि विष्णु पुराण से स्पष्ट है, पुराणों की संख्या चार थी। वायुपुराण में इनकी संख्या दस बताई गई है। पुराण संख्या के विस्तार का यह दूसरा स्तर माना जा सकता है। तीसरा स्तर सर्वाधिक महत्वपूर्ण था, जबकि इनकी संख्या दस के स्थान पर अट्ठारह हो गयी।[5] पार्जीटर तथा फ़र्क्यूहर के मत यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार पुराणों की संख्या उन्नीस मानी जा सकती है। इसमें उन्होंने शिव पुराण को भी सम्मिलित किया है। इस संदर्भ में विंटनित्स

---

1. अमरकोश, 1.6.4
2. 1.5.1
3. उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, पृ. 7–8
4. राय, एस. एन., पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ. 10
5. राय, एस. एन., पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ. 47

ने कहा है कि शिव पुराण को भ्रमवश अथवा शैव परंपरा के निर्वाह में ही महापुराण माना जाता है।[1] इसका सबसे प्राचीन निर्देश अल्बरुनी के विवरण में मिलता है, जिसके काल तक पुराणों का प्राचीन रूप बहुत बदल चुका था। पुराण के स्थान पर 'महापुराण' शब्द का व्यवहार उत्तरकालीन स्तर से सम्बन्ध रखता है। पुराणों की अष्टादश संख्या का विवेचन करते हुये पंडित मधुसूदन ओझा ने इसे साभिप्राय एवं सहेतुक माना है।[2] इनकी समीक्षा के अनुसार पुराणग्रन्थों का मौलिक वर्ण्य–विषय सृष्टि–प्रतिपादक है, जिसमें सांख्य दर्शनप्रक्रिया का निर्वाह दिखायी देता है। सृज्यमान तत्व गणना में अट्ठारह होते हैं। इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से संभवतः पुराणों की संख्या का निर्धारण किया गया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई अन्य युक्तियाँ भी दी हैं जिनके द्वारा पुराण संख्या के अष्टादश होने का समाधान है। प्रो. राय के अनुसार गीता में अट्ठारह अध्यायों का परिकल्पन, महाभारत में अट्ठारह पर्वो का निर्धारण, एक ही मूलभूत प्रवृत्ति के आलोक में हुआ था।[3]

अष्टादश संख्या के काल–निर्णय में मत्स्यपुराण का एक स्थल अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इस पुराण के अध्याय 53 में अट्ठारह पुराण उल्लिखित हैं, तथा इसकी तिथि भी निश्चित की जा चुकी है। हाज़रा के अनुसार इस अध्याय को 550 ई. से 650 ई. के अन्तर्वर्ती काल में रखा जा सकता है।[4] इसलिये पुराणों की अष्टादश संख्या का समय भी इसी इसी के आस–पास मान सकते हैं।[5]

अनेक पुराणों जैसे, विष्णु पुराण (3.16.21–23) वराह पुराण (112.69–72) लिंग पुराण (1.39.61–63), मत्स्य पुराण (53.11), पद्म पुराण (10.51–54), भविष्य पुराण (1.1.61–64), मार्कण्डेय पुराण, अग्निपुराण (271.1–29), भागवत पुराण (12.13.4–8), वायु पुराण (134.1–11), स्कन्द पुराण (2.15–7) आदि में पुराणों के नाम मिलते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थलों पर भी पुराणों की नामावली मिलती है, यथा, गरुड़ पुराण

---

1. विंटरनित्स, एम, ए, हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, पृ. 527
2. ओझा, मधुसूदन, पुराण निर्माणाधिकरणम् तथा पुराणोत्पत्ति प्रसंग, जयपुर, पृ. 5–10
3. राय, एस. एन., वही, पृ. 49
4. हाज़रा, वही, पृ. 3
5. राय, एस. एन., वही, पृ. 49

(1.215.15–16), देवी भागवत (1.3.3–12), नारद पुराण (1.92.26–28), पद्म पुराण (6.236. 13–20), ब्रह्मवैवर्त पुराण (4.133.11–22), भागवत पुराण (12.7.22–24), शिव पुराण (7.1.1.42–45) और स्कन्द पुराण (5.44.120–140)।[1]

देवी भागवत (1.3.21) में प्रथम अक्षर के उल्लेख के साथ अट्ठारह पुराणों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं–मद्‌य–मत्स्य, मार्कण्डेय, मद्‌य–भविष्य, भागवत, ब्रत्रय–ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्‌माण्ड चतुष्टय–वराह, वामन, वायु, विष्णु, अ, ना, प, लिं और ग के क्रम से अग्नि नारदीय, पद्म, लिंग, गरुड़, कू–कर्म, स्कंद।[2] विष्णु पुराण[3] तथा भागवत[4] आदि में इन पुराणों की नामावली एक विशिष्ट क्रम में दी गई है और यही क्रम तथा नाम प्रायः अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं। अनेक तर्क–वितर्क के पश्चात् पुराणों का क्रम इस प्रकार मिलता है–1. ब्रह्म 2. पद्म 3. विष्णु 4. भागवत 5. भागवत 6. नारद 7. मार्कण्डेय 8. अग्नि 9. भविष्य 10. ब्रह्मवैवर्त 11. लिंग 12. वराह 13. स्कन्द 14. वामन 15. कूर्म 16. मत्स्य 17. ब्रह्माण्ड।[5]

पुराणों के लक्षण

सर्गश्च प्रतिसर्गश्व वंशों मन्वंतराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम्।।

पुराण के लक्षणों को बताने वाला यह श्लोक कुछ पुराणों को छोड़कर प्रायः सभी महापुराणों में मिलता है।[6] 'पंच लक्षण' शब्द पुराण का इतना अनिवार्य द्योतक माना जाता था कि अमरकोश में यह शब्द बिना किसी व्याख्या के ही प्रयुक्त किया गया है। व्याख्याविहीन पारिभाषिक शब्द का प्रयोग उसकी सार्वभौम लोकप्रियता का संकेत माना जाता है।[7] सृष्टि, प्रलय, वंशपरम्परा, मन्वन्तर का वर्णन और विशिष्ट व्यक्तियों का चरित्र,

1. त्रिवेदी, करुणा एस., कूर्म पुराण : धर्म और दर्शन, वाराणसी 1994, पृ. 16–17
2. वही, पृ. 20
3. विष्णु पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस बाम्बे, 1889. 3.6.20–24
4. भागवत पुराण, बम्बई, 1916, 12.13.4–9
5. त्रिपाठी, कृष्णमणि, वही, पृ. 47
6. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ. 125
7. वही, पृ. 124

ये पाँच विषय जिस ग्रन्थ में वर्णित हों, उसे पुराण कहते हैं। ये पाँच विषय पुराणों में अनिवार्यतः प्रतिपादित हैं।

सर्ग

जगत तथा उनके नाना पदार्थों की उत्पत्ति अथवा सृष्टि सर्ग कहलाती है। भागवत के अनुसार[1] जब मूल प्रकृति से तब महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। महत् से तीन प्रकार के सात्विक, राजस् और तामस् अहंकार बनते हैं। त्रिविध अहंकारों से ही पंचतन्मात्रा, इन्द्रिय तथा (पंच) भूतों की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति क्रम का नाम सर्ग है। पुराणों में नाना प्रकार की सृष्टि वर्णित है।

प्रतिसर्ग

सृष्टि के प्रलय अथवा नाश को ही 'प्रतिसर्ग' कहते हैं। विष्णु पुराण[2] में प्रतिसर्ग का शाब्दिक अर्थ है–'सर्ग के विपरीत'। इस ब्रह्माण्ड का स्वभाव से ही प्रलय हो जाता है और यह प्रलय चार प्रकार का है–नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यांतिक।

वंश

भागवत के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा जितने राजाओं और ऋषियों की सृष्टि हुई, उनकी भूत, भविष्य तथा वर्तमान[3] कालीन सन्तान–परम्परा 'वंश' नाम से जानी जाती है।

भागवत के उक्त श्लोक में केवल राजवंश का ही नहीं, ऋषिवंश का भी समावेश किया गया है। ऋषिवंशों का विवरण अन्य पुराणों में विस्तार से मिलता है।

मन्वन्तर

पुराणों के अनुसार सृष्टि के विभिन्न काल–मान का द्योतक यह शब्द है। मन्वन्तर चौदह होते हैं और प्रत्येक मन्वन्तर का अधिपति एक विशिष्ट मनु होता है,[4]

---

1. भागवत पुराण, 12.7.11
2. विष्णु पुराण, 1.2.25
3. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ. 126
4. उपाध्याय, बलदेव, पृ. 126

जिसके पाँच अन्य सहयोगी हैं। भागवत[1] में कहा गया है—मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान के अंशावतार—इन छः विशिष्टताओं से युक्त समय को 'मन्वन्तर' कहते हैं।

वंशानुचरित

भागवत के अनुसार[2] पूर्वोक्त वंशों में उत्पन्न हुये वंशधरों का विशिष्ट विवरण जिसमें वर्णित होता है, वह 'वंशानुचरित' कहलाता है। इस सम्बन्ध में यह धारणा भी है कि महर्षियों के चरित की अपेक्षा पुराणों में राजाओं का वर्णन अधिक प्राप्त होता है।[3] अमरकोश में प्राप्त पंचलक्षणों के व्याख्याविहीन परिभाषिक प्रयोग के आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इन लक्षणों को सार्वभौमिक मान्यता दी। जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अमरकोश के काल (चौथी शताब्दी) तक जितने पुराणों का संकलन हुआ, उनमें पाँचों लक्षणों के अनुसार प्रतिपाद्य विभाजन हुआ था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रमुख पुराणों का प्राथमिक संस्करण गुप्तकाल तक सम्पन्न हो चुका होगा।[4] पार्जिटर की व्याख्यानुसार ये विषय पुराणों के प्राचीनतम वर्ण्य—विषय माने जा सकते हैं।

पण्डित राजशेखर शास्त्री द्राविड़ ने पुराण पंच—लक्षण की एक अतिरिक्त परिभाषा की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। इसका उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र की जयमंगला व्याख्या में हुआ है। व्याख्याकार ने इसका मूल किसी प्राचीन ग्रन्थ को बताया है –

सृष्टि—प्रवृत्ति—संहार—धर्म—मोक्ष प्रयोजनम्।

ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

इसके आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि धार्मिक विषयों का पुराणों में सन्निवेश प्रारम्भ से ही अभीष्ट था।[5] इस संदर्भ में हाजरा आदि विद्वानों ने पुराणों में धार्मिक विषयों के समावेश को उत्तरकालीन पौराणिक संकलन

---

1. भागवत पुराण, 12.7.15
2. वही, 12.7.16
3. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ. 127
4. पाण्डेय, सी. डी., साम्ब पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद, 1986, पृ. 8
5. उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, पृ. 127

का परिणाम माना है। जबकि प्रो. एस. एन. राय का विचार है कि पुराणों की संरचना के आद्य स्तर से ही धार्मिक विषयों का सन्निवेश किया जा रहा था।[1]

भागवत[2] में पुराणों के दस लक्षण भी प्रतिपादित किये गये हैं–सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था हेतु तथा अपाश्रय। इनके संक्षिप्त अभिप्राय इस प्रकार हैं–सर्ग–मौलिक सृष्टि, विसर्ग–चराचर रूप चेतन सृष्टि, वृत्ति–जीविका, रक्षा–ईश्वर का लोक रक्षार्थ अवतार, अन्तर–मन्वन्तर, वंश–प्रसिद्ध राजपरिवार, वंशानुचरित–प्रसिद्ध राजकुलों का इतिहास, संस्था–प्रलय, हेतु–जीव एवं अपाश्रय–ब्रह्म।[3] भागवत के एक अन्य स्कन्ध में पुराणों के दस अन्य लक्षणों का भी उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार हैं–सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, उति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति, आश्रय।[4] इस संदर्भ में विद्वानों का मत है कि भागवत के दोनों स्कन्धों में उल्लिखित लक्षणों में शब्द–भेद अवश्य है, पर अभिप्राय–भेद नहीं है।[5] इन दस लक्षणों की समीक्षा पुसाल्कर ने भी की है। बारहवें स्कन्ध में संकेत है कि दस या पाँच लक्षणों की योजना महान अथवा अल्प व्यवस्था की द्योतक है। पुसाल्कर ने अल्प–व्यवस्था से तात्पर्य 'उपपुराण' से माना है।[6] परन्तु भागवत में प्रयुक्त 'महदल्पव्यवस्था' से तात्पर्य कुछ और है। वस्तुतः यहाँ पर संकेत उस पौराणिक प्रवृत्ति की ओर है, जिसके कारण समय–समय पर नूतन परिस्थितियों एवं नवोदित सांस्कृतिक तत्वों के अनुसार प्राचीन पुराणों का परिवर्द्धन कर उनका प्रतिसंस्करण तैयार किया गया तथा उत्तरकालीन पुराणों की रचना की गयी। इसी प्रकार का निष्कर्ष भागवत के एक अन्य श्लोक से भी प्राप्त होता है।[7] पुसाल्कर का यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता कि उप पुराणों में अल्प–व्यवस्था का अनुसरण किया गया था।

---

1. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1.5 के आधार पर द्रष्टव्य
2. भागवत पुराण, 12.7.8
3. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ. 131
4. भागवत पुराण, 2.10.1
5. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ. 128
6. पुसाल्कर, स्टडीज़ इन द एपिक्स एण्ड पुराणाज़, पृ. 46
7. भागवत, 2.10.2

उप पुराण : अर्थ एवं वैशिष्ट्य

महापुराणों की भाँति पौराणिक वाङ्मय में उप पुराणों की भी समृद्ध परम्परा है। ये उप पुराण विभिन्न सम्प्रदायों के विचार और विकास के महत्वपूर्ण साधन थे।

आकार–विस्तार, विषय–विविधता की दृष्टि से परम्परागत पुराणों के समीप होने के कारण ही संभवतः इन्हें 'उप पुराण' नाम दिया गया होगा। 'उप' शब्द प्रायः निम्नता या सहायक के रूप में प्रयुक्त होता है। किन्तु यह शब्द समीपता अथवा निकटता के अर्थ में भी प्रयुक्त होता रहा है।[1] उपनिषद् में 'उप' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। उप पुराणों में विभिन्न धार्मिक मतों का पोषण किया गया है। इसी कारण इनकी प्रतिष्ठा ऐसे साम्प्रदायिक ग्रन्थों के रूप में भी प्रचलित हो गई जो किसी विशेष सम्प्रदाय के धार्मिक मतों का पोषण करते हों।[2]

उप पुराणों को महापुराणों का उपभाग निरूपित किया गया है। पुसाल्कर ने महापुराणों की तुलना में उप पुराणों की रचना बाद में मानी है तथा इनमें ऐतिहासिक महत्व की सूचनाओं का प्रायः अभाव बताया है। इस कारण वे इन्हें बहुत उल्लेखनीय नहीं मानते।[3] परन्तु सभी उप पुराण ऐतिहासिक रूप से महत्वहीन नहीं कहे जा सकते। इनमें कुछ, जैसे विष्णुधर्मोत्तर, नारसिंह, देवी भागवत आदि सातवीं–आठवीं शताब्दी के मध्य रचे गये हैं तथा विषय–निरूपण की दृष्टि से महत्वपूर्ण भी हैं। कुछ विद्वान् उप पुराणों को महापुराणों का ही उपभेद स्वीकार करते हैं। मत्स्य पुराण में भी उप पुराणों को पुराणों का उपभेद प्रतिपादित किया गया है और यह भी कहा गया है कि कोई भी पौराणिक कृति, जो अट्ठारह पुराणों से पृथक संरचित है, उसे इन अट्ठारह पुराणों में से एक या दूसरे से ही उद्भूत समझा जाये।[4] मत्स्य पुराण में ही यह भी उल्लिखित है कि सभी उप पुराण अष्टादश या प्रमुख पुराणों के उपभेद हैं तथा उन्हीं से उद्भूत हुये हैं। सौर पुराण ने स्वयं

---

1. पाण्डेय, सी. डी., वही, पृ. 9
2. हाज़रा, उपपुराणाज़, भाग 1, पृ. 18
3. पुसाल्कर, ए. डी., स्टडीज़ इन दि एपिक्स एण्ड पुराणाज़, भूमिका, पृ. 48
4. मत्स्य पुराण, 53.58–59 और स्कन्द पुराण, प्रभास खण्ड, 2.79–83

को ब्रह्म पुराण से सम्बद्ध बताया है।[1]

खिलान्य उपपुपुराणानि यानि चोक्तानि सूरिभिः।

इदं ब्रह्मपुराणस्य खिलम् सौस्मनुत्तमम्।।

कूर्म पुराण में भी यही मत थोड़े अन्तर के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार मुनियों ने अष्टादश पुराणो का सम्यक् अनुशीलन करने के बाद उप पुराणों की रचना की।[2]

"अन्यान्युपपुराणनि मुनिभिः कथिलानि तु।

अष्टादश पुराणानि श्रुत्वा संक्षेपतौ द्विजाः।।

इस सन्दर्भ में काणे महोदय का विचार उल्लेखनीय है। उनका मानना है कि इन पुराणों में पंचलक्षणों का निर्वाह नहीं किया है परन्तु इनके प्रचलित पाठ बहुधा महापुराणों के विषयों से साम्य रखते हैं। अष्टादश पुराणों की श्लोक संख्या 'चार लाख'[3] है। इसमें इन पुराणों की श्लोक संख्या सम्मिलित नहीं मानी जा सकती। ऐसा इसलिये प्रस्तावित किया गया है क्योंकि किसी भी पुराण की उक्त श्लोक संख्या में उप पुराण श्लोक संख्या परिगणित नहीं मिलती है।[4]

यद्यपि महापुराणों की अपेक्षा उप पुराणों को कम महत्व दिया जाता है किन्तु उप पुराणों ने इस मान्यता को कभी स्वीकार नहीं किया तथा अपने स्वतंत्र अस्तित्व को महापुराणों से अलग प्रतिपादित किया। कहीं–कहीं उन्होंने प्रचलित मान्यता से ऊपर उठकर स्वयं को महापुराणों से श्रेष्ठतर उद्घोषित किया।[5]

अनन्य उप–पुराणनि मुनिर्भिः कथितानि तु।

अष्टादश पुराणनि श्रुत्वा संक्षेपतो द्विजाः।।

पुराणों के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में सौर पुराण का कथन है कि सर्ग,

---

1. सौर पुराण, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1924, 9.12 ब 13 अ
2. कूर्म पुराण, 1.1.16
3. वायु पुराण, 1.60–61
4. काणे, वही, भाग 4, पृ. 384
5. कूर्म पुराण, 1.16

प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित ये पाँच लक्षण होने चाहिये। पुराणों के उपभेद होने के कारण उप पुराणों के भी यही लक्षण होने चाहिये।[1] परन्तु पुराणविदों ने महापुराणों के दस लक्षण निरूपित किये हैं जबकि उप पुराणों के उपर्युक्त पाँच लक्षण ही उल्लिखित हैं। उप पुराण मुख्यतः स्थानीय सम्प्रदायों एवं धार्मिक मान्यताओं का निरूपण करते हैं, महापुराण सम्प्रदायों और उनकी विभिन्नताओं का विवेचन करते हैं। उप पुराणों में राजाओं एवं ऋषियों की वंशावली के वर्णन की प्रायः उपेक्षा की गई है।[2] यदि कहीं वंशावली का वर्णन प्राप्त भी होता है तो वहाँ उनकी प्रामाणिकता की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। उनके साथ नई गाथायें जोड़ दी गई हैं। निष्कर्षतः यह मान सकते हैं कि महापुराणों के दस लक्षण तथा उप पुराणों के पंच लक्षण की मान्यता, उप पुराणों में राजवंशावलियों की उपेक्षा तथा इस साहित्य की प्रायः अनुपलब्धता ने ही संभवतः उप पुराणों को समाज में समुचित स्थान व महत्व दिलाया। वे प्राचीन भारत के सम्बन्ध में बहुमूल्य जानकारी उपलब्ध कराते हैं तथा संस्कृत साहित्य की विलुप्त कृतियों के पुनर्निर्माण में योगदान देते हैं।

भारतीय इतिहास के अध्ययन के संदर्भ में पुराणों का महत्व 20वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में पार्जीटर, भण्डारकर तथा हाज़रा[3] के महत्वपूर्ण कार्यों के सामने आया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दशकों में ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में पुराणों की सम्यक् समीक्षा प्रारंभ हुई। राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों, संस्थाओं और परिस्थितियों के अध्ययन के संदर्भ में पुराणों की महत्वपूर्ण भूमिका निर्विवाद रूप से स्वीकार की गयी। यह उल्लेखनीय है कि पौराणिक अध्ययन के प्रसंग में जो महत्व पारम्परिक अट्ठारह पुराणों को प्राप्त है वह उपपुराणों को हाज़रा के महत्वपूर्ण कार्य के बावजूद नहीं प्राप्त हो सका। 'उप पुराण' संज्ञा के कारण इस वर्ग के साहित्यिक साक्ष्यों को पुराणों की तुलना में ऐतिहासिक दृष्टि से निम्नतर करके आँका गया और एक भ्रामक अवधारणा यह भी प्रचलित रही कि

---

1. सौर पुराण, 9.45
2. हाज़रा, आर. सी., स्टडीज इन उप पुराणाज़, भाग 1, पृ. 26
3. हाज़रा आर. सी., स्टडीज इन उपपुराण, 1005–I, II,कलकत्ता, 1958
   स्टडीज इन द पुराणिक रिकार्डस ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, 1963

उप पुराण परवर्ती ग्रन्थ हैं, जिनसे प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में विशेष महत्वपूर्ण सूचना नहीं प्राप्त हो सकती। यदि सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य के उद्भव और विकास की सम्यक् समीक्षा की जाये तथा उन ऐतिहासिक परिस्थितियों को सामने रखकर इस प्रकार के साहित्य के उद्भव के कारणों का विश्लेषण किया जाये तो दो तथ्य निष्कर्षतः समुपस्थित होते हैं। प्रथमतः यह कि महापुराणों या पारम्परिक अट्ठारह पुराणों की सर्जना समाज में जिन उद्देश्यों से की गयी थी उन उद्देश्यों को समाजशास्त्रीय विवेचनों में 'ब्राह्मणाइजेशन' अर्थात् ब्राह्मण संस्कृति का प्रसार तथा 'संस्कृताइज़ेशन' अर्थात् संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में ब्राह्मण आदर्शों का निबन्धन, इन दो संदर्भों से परिभाषित किया गया है।

दूसरा तथ्य यह सामने आता है कि सामाजिक परिवर्तन, अस्थिरता तथा संक्रमण के दौर से उत्पन्न अव्यवस्था में प्राचीन परम्परागत धार्मिक आदर्शों और विश्वासों को इस प्रकार जीवित रखना कि वे नवीन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के साथ समायोजन और सहअस्तित्व स्थापित करके अपना वर्चस्व कायम रख सकें; साथ ही समाज में संस्थागत धार्मिक प्रवचनों के द्वारा एक ऐसी व्यवस्था बनाना जिनमें पुरातन एवं अर्वाचीन तत्व परस्पर संश्लिष्ट रूप में सामने आयें–यह एक नितान्त जटिल प्रक्रिया थी। इसे पुराणकारों ने निरन्तर परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन के द्वारा सम्पन्न किया। इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार की परिस्थितियों ने पुराणों की रचना को उत्प्रेरित किया था, लगभग वैसी ही प्रवृत्तियाँ उपपुराणों की रचना के लिये भी उत्तरदायी रही होंगी। हाज़रा आदि विद्वानों ने पुराणों में प्राप्त कलियुग के वर्णन को अव्यवस्था और सामाजिक संक्रमण का प्रतिबिम्ब बताया है।(1) इस प्रक्रिया में एक समय ऐसा भी आया जब परम्परागत अट्ठारह पुराण तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पूरी तरह समर्थ सिद्ध नहीं हो पा रहे थे। ऐसे में एक दूसरे प्रकार के साहित्य की आवश्यकता अनुभव की गयी, इन्हें ही 'उप पुराण' संज्ञा प्रदान की गयी। हाज़रा के अनुसार(2) इस वर्ग का साहित्य लगभग 650 ई. से 800 ई. के बीच अस्तित्व में आ चुका

1. हाज़रा, आर. सी., स्टडीज़ इन द पुराणिक रिकार्डस इन हिन्दु राइट्स एण्ड कस्टम्स, दिल्ली, 1975, पुनर्मुद्रित, पृ. 193–205
2. वही, स्टडीज इन द उपपुराणज़, भाग 1, 1958, पृ. 15

था। यह कालखण्ड उपपुराण जैसे विस्तृत साहित्य की रचना के लिये बहुत अल्प है। क्योंकि इनकी रचना एक लम्बे कालखण्ड में विविध क्षेत्रों में समय–समय पर होती रही।

कूर्म पुराण के अनुसार, उप पुराणों की रचना ऋषियों ने व्यास से अट्ठारह पुराण सुनने की बात की। निष्कर्ष यह है कि उप पुराण अट्ठारह पुराणों के बाद लिखे गये और पुराणों की तुलना में इनका धार्मिक महत्व कम है। मत्स्य पुराण के अनुसार, उप पुराण स्वतंत्र संवर्ग के ग्रन्थ नहीं थे अपितु वे मुख्य पुराणों के उपभेद मात्र थे। इसके विपरीत स्वयं उप पुराणों में इस प्रकार के वर्गीकरण की सूचना नहीं मिलती। अधिकांश उप पुराण स्वयं को पुराण की संज्ञा प्रदान करते हैं और मुख्य पुराणों के साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं दिखाते।

अमरकोश में पुराणों के पंचलक्षण का उल्लेख मिलता है किन्तु उप पुराण के विषय में वह भी मौन है। इसी प्रकार विष्णु और मार्कण्डेय पुराण में अट्ठारह पुराणों की सूची मिलती है, किन्तु उपपुराणों का कोई संदर्भ इनमें भी नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि अट्ठारह पुराणों की रचना उप पुराणों से पूर्व हो चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अट्ठारह पुराणों की रचना के बाद भागवत, पांचरात्र शैव और पाशुपत धर्मों में अनेक नवीन तत्व तथा तद्जनित भेद और उपभेद प्रस्तुत हुये। इनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये स्मार्त परम्परा के अनुयायियों ने पूर्व रचित पुराणों में या तो नवीन अंश प्रक्षिप्त किये या पूरी तरह स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की। चूँकि पौराणिक धर्म में परम्परागत अट्ठारह पुराणों की मान्यता स्थिर हो चुकी थी इसलिये नवीन रचनाओं को अट्ठारह पुराणों के समक्ष रखना संभव नहीं था। तत्कालीन जनमानस की धार्मिक भावनाओं की संतुष्टि का माध्यम होने के कारण नवीन वर्ग की रचनायें अत्यंत लोकप्रिय हो चुकी थीं। उन्हें पूर्णतः उपेक्षित भी नहीं किया जा सकता था। इस समस्या का निदान देने के लिये उप पुराणों की कल्पना की गयी। इससे एक ओर परम्परागत पुराणों की संख्या अट्ठारह ही बनी रही तथा नवीन ग्रन्थ उप पुराणों के रूप में स्वतंत्र किन्तु द्वितीय स्तर के धार्मिक साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हुये। यह उल्लेखनीय है कि सातवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच भारतीय समाज में परिधीय क्षेत्रों में ब्राह्मण संस्कृति का प्रसार हुआ। इस संस्कृति का स्वरूप बहुत

लचीला था। इसमें वेद, स्मृति और पुराण इन तीनों परम्पराओं के साथ–साथ परिधीय क्षेत्रों के स्थानीय देवी–देवताओं को पौराणिक धर्म में समायोजित व प्रतिष्ठित किया गया। सौर, शाक्त तथा गाणपत्य सम्प्रदायों का विकास इसी प्रकार के क्षेत्रीय व स्थानीय तत्वों के सहयोग से हुआ।

पारम्परिक पुराणों के साथ उप पुराणों की भी संख्या अट्ठारह मानने का आग्रह दिखता है। मुख्य पुराणों के नामकरण के बारे में जहाँ पारस्परिक सहमति दिखती है, उप पुराणों के संदर्भ में नामकरण की समस्या अत्यंत जटिल है। हाज़रा[1] ने परस्पर विरोधी पुराणों और उप पुराणों की दीर्घ सूचियों से कम से कम 100 ग्रन्थों का नाम प्रस्तुत किया है, जिनमें से अधिकांश अब प्राप्त नहीं हैं। हाज़रा के अनुसार, महापुराणों और उप पुराणों में प्रमुख भेद यह है कि उप पुराणों का क्षेत्रीय स्वरूप बहुत स्पष्ट है। यद्यपि ब्रह्म, पद्म, अग्नि, वराह, वामन, कूर्म तथा मत्स्य पुराणों के कुछ अंश और अध्याय उनके क्षेत्रीय स्वरूप को स्पष्ट करते हैं किन्तु अपनी सम्पूर्णता में इनमें से कोई भी ग्रन्थ किसी एक क्षेत्र विशेष से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत धार्मिक तथा सामाजिक रीति–रिवाज, पूजा–परम्परा, आचार–विचार व विश्वास आदि की दृष्टि से लगभग सभी उप पुराण अपना क्षेत्रीय स्वरूप सुस्पष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ, विष्णुधर्मोत्तर की रचना कश्मीर में, कालिका की आसाम में तथा गणेश पुराण व अन्य बहुसंख्यक उप पुराण बंगाल में लिखे गये प्रतीत होते है।[2] हाज़रा ने इस तथ्य की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है कि महापुराणों की तुलना में उप पुराणों का मूल स्वरूप अधिक सुरक्षित है, क्योंकि उनमें उतने परिवर्तन, परिवर्द्धन, संशोधन तथा परवर्ती प्रक्षेपण नहीं हुये जितने महापुराणों में हुये। उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन से यह भी स्पष्ट किया है कि अनेक उपपुराण कुछ महापुराणों से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं।

उप पुराण पंचलक्षण को उतना महत्व नहीं देते जितना स्थानीय और नवीन धार्मिक प्रवृत्तियों तथा आदर्शों को ब्राह्मण धर्म के साथ समायोजन को देते हैं। कलियुग के

---

1. हाज़रा, आर. सी., स्टडीज़ इन द उपपुराणज़, भाग 1, 1958, पृ. 2–13
2. हाज़रा, उपपुराणाज़, खण्ड 1, पृ. 214, खण्ड 2, पृ. 223

राजवंशों का वर्णन उप पुराणों में प्रायः नहीं मिलता। इसके स्थान पर धर्म तथा सामाजिक व्यवस्था, पौराणिक आख्यान, मूर्तिपूजा, देवसमूह, बहुदेववाद, सम्बन्धित उत्सव, अनुष्ठान, संस्कार, नीति तथा अन्धविश्वास उप पुराणों के वर्ण्य विषय रहे हैं।

उप पुराणों की संख्या

उप पुराणों की प्राचीनता एवं संख्या को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इनका उल्लेख कुछ प्रारम्भिक महापुराणों में किया गया है। मत्स्य पुराण,[1] नारसिंह, नन्दी, आदित्य एवं साम्य को उप पुराण की संज्ञा प्रदान की गई है। नारसिंह उप पुराण की कुल श्लोक संख्या 18,000 बतायी गयी है। इसी प्रकार कूर्म,[2] पदम्[3] तथा देवी भागवत[4] में अट्ठारह उप पुराणों के नाम उल्लिखित हैं। इनमें कुछ नाम–वामन, स्कन्द, ब्रह्माण्ड, नारदीय आदि महापुराण के नामों से साम्य रखते हैं। ध्यान देने योग्य है कि वामन पुराण केवल गरुड़[5] तथा बृहद्धर्म[6] पुराणों की सूचियों में उप पुराण के रूप में उल्लिखित हैं, शेष सभी पुराण–सूचियों में इसे महापुराण उद्घोषित किया गया है। कूर्म पुराण[7] में इसे महापुराण एवं उप पुराण दोनों कहा गया है। उप पुराणों की संख्या पर विमर्श करते हुये हाज़रा[8] ने इनकी 23 विभिन्न सूचियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें लगभग 100 उप पुराणों के नाम संकलित हैं। इनमें से कुछ का ही प्रकाशन हो सका है, शेष उप पुराणों की पाण्डुलिपियाँ विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं।

उप पुराणों की सूची

सूत संहिता[9] में बीस उप पुराणों का नामोल्लेख है। विभिन्न पुस्तकों मं उप

1. मत्स्य पुराण, आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1907, 53–59–62
2. कूर्म पुराण, इण्डिका, कलकत्ता, 1890, 1.1.16–20
3. पद्म पुराण, 4.111, 95–98
4. देवी भागवत, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, 1960, 1.3.13–16
5. गरुड़ पुराण, 1.215.15–16
6. वृहत् धर्म पुराण, 1.25.20–22
7. कूर्म पुराण, 1.1.13–20
8. हाज़रा, उपपुराणाज़, खण्ड 1, पृ. 4–13
9. सूत संहिता, 1.13.18, माधवाचार्य कृत व्याख्या सहित, आनंदाश्रम संस्कृत ग्रंथावली, पूना, 1924

पुराणों की अलग–अलग सूचियाँ दी गयी हैं। इनमें संख्यामूलक भिन्नता है। विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध उप पुराणों की सूची निम्नवत् है :

क[1]

1.	आद्य सनतकुमार द्वारा उद्घोषित	2.	नारसिंह	3.	स्कन्द
4.	शिवधर्म	5.	दुर्वाससोक्त	6.	नारदीय
7.	कपिल	8.	वामन	9.	उशनसेरित
10.	ब्रह्माण्ड	11.	वरुण	12.	कालिका
13.	माहेश्वर	14.	साम्ब	15.	सौर
16.	पराशरोक्त	17.	मारीच	18.	भार्गव

ख[2]

1.	सनतकुमारीय	2.	नारसिंह	3.	नान्दी पुराण
4.	शिवधर्म	5.	दुर्वासा पुराण	6.	नारदीय
7.	कपिल	8.	वामन	9.	औसनस
10.	ब्रह्माण्ड	11.	वारुण	12.	कालिका
13.	माहेश्वर	14.	साम्ब	15.	सौर
16.	पराशरोक्त	17.	मारीच	18.	भार्गव

ग[3]

1.	आद्य	2.	नारसिंह	3.	वायवीय
4.	शिवधर्म	5.	दुर्वाससोक्त	6.	नारदीय
7.	उशनसेरित	8.	उशनसेरित	9.	नार्दिकेश्वर युग्म
10.	कपिल	11.	वारुण	12.	कालिका

---

1. कूर्म पुराण, 1.1.16–20, बिलियोविल इण्डिका कलकत्ता, 1890, भाग 1 पृ. 4
2. नित्याकार प्रदीप – 1, नारसिंह वाजपेयिनका, पृ. 9, (कूर्म पुराण के आधार पर 18 उप पुराणों की सूची प्रतिपादित है)
3. रघुनंदन के यलयास तत्व में उद्धृत कूर्म पुराण, द्रव्टव्य, हाज़रा, स्टडीज इन उपपुराणाज़, भाग 1, पृ. 4–5

13. माहेश्वर	14. साम्ब	15. दैव
16. पराशरोक्तमपरं	17. मारीच	18. भास्कर

घ[1]

1. आद्या	2. नारसिंह	3. कुमार द्वारा उच्चारित नान्द
4. शिवधर्म	5. दुर्वाससोक्त	6. नारदीय
7. कपिल	8. मानव	9. उशनसेरित
10. ब्रह्माण्ड	11. वारुण	12. कालिका
13. माहेश्वर	14. साम्ब	15. सौर
16. पराशरोक्तमपरं	17. मारीच	18. भार्गवा

च[2]

1. आद्य	2. नार सिंह	3. नान्द
4. शिवधर्म	5. दुर्वाससोक्त	6. नारदोक्त
7. कपिल	8. मानव	9. उशनसेरित
10. ब्रह्माण्ड	11. वारुण	12. कालिका
13. माहेश्वर	14. साम्ब	15. सौर
16. पराशरोक्तमपरं	17. भागवत द्वयम्	

छ[3]

1. आद्य	2. नारसिंह	3. नान्द
4. शिवधर्म	5. दुर्वाससोक्त	6. नारदोक्त
7. कपिल	8. मानव	9. उशनसेरित

---

1. मित्रमिश्र् के वीलित्रोदय परिभाषा प्रकाश, पृ. 13–14 में उद्धृत कूर्म पुराण, द्रष्टव्य हाजरा, वही, पृ. 5
2. हेमाद्रि के चतुर्वर्ग चिन्तामणि, भाग–1, पृ. 32–33 में उद्धृत कूर्म पुराण, द्रष्टव्य हाजरा, वही, पृ. 5–6
3. हेमाद्रि के चतुर्वर्ग चिन्तामणि, भाग–2, पृ. 21 में उद्धृत कूर्म पुराण, दृष्टव्य, हाज़रा, वही, भाग 1 पृ. 6

10. ब्रह्माण्ड	11. वरुण	12. कालिका
13. माहेश्वर	14. साम्ब	15. सौर
16. पराशरोक्तप्रथमं	17. भागवत द्वयम्	18. भागवत द्वयम्

ज[1]

1. आद्य	2. नारसिंह	3. वायवीय
4. शिवधर्म	5. दुर्वाससोक्त	6. नारदीय
7. नन्दिकेश्वर–युग्म	8. उशनसेरित	9. कपिल
10. वारुण	11. साम्ब	12. कालिका
13. माहेश्वर	14. पाद्म	15. दैव
16. पराशरोक्तम् अपरं	17. मारीच	18. भास्कर

झ[2]

1. आद्य	2. नारसिंह	3. कन्द
4. शिवधर्म	5. दुर्वाससोक्त	6. नारदीय
7. कपिल	8. मानव	9. उशनसेरित
10. पवित्र ब्रह्माण्ड	11. वारुण	12. कलि–पुराण (कलि–कथा)
13. वशिष्टलिंग माहेश्वर	14. साम्ब (सुसूक्ष्म)	15. सौर पुराण (सवित्र)
16. पराशर्य	17. मारीच	18. भार्गव

ट[3]

1. सौर	2. नारसिंह (पद्मपुराण से संबंधित)
3. सांङ्केय (वैष्णव पुराण से संबंधित)	4. ब्राहस्पत्य (वायव्य पुराण से संबंधित)
5. दुर्वासा (भागवत से संबंधित)	6. नारदोक्त (भविष्यपुराण से संबंधित)
7. कपिल	8. मानव
9. उशनसेरित	10. ब्रह्माण्ड

---

1. शब्द कल्पद्रुम (उपपुराणान्तर्गत) में उद्धृत कूर्म पुराण, द्रष्टव्य, वही, भाग 1, पृ. 6–7
2. स्कन्द पुराण की सौर संहिता, द्रष्टव्य, वही, भाग 1, पृ. 7
3. स्कन्द पुराण 5 (3) रेवा खण्ड, पृ. 46–52, द्रष्टव्य, भाग 1, पृ. 7

11.	वारुण	12.	कालिका
13.	माहेश्वर	14.	साम्ब
15.	सौर	16.	पाराशर
17.	भागवत	18.	कोर्म

ठ[1]

1.	सूर्य (ब्रह्म पुराण का खिल)	2.	नारसिंह (पद्मपुराण से संबंधित)
3.	नान्द पुराण	4.	शिवधर्म
5.	दुर्वासा	6.	नारदोक्त
7.	कपिल	8.	मानव
9.	उशनसेरित	10.	ब्रह्माण्ड
11.	वारुण	12.	कलिका
13.	माहेश्वर	14.	साम्ब
15.	सौर्य	16.	पराशर
17.	भागवत	18.	कोर्म

ड[2]

1.	आद्य	2.	नारसिंह	3.	स्कन्द
4.	शिवधर्म	5.	नारदोक्त	6.	दुर्वाससोक्त
7.	कपिल	8.	मानव	9.	उशनसेरित
10.	ब्रह्माण्ड	11.	वारुण	12.	अन्यत् कलिकार्हयम्
13.	माहेश्वर	14.	साम्ब	15.	सौर
16.	पराशरोक्त	17.	मारीच	18.	भार्गव

ढ[3]

1.	आद्य	2.	नारसिंह	3.	नान्द

---

1. रेवा माहात्म्य, द्रष्टव्य, हाजरा, वही, पृ. 8
2. स्कन्द पुराण–7 प्रभासखण्ड, 11–15, द्रष्टव्य, हाजरा, वही, पृ. 8–9
3. स्कन्द पुराण की सूत संहिता, 13–18, शिव माहात्म्य खण्ड, द्रष्टव्य, हाजरा, वही, पृ. 9

4. शिवधर्म	5. दुर्वासा	6. नारदीय
7. कपिल	8. मानव	9. उशनसेरित
10. ब्रह्माण्ड	11. वारुण	12. विशिष्ट कलिपुराण
13. वाशिष्ठ लैंग (माहेश्वर)	14. साम्ब	15. सौरम्यहदभुतम्
16. पराशर	17. मारीच	18. भार्गव

त[1]

1. आद्य	2. नारसिंह	3. स्कन्द
4. शिवधर्म	5. दुर्वाससोक्त	6. नारदोक्त
7. कपिल	8. वामन	9. उशनसेरित
10. ब्रह्माण्ड	11. वारुण	12. कालिका
13. माहेश्वर	14. साम्ब	15. सौर
16. पराशरोक्तमपरं	17. मारीच	18. भार्गव

थ[2]

1. आद्य	2. नारसिंह	3. स्कन्द
4. दुर्वासा	5. नारदीय अन्यत्	6. कपिल
7. मानव	8. औशनप्रोक्त	9. ब्रह्माण्ड अन्यत्
10. वारुण	11. कालिका	12. महेश
13. साम्ब	14. सौर	15. पराशर
16. मारीच	17. भार्गव	18. कौमार

द[3]

1. सनत्कुमार	2. नारसिंह	3. नारदीय
4. शिव	5. दौर्वाससमुक्तम्	6. कपिल
7. मानव	8. औसनस	9. वारुण

---

1. गरुड़ पुराण 1.223.17–90, द्रष्टव्य, हाजरा, वही
2. पद्मपुराण, पातालखण्ड, 3.95–98, द्रष्टव्य, हाजरा, वही
3. देवीभागवत, 1.3.13–16, द्रष्टव्य, हाजरा, वही

10. कालिक	11. साम्ब	12. नन्दीकृत
13. सौर	14. पराशरप्रोक्त	15. अतिविशिष्टम्
16. माहेश्वर	17. भार्गव	18. साविस्तारम् वशिष्ठ

ध[1]

1. आदिपुराण	2. आदित्य	3. वृहन्नारदीय
4. नारदीय	5. नान्दीश्वर पुराण	6. वृहन्नान्दीश्वर
7. साम्ब	8. क्रियायोगसार	9. कालिक
10. धर्म पुराण	11. विष्णु धर्मोत्तर	12. शिवधर्म
13. विष्णुधर्म	14. वामन	15. वारुण
16. नारसिंह	17. भार्गव	18. उत्तमम् वृहद्धर्म

न[2]

1. आद्य	2. नारसिंह	3. नान्द
4. शिवधर्म	5. दुर्वास	6. नारदीयम्
7. कपिल	8. मानव	9. उशनसेरित
10. ब्रह्माण्ड	11. वारुण	12. कलिपुराण
13. वाशिष्ट लैंग	14. साम्ब	15. सौर
16. पराशर	17. मारीच	18. भार्गव

प[3]

1. सनत कुमार	2. नारसिंह	3. नारदीय
4. शिव	5. अनुत्तमंदुर्वासा	6. कपिल
7. पुण्यम् मानव	8. औसनस	9. वारुण
10. कालिकाख्य	11. साम्ब	12. नान्दीकृत
13. सौर्य	14. पराशर	15. अतिविशिष्टम् आदित्य

---

1. वृहद्धर्म, 1.25.23–25, द्रष्टव्य, हाजरा, वही, पृ. 10
2. पाराशर उप पुराण, 1.26.31, द्रष्टव्य, हाजरा, वही, पृ. 10–11
3. विंध्यमाहात्म्य अ. 4, द्रष्टव्य, वही, पृ. 11

16. माहेश्वर	17. भार्गवाख्य	18. विशिष्टम् वाशिष्ठ्य

फ[1]

1. आद्य	2. नारदीय	3. नारसिंह
4. शिवधर्म	5. दुर्वासा	6. कापिलेय
7. मानव	8. शौक्र	9. वारुण
10. ब्रह्माण्ड	11. काली पुराण	12. वाशिष्ट लैंग
13. महेश	14. साम्ब	15. सौर
16. पाराशर्य	17. मारीच	18. भार्गव

ब[2]

1. सनत कुमार	2. नान्द	3. नारसिंह
4. दुर्वासा	5. शिवधर्म	6. कापिल्य
7. मानव	8. शौक्र	9. वारुण
10. वाशिष्ठ	11. साम्ब	12. काली पुराण
13. महेश	14. पराशर	15. भार्गव
16. मारीच	17. सौर	18. ब्रह्माण्ड

भ[3]

1. आद्य	2. नारसिंह	3. नान्द
4. शिवधर्म	5. दुर्वासा	6. नारदीय
7. कापिल	8. मानव	9. उशनसेरित
10. ब्रह्माण्ड	11. वारुण	12. कालि पुराण
13. वाशिष्ट लैंग (माहेश्वर)	14. साम्ब पुराण	15. सौर
16. पराशर	17. मारीच	18. भार्गव

---

1. मित्रमिश्र के वीरमित्रोदय परिभाषा प्रकाश, पृ. 14 में उद्‌धृत ब्रहमवैवर्त, द्रष्टव्य, वही, पृ. 11–12
2. गोपालदास के भक्तिरत्नाकर में उद्‌धृत ब्रहमवैवर्त, द्रष्टव्य, वही, पृ. 12
3. मधुसूदन सरस्वती का प्रस्थान भेद, पृ. 10 में उद्‌धृत श्लोक, द्रष्टव्य, वही, पृ. 12

म[1]

1.	वृहन्नारसिंह	2.	वृहद्वैष्णव	3.	गारुड़
4.	वृहन्नारदीय	5.	नारदीय	6.	प्रभाषक
7.	लीलावती पुराण	8.	देवी	9.	कालिका
10.	आखेटक	11.	वृहन्नादि	12.	नान्दिकेश्वर
13.	एकाम्र	14.	एकपाद	15.	लघु भागवत
16.	मृत्युंजय	17.	आंगिरस	18.	साम्ब

य[2]

1.	आद्य	2.	नारसिंह	3.	नारदीयक
4.	वाशिष्ठ लैंग	5.	मारीच	6.	नन्दारव्य
7.	भार्गव	8.	माहेश्वर	9.	औसनस
10.	आदित्य	11.	गणेशक	12.	कालीय
13.	कपिल	14.	दुर्वासा	15.	शिवधर्म
16.	पराशरोक्त	17.	साम्ब	18.	वारुण

उप पुराणों के भेद

महापुराणों की भाँति उपपुराणों के सौर, शैव, शाक्त, वैष्णव तथा गाणपत्य आदि विभेद मिले हैं, जो इस प्रकार है :

सौर उपपुराण

1. सूर्य पुराण
2. साम्ब पुराण
3. भास्कर पुराण
4. आदित्य पुराण
5. वह्नि पुराण
6. सौर पुराण

---

1. एकाम्रपुराण, 1.20, ब.23, द्रष्टव्य, वही, पृ. 13
2. वारुणोदयपुराण अ.6, द्रष्टव्य, वही, पृ. 13

	7.	सौरधर्मी पुराण
शाक्त उपपुराण	1.	कालिका पुराण
	2.	दैवी पुराण
	3.	महा भागवत
	4.	नन्दी
	5.	वृहन्नन्दिकेश्वर
	6.	शारदा पुराण
शैव उपपुराण	1.	शिवधर्म पुराण
	2.	माहेश्वर पुराण
	3.	पाशुपति पुराण
	4.	स्कन्द पुराण
वैष्णव उपपुराण	1.	विष्णुधर्म
	2.	विष्णुधर्मोत्तर पुराण
	3.	नरसिंह पुराण
गाणपत्य उपपुराण	1.	मुद्गल पुराण
	2.	गणेश पुराण

जिस सम्प्रदाय में जो देवता प्रधान है, उसी को प्रमुखता दी गयी है। अन्य देवता गौण हैं। शैव, शाक्त, गाणपत्य उप पुराणों में शिव, शक्ति व गणपति ही उपास्य हैं।

गणेश पुराण को भी उपपुराण कहा गया है। गणेश पुराण ने स्वयं को उपपुराण कहा है।(1) टीकाकार राजकरण शर्मा ने गणेश पुराण और भार्गव पुराण को वस्तुतः एक ही माना है।(2) प्रमाण रूप में त्रिकालदर्शी साधु भृगु और सौराष्ट्र के शासक सोमकान्त, जो कुष्ठ रोग से पीड़ित थे, के मध्य वार्तालाप उद्धृत किया है। वही वार्तालाप भार्गव पुराण में भी है। श्री आर. सी. हाजरा का भी मत है कि गणेश पुराण एक उप पुराण हैं।(3)

1. गणेश पुराण 1.8 भूमिका, नागप्रकाशन, 1993
2. वही, पृ. 6
3. हाजरा, आर. सी., द. गणेशपुराण, जी.ए.आ.रि.इ., पृ. 78–80

उपपुराणों के रचनाकाल को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ का मत है कि उपपुराण प्राचीन नहीं हैं। किन्तु यह मत निर्विवाद है कि उप पुराण महापुराणों के बाद ही संग्रहीत हैं। भ. न. काणे के अनुसार[1] मुहम्मद गजनवी के साथ अल्बरूनी भारत की यात्रा पर आया था। उसने महत्वपूर्ण यात्रा वृतान्त 1030 ई. में लिखा, जिसमें कुछ उपपुराणों के नाम भी उल्लिखित हैं। प्रमुख रूप से नरसिंह, नान्द, आदित्य, सोम एवं साम्ब ऐसे उपपुराण हैं, जिनके बारे में यह ज्ञात होता है कि ये 1030 ई. से पूर्व ही लिखे जा चुके थे।

विंटरनित्स इन उपपुराणों का रचनाकाल छठीं एवं दसवीं शताब्दी के मध्य का मानते हैं[2], जबकि डॉ. बूलर[3] के मत से पाँचवी–छठीं शताब्दी के उत्तर काल में ही पुराणों की रचना होने की संभावना है। हाजरा ने भी उपपुराणों का रचना काल 650–800 ई. माना है। हाज़रा के अनुसार, वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में उपलब्ध वर्णन 200–275 ईसवी के आसपास का है। इसी तरह विष्णु पुराण में मिलने वाला वर्णन तीसरी शताब्दी के अन्तिम तथा चौथी शताब्दी के प्रथम चरण की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है।

तीसरी या चौथी शताब्दी में लिखे गये इन ग्रन्थों से तत्कालीन समाज की विविध विशेषतायें परिलक्षित होती हैं–जैसे वर्णसंकर शूद्रों तथा ब्राह्मणों के बीच बैर, वैश्यों द्वारा कर देने और यज्ञ करने से इनकार, करभार से पीड़ित प्रजा, चोरी, डकैती, परिवार और संपत्ति की असुरक्षा, योगक्षेम का विनाश, कर्मकाण्डी स्थिति के मुकाबले संपत्ति का बढ़ता महत्व तथा म्लेच्छ राजाओं का प्रभुत्व। ये सब मिलकर सामाजिक अव्यवस्था को और भी घनीभूत कर रहे थे। स्थापित समाज व्यवस्था के नियमों के उल्लंघन का अर्थ कलि अथवा उसके लक्षणों का प्रकट होना माना गया हैं। इन कर्मों के सम्बन्ध में ब्राह्मणीय दृष्टि कठोर नहीं है। वह देश और काल के अनुसार बदलती रहती है।[4]

---

1. काणे, बी. पी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 4, पृ. 382 एवं 410–411
2. विंटरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 1, पृ. 518
3. डा. बूलर, इण्डियन एंक्टिक्स, पृ. 119
4. शर्मा, रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन तृतीय संस्क., पृ. 62

इस काल में रचित उपपुराणों में भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों का संयोजन किया गया है। इनमें भारतीय धर्म के विविध पक्षों, धार्मिक विधानों, मूर्ति पूजा, ईश्वर भक्ति, दर्शन, देवता, परम्परा, पर्व, उत्सव आदि को अनुप्राणित किया गया है। परवर्ती आलोचकों द्वारा पुराणों पर अनेकानेक विमर्श हुये है, किन्तु उपभेदीय परिस्थिति के कारण इन पर अधिक विचार नहीं हुआ। संभवतः यही कारण है कि उपपुराणों की विषयवस्तु यथावत तथा मौलिक रही। अतः उपपुराणों को भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भों में गिना जाता है।

गणेश पुराण का काल निर्धारण

गणेशोपासना से संबंधित गणेश पुराण तथा मुद्‌गल पुराण दोनों ही गाणपत्य सम्प्रदाय के अध्ययन हेतु सर्वाधिक विशद् एवं महनीय स्रोत हैं।

आर. के. शर्मा के अनुसार गणेश पुराण को उपपुराणों की सूची में आधुनिक खोजों के परिणामस्वरूप रखा गया है। टीकाकार नीलकण्ठ ने गणेश पुराण को प्राचीन बताते हुये अपना मत रखा है तथा इसका आधार 'गणेश गीता' को बनाया है, जो कि गणेश पुराण का एक भाग है।[1] उनके अनुसार, गणेश पुराण और भार्गव पुराण एक ही हैं, क्योंकि गणेश पुराण में त्रिकाल–दर्शी साधु भृगु और सौराष्ट्र शासक सोमकांत, जो कुष्ठ रोग से पीड़ित थे, वार्तालाप उद्‌धृत हैं तथा वही वार्तालाप भार्गव पुराण में भी है। अतः गणेश पुराण का प्रारम्भिक नाम भार्गव पुराण था।[2] हाज़रा द्वारा उप पुराणों को दी गयी तेइस सूचियों में से पंद्रह में भार्गव पुराण का उल्लेख है।[3]

मुद्‌गल पुराण एवं गणेश पुराण के काल निर्धारण को लेकर अनेक विद्वानों के अलग–अलग मत हैं। हाजरा के अनुसार, मुद्‌गल 1100 एवं 1400 ई. के मध्य का है। उनके अनुसार, यह गणेश पुराण से पहले का है। फरक्यूहर[4] ने भी मुद्‌गल पुराण को गणेश

---

1. गणेश पुराण, भूमिका, पृ. 6
2. वही, पृ. 6–7
3. हाजरा, आर. सी., स्टडीज इन द उपपुराणाज़, कलकत्ता संस्कृत कालेज, 1958
4. हाजरा, आर. सी., द गणेश पुराण, जर्नल ऑफ द जी. एन. झा संस्कृत विद्यापीठ, खण्ड 1, नव. 1951, पृ. 97

पुराण से पूर्व का माना है।[1] प्रेस्टन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मुद्‌गल पुराण का समय अज्ञात है। काणे ने भी इन दोनों के काल को अनिश्चित माना है। कोर्टराइड ने मुद्‌गल पुराण को 14वीं से 16वीं शताब्दी के मध्य का माना है।[2] ग्रेनॉफ का कहना है कि आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में किसी निश्चित तिथि तक पहुँचना बहुत कठिन है। उन्होंने गणेश से सम्बन्धित ग्रन्थों की तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर सापेक्ष तिथि निर्धारण की बात की है तथा इस सन्दर्भ में यह माना है कि मुद्‌गल पुराण गणेश की परम्परा में लिखे जाने वाले उच्चस्तरीय दार्शनिक साहित्य का अंतिम बिन्दु है। मुद्‌गल पुराण में गणेश पुराण का सन्दर्भ प्राप्त होता है। मुद्‌गल पुराण में परवर्ती रचना श्री अथर्वशीर्ष का उल्लेख प्राप्त होता है। चूँकि कोर्टराइट अथर्वशीर्ष को 16वीं तथा 17वीं शताब्दी के बीच का लिखा मानते हैं इसलिये मुद्‌गल पुराण 17वीं शताब्दी के बाद का ग्रन्थ ग्रेनॉफ द्वारा माना गया है। थापन के अनुसार मुद्‌गल पुराण के कुछ अंश परवर्ती हो सकते हैं, पूरा ग्रन्थ नहीं। उन्होंने यह आग्रह किया है कि आन्तरिक साक्ष्यों के तुलनात्मक अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थ का मूल स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। महाराष्ट्र, सौराष्ट्र आदि परिधीय क्षेत्रों में नवीन परिस्थितियों के कारण गणेश की पूजा का महत्व जैसे–जैसे बढ़ता गया तदनुसार इस पुराण का संशोधन और इसकी पुनर्व्याख्या होती गयी। इसी कारण इसमें परवर्ती अंशों का प्रक्षेपण दिखायी देता है।

आर. सी. हाजरा ने गणेश पुराण का अध्ययन गोपाल नारायण कम्पनी, बम्बई से 1892 में प्रकाशित संस्करण के आधार पर किया था। महाराष्ट्र के मोरे गाँव के श्री योगीन्द्र मठ द्वारा सन् 1979 तथा 1985 में गणेश पुराण के कुछ खण्डों का प्रकाशन किया गया था। यह उल्लेखनीय है कि मोरे गाँव अष्टविनायक तीर्थ क्षेत्र के अर्न्तगत आता है। 1876 में पूना और बम्बई से दो अलग–अलग संस्करण गणेश पुराण के प्रकाशित हो चुके थे।

श्री योगेन्द्र के संस्करन में गणपति से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रीय धार्मिक केन्द्रों

1. फरक्यूहर, जे. एन., आउट लाइन आफ रिलीजियस लिटरेचर ऑफ इंडिया, पृ. 270
2. काणे, वी. पी. 'धर्मशास्त्र का इतिहास', खण्ड 2, भाग 2, पृ. 725

   मूर्ति, जी श्रीनिवास (एडीटर) शैव उपनिषद्, पृ. 76–85

का अध्ययन किया गया है। उन्होंने यह माना है कि गणेश पुराण में इसी काल से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन है।

हाजरा ने गणेश पुराण को 1100–1400 ई. के मध्य का माना है।[1] फरक्यूहर ने इसे 900 से 1350 ई. के मध्य का माना है।[2] इससे प्रतीत होता है कि इसका अस्तित्व 12वीं–13वीं शताब्दी के मध्य आया होगा। गणेश पुराण को 18वीं शताब्दी में तमिल में अनुवादित किया गया था। इस तमिल संस्करण को विनायक पुराण के नाम से सन्दर्भित किया गया था।[3]

गणेश पुराण पहली बार बम्बई के गोपाल नारायण प्रेस से पाण्डुलिपि के रूप में 1882 ई. में प्रकाशित हुआ, जिसे उद्ववाचार्य ऐनापुरे और कृष्ण शास्त्री पित्रे ने सम्पादित किया था।[4] इस पुराण का ही एक भाग है–गणेश गीता, जिसे नीलकण्ठ का टीका 'गणपति भव दीपिका' के साथ आनन्दआश्रम प्रेस, पूना ने 1906 ई. में प्रकाशित किया।[5] श्री गणेश कोश के सचित्र कार्य के अन्तर्गत गणेश ग्रन्थ खण्ड में गणेश पुराण प्रथम स्थान पर रखा जाता है जिसे अमरेन्द्र गाडगिल ने संपादित किया और श्रीराम बुक एजेंसी, पूना ने प्रकाशित किया। इसका दूसरा संस्करण 1981 ई. में प्रकाशित हुआ।[6]

गणेश पुराण का काल निर्धारण करते हुये नीलकण्ठ[7] ने इसका रचना काल 16वीं शताब्दी से पूर्व का ही माना है। आर. सी. हाजरा ने इसे 11वीं शताब्दी से पहले का नहीं माना है।[8] जे. एन. फरक्यूहर ने भी गणेश पुराण को 900 ई. से 1350 ई. के बीच का माना है।[9] उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर, गणेश पुराण में पूर्वमध्यकालीन सामाजिक,

1. हाजरा, आर. सी., 'द गणेश पुराण', पूर्व उद्धृत, पृ. 97
2. फरक्यूहर, जे. एन., एन आउट लाइन ऑफ रिलीजियस लिटरेचर ऑफ इण्डिया, पृ. 226–270
3. पेस्टन, एल. डब्ल्यू., पूर्व उद्धृत, पृ. 123
4. गणेश पुराण, पूर्वोक्त, पृ. 7
5. शर्मा, रामकरन, गणेश पुराण, भूमिका, पृ. 8
6. हाजरा, पूर्वोद्धृत, पृ. 101
7. शर्मा, राम करन, वही, पृ. 9
8. हाजरा, आर. सी., द गणेश पुराण, जर्नल ऑफ जी. एन. झा संस्कृत विद्यापीठ, खण्ड 1, नवम्बर 1951, पृ. 79–100
9. फरक्यूहर, जे. एस., आउटलाइन आफ द रिलीजियन लिटरेचर, पृ. 266–270

धार्मिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों का निरूपण स्थान–स्थान पर होने के कारण, इसकी तिथि 11वीं से 14वीं शताब्दी के बीच रखी जा सकती है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस पुराण में गणेश की उपासना के अनेक ऐसे सन्दर्भ मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि गणेश उपासना में जनजातीय तत्व भी कर्मकाण्ड के अंग के रूप में समाहित हो रहे थे। उदाहरणार्थ, गणेश के इक्कीस नामों के उच्चारण का उल्लेख प्राप्त होता है तथा इन्हें इक्कीस फल, इक्कीस दूर्वा (घास) के टुकड़े समर्पित करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार विनायक चतुर्थी व्रत के अवसर पर गणेश की प्रतिमाओं को छत्र, ध्वज इत्यादि से सुसज्जित करके लोगों द्वारा खींचे जाने वाले रथ से ले जाने का जो उल्लेख प्राप्त होता है उसमें स्पष्ट रूप से सामन्ती प्रभाव दिखायी पड़ता है। जनजातीय तत्वों का पौराणिक परम्परा में समावेश, यद्यपि प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो चुका था परन्तु उसमें तीव्रता पूर्वमध्यकाल में ही आयी है। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में सामन्तवादी व्यवस्था के आधार पर देवताओं के स्तरीकरण तथा उनकी उपासना में ऐश्वर्य एवं प्रभुता का समावेश पूर्वमध्यकालीन देन है। इन साक्ष्यों का आंकलन करते हुये गणेश पुराण का रचनाकाल पूर्वध्यकाल का अंतिम चरण मानना अधिक उचित है।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

गाणपत्य संप्रदाय का विकास

गाणपत्य संप्रदाय का उदय

भारतीय संस्कृति विविधताओं एवं बहुलताओं के लिये विख्यात है। यहाँ की धार्मिक पृष्ठभूमि भी अनेक सम्प्रदायों, पंथों एवं विचारधाराओं से परिपूर्ण रही है। इस बहुलतावादी धार्मिक परम्परा में गणेश न केवल सर्वाधिक लोकप्रिय देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं अपितु वे समन्वयवादी परम्परा के सर्वोच्च प्रतीक भी है। वे तीनों महत्वपूर्ण धार्मिक परम्पराओं–हिन्दू, बौद्ध और जैन–से जुड़े हैं। वे किसी सम्प्रदाय विशेष तक सीमित नहीं है बल्कि सभी भारतीय धार्मिक धाराओं ने उन्हें मान्यता और महत्व दिया है। यहाँ पर उल्लेख करना महत्वपूर्ण होगा कि गणपति वैदिक देव समूह में स्थान नहीं पा सके थे। इनका तत्कालीन स्वरूप पुराणों ने विकसित किया। यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि गणेश अपनी प्रारंभिक अवधारणा में दुरात्मा के रूप में प्रस्तुत हुये, जो मनुष्य के जीवन में बाधायें उत्पन्न करते थे। गणेश के विघ्नकर्ता से विघ्नकर्ता की अवधारणात्मक विकास–यात्रा का विस्तार से विश्लेषण करना आवश्यक है। क्योंकि इसी विकास–यात्रा में गाणपत्य सम्प्रदाय के उद्‌भव, विकास करना विस्तार के कारक भी छिपे हुये हैं।

परम्परागत गणेश की कुछ विलक्षण चारित्रिक विशिष्टतायें हैं जो उन्हें अन्य देवताओं से अलग करती हैं। इन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है –

1. धारणात्मक विनायक पूर्व में विघ्नेश्वर विघ्नकर्ता हैं, बाद में विघ्हर्ता बन जाते हैं।
2. सामान्यतः गणेश को सप्तमातृकाओं के साथ प्रदर्शित किया गया हैं
3. शारीरिक विशिष्टताओं के अंतर्गत उनके मानवीय शरीर पर गजशीर्ष स्थापित है।
4. गणेश विभिन्न मंदिरों व मूर्तियों में नव ग्रहों के साथ उत्कीर्ण हुये हैं।
5. गणेश के आभूषण व यज्ञोपवीत के रूप में सर्प सुशोभित है।

अथर्ववेद[1] जीवन में होने वाली विषम घटनाओं जैसे, बीमारी, विपत्ति और मृत्यु के लिये कुछ शक्तियों को जिम्मेदार मानता है। वे शक्तियाँ हैं–भूकम्प, पर्यावरणीय विचलन, विपरीत अंतरिक्षीय गतियाँ, उल्का, प्राकृतिक आपदायें, नक्षत्र, दैवी शक्तियों का क्रोध और

---

1. अथर्ववेद, 19.9.6–10

दुष्ट आत्मायें, जो मनुष्य के विरूद्ध उपद्रव करती हैं तथा कष्ट पहुँचाती हैं।[1] अथर्ववेद में अनेक सामाजिक बाधाओं व मानसिक बीमारियों के पीछे भी पराप्राकृतिक शक्तियों को ही जिम्मेदार माना गया है। उन शक्तियों का विस्तृत वर्णन भी किया गया है। उनमें प्रमुख हैं—दुष्ट आत्मायें, दानव, पिशाच, अत्रिनस (जो अपने शिकार का मांस भक्षण करते हैं), कण्सर (जो भ्रूण का शिकार करते हैं), मृगी रोगी (अपस्मार)[2] राक्षस[3] (जो व्यक्ति के भेदभाव शक्ति को मिटा देते हैं), ग्राही[4] (जो झपट लेते हैं), जम्भा (विप्लवकारी) आदि। वस्तुतः अथर्ववेद रोगों को दानव की संज्ञा देता है। 'निऋति' नामक देवी का उल्लेख भी इसमें है जो हानि, मृत्यु और अप लक्षणों की देवी के रूप में है। वह दुर्भाग्यकारिणी है। यज्ञ में बाधायें न पहुँचाये, यज्ञ से दूर रहे, इसलिये उसका आवाहन किया जाता था। उससे प्रार्थना की जाती थी कि वह बाधाओं एवं अवरोधों को दूर करे। महाकाव्य काल में उसका स्थान ज्येष्ठा अलक्ष्मी ने ले लिया, जो सौभाग्य एवं समृद्धि की प्रतीक लक्ष्मी का विपरीत स्वरूप थी। बौधायन गृहसूत्र में ज्येष्ठा अलक्ष्मी को हस्तिमुखा और विघ्नपरसादा कहा गया है। परवर्ती साहित्य में, अथर्ववेद की यही दुष्ट आत्मायें, विघ्नकर्ता के रूप में विकसित हुयी होंगी। विघ्नकर्ता या कठिनाइयाँ उत्पन्न करने वाले चरित्र का उदाहरण मानवगृह सूत्र (7वीं—5वीं शताब्दी ई. पू.) में 'विनायक' के सन्दर्भ में प्राप्त होता है।[5]

मानवगृह सूत्र उन विनायकों के विषय में लिखता है जो मानव जीवन के विविध क्षेत्रों में बाधायें उत्पन्न करके उद्देश्य की सिद्धि को रोकते हैं। ये प्रभावित व्यक्तियों में मानसिक अवसाद पैदा करते हैं। मानवगृह सूत्र में चार दुष्ट राक्षसों—शालकंटकट, कूष्माण्डराजपुत्र, उस्मित और देवयजन को विनायक कहा गया है। यह भी वर्णित है कि विनायकों से आविष्ट हो जाने पर लोगों की मनःस्थिति एवं क्रिया—कलाप में विषमता उत्पन्न होती है।[6] उन्हें दुःस्वप्न आते हैं। कन्याओं का विवाह अवरूद्ध हो जाता है, राजकुमारों को राज्य लाभ नहीं होता। स्त्रियाँ बंध्या हो जाती हैं। वणिकों का व्यापार

1. अथर्ववेद, 2.2.5, 2.4.37, 19.36.6
2. वही, 6.111.2
3. वही, 2.9.1, 2.10.8, 3.11.1, 6.112.1, 8.2.12, 13.3.18
4. वही, 2.4.2
5. मानव गृहसूत्र, 2.14
6. मानव गृहसूत्र, 2.14. 19

विनष्ट हो जाता है। इन विनायकों की शांति हेतु कुछ विधियों का भी उल्लेख है, जिसमें कच्ची मछली, मांस, सुरा और रोटियाँ उन्हें समर्पित की जाती हैं।[1] वैजवाय गृह भी चार विनायकों–मिता, समितात्र, शालकंटकट और कुसुमेन्द्रज का उल्लेख करता है तथा मानव गृह सूत्र में वर्णित विनायकों के लक्षणों की पुष्टि करता है। कालान्तर में याज्ञवल्क्य स्मृति[2] (प्रथम–तृतीय शताब्दी) में भी चारों विनायकों का उल्लेख प्राप्त होता है। आर. सी. हाज़रा के अनुसार, उपनिषदों की एकेश्वरवादी विचारधारा के प्रभावस्वरूप चारों विनायकों को एक ही नाम से जाना गया। रुद्र व ब्रह्मा ने इस 'विनायक' को मनुष्य के कार्यों में विघ्न पैदा करने तथा सफलता दिलाने हेतु गणों के नायक के रूप में नियुक्त किया।[3] महाभारत में[4] अनेक दुष्ट विनायकों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में शांति पर्व[5] के प्रक्षिप्त अंश में विनायक को राक्षस, पिशाच, भूत और विघ्न पैदा करने वाले तत्व के रूप में वर्णित किया गया है। वहाँ इन्हें सर्वप्रथम गणेश्वर कहा गया है। यह वर्णित है कि गणेश्वर–विनायकों द्वारा सारा विश्व नियंत्रित होता है।[6] ऋग्वेद में इससे भी पूर्व 'गणपति' शब्द का उल्लेख 'वृहस्पति' के लिये हो चुका था,[7] जो स्वर्गिक यजमानों के देवता थे। उनके साथ गायकों का एक समूह रहता था।[8] ऋग्वेद में इन्द्र के लिये भी 'गणपति' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[9] यजुर्वेद में 'गणपति' शब्द रुद्र (देवताओं के स्वामी) के गणों के रूप में उल्लिखित है।[10] अतः स्पष्ट है कि वेदों में उल्लिखित 'गणपति' या 'गणनायक' शब्द को गणेश से सन्दर्भित नहीं किया जा सकता है।

वैसे तो गणेश का मूल स्रोत अथर्ववेद, मानवगृह सूत्र व याज्ञवल्क्य स्मृति में वर्णित विनायक से माना जा सकता है। लेकिन याज्ञवल्क्य स्मृति से गणपति के 'विनायक'

---

1. मानव गृहसूत्र, 2.14.28
2. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.271–294
3. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.271
4. महाभारत, 3.65.23, 12.284.131, 13.150.25
5. महाभारत, भाग 16, श्लोक 420
6. महाभारत, 3.150.25
7. ऋग्वेद, 2.23.1
8. ऋग्वेद, 4.50.5
9. वही, 10.112.9
10. यजुर्वेद, 4.1.22

प्रत्यय के विकास का क्रमबद्ध प्रमाण मिलता है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि याज्ञवल्क्य स्मृति में वर्तमान गणेश से सन्दर्भित गुणों का उल्लेख नहीं हुआ है, फिर भी गणेश का प्रत्यय वहाँ धीरे–धीरे स्वरूप ग्रहण कर रहा था। इस स्मृति में मानवगृह सूत्र के चार विनायकों को एक में समाहित कर लिया गया तथा वे विघ्न न डालें इसलिये उन्हें किसी कार्य के पूर्व पूजा समर्पित करने की परम्परा प्रारम्भ हुई। इस तरह से विनायक को धार्मिक अनुष्ठानों को प्रभावित करने की शक्ति प्राप्त हो गयी। सम्भवतः यहीं से गणेश का अग्रपूजक स्वरूप विकसित हुआ होगा। वह नये नामों गणाधिपति, गणपति, महागणपति, गणनायक आदि से अभिहित हुये।

विनायक पौराणिक काल में अम्बिका[1] (पार्वती) के पुत्र के रूप में उद्‌विकसित होते हैं और शिव परिवार में जुड़ जाते हैं। क्रमशः उनका ब्राह्मणीकरण होने लगता है। इस संदर्भ में युवराज कृष्णन का मत है कि ब्रह्मा व रुद्र द्वारा गणों के देवता के रूप में उनका चुनाव होता है और वे वैदिक देव समूह में स्थान प्राप्त करते हैं।[2] विनायक की शांति हेतु वैदिक स्वस्ति और बलि मंत्रोच्चार की व्यवस्था थी।

ब्राह्मणीकरण के निर्णायक प्रमाण इस तथ्य से भी प्राप्त होते हैं कि मानवगृह सूत्र में विनायकों को मांस और मदिरा, कच्ची मछली समर्पित की जाती थी, जबकि याज्ञवल्क्य स्मृति में[3] विनायक गणेश इन सब के साथ, मोदक भी ग्रहण करते हैं। ग्रहों के साथ विनायक की पूजा इस बात को प्रदर्शित करती है कि इनसे सभी कर्मों का फल प्राप्त होता है।[4] इस प्रकार विनायक अब सिद्धिदाता, भाग्य प्रदाता बन जाते हैं।

वायु पुराण[5] (300–600 शताब्दी) में उल्लेख है कि जिस घर में शिव की पूजा होती है वह उपद्रवी विनायकों से मुक्त रहता है। इसी पुराण में[6] एक स्थल पर वर्णित है कि शिव द्वारा गणेश निकुम्भ या क्षेमक के रूप में, वाराणसी के राजा दिवोदास को छल करने के लिये भेजे गये। उन्होंने अन्य सभी को लाभ पहुँचाया किन्तु राजा दिवोदास को

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.271, 290 और 294
2. कृष्णन युवराज, वही, पृ. 127
3. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.287.289
4. याज्ञवल्क्य स्मृति, 293.2
5. वायु पुराण, 11.30.309
6. वही, 11.30

प्रेरित किया कि वह गणेश के पूजास्थल को नष्ट कर दे ताकि दिवोदास धार्मिक कर्म से च्युत हो जाये।[1] यह इस बात का निश्चयात्मक प्रमाण है कि गणेश या विनायक अपने विकास के प्रथम चरण में एक दुष्टात्मा एवं 'विघ्नकर्ता' के रूप में रहे हैं। ब्रह्माण्ड पुराण[2] में विनायक को 'लोक विनायक' की संज्ञा दी गयी है।

अमरकोश (छठीं शताब्दी) में गणेश को 'विघ्नराजा गणाधिप' कहा गया है।[3] यद्यपि भागवत पुराण[4] में विनायक भवगद् के साथी देवता के रूप में हैं, किन्तु उनकी दुष्ट प्रकृति उनके साथ राक्षस, पिशाच, भूत, प्रेम, क्षुमुण्ड ग्रहों, दक्षिणी, ज्ञातधारिणी मंत्र को जोड़ देती है। बौधायन धर्मसूत्र[5] में जल और भोजन के तर्पण द्वारा विघ्न विनायक गणपति को पुनर्जाग्रत और शांत करने का विधान है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि आरंभ में गणेश एक अनिष्टकारी देवता के रूप में परिकल्पित किये गये थे, जिससे सुरक्षा प्राप्त करना, मुक्त होना उनकी पूजा का प्रधान उद्देश्य था। शीघ्र ही वे समाज में महत्वपूर्ण देव के रूप में स्थापित हुये। प्रथम शताब्दी से इन्हें प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप भी प्राप्त होने लगा। यद्यपि यह विवाद से परे नहीं है। गणपति के प्रारम्भिक स्वरूप और उनकी उपासना प्रक्रिया पर विचार करते हुये यक्ष और नागों की उपासना से इसका उदय माना गया है।[6] गणेश के स्वरूप पर यदि ध्यान दिया जाये तो ठिगना कद, छोटे व मांसल पैर, बड़ा पेट और गज के मुख की परिकल्पना सामने आती हैं। इनमें से पहली तीन बातों का निकटतम सम्बन्ध यक्ष प्रतिमाओं से है। कुमारस्वामी ने कई वर्षों पूर्व तक असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध करने का प्रयास किया और इस विचार से डॉ. बैनर्जी, बी. एस. अग्रवाल जैसे विद्वान् सहमत हैं कि गणेश प्रतिमा का मूल आधार अमरावती स्तूप से मिले एक उष्णीष पर अंकित गजमुखी यक्षों से है।[7] छठीं–सातवीं शताब्दी से गणेश की प्रतिमायें बहुतायत से प्राप्त होने लगती हैं, तथा

---

1. वही, 11.30.50
2. ब्रह्माण्ड पुराण, 2.3.7.611
3. अमरकोश, 1.1.38
4. भागवत पुराण XI.27.20–30
5. बौधायन धर्मसूत्र, 2.5.9.5
6. बैनर्जी, जे. एन., डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ. 356–57
7. जोशी, नीलकण्ठ, पुरुषोत्तम जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ. 169

अभिलेखों में भी गणेश का उल्लेख इसी काल से प्रारम्भ हो जाता है। यह इस बात का संकेत है कि पाँचवी–छठीं शताब्दी से गणेश एक स्वतंत्र देव के रूप में समाज में स्थापित होने लगे।

भारत की धर्म परम्परा में गणेश विरोधाभासों के समन्वयक व्यक्तित्व के रूप में वर्णित हैं। जैसे, वे विघ्नकर्ता व विघ्नहर्ता दोनों हैं। उनकी शारीरिक संरचना में भी यह विरोधाभास परिलक्षित होता है। धड़ मानव का तथा मुख गज का। उन्हें दुष्ट आत्माओं, सप्तमातृकाओं, जो शारीरिक और मानसिक रोगों को जन्म देने वाली हैं, तथा मृत्युपरक जीव जैसे सर्प तथा नवग्रहों, जो मनुष्य के भाग्य पर ग्रहण लगाते हैं, के साथ वर्णित किया गया है। उनके गले में माला तथा कमर में सर्प लिपटा हुआ प्रदर्शित किया जाता है।

गुप्तोत्तरकालीन पुराणों में गणेश शिव–पार्वती के पुत्र बन जाते हैं। शिव गणों के प्रमुख के रूप में भी वे परिकल्पित हैं। मानवगृह सूत्र और याज्ञवल्क्य स्मृति के विनायक की ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया पुराणों में पूरी होती है। गणेश के रूप में विनायक विस्तृत किन्तु व्यवस्थित और नियमित परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरते हैं। उनका स्वरूप तो मूलतः वही रहता है किन्तु कार्यों में परिवर्तन होता है। परिवर्तन की दोहरी प्रक्रिया यह है कि विनायक अर्थात् ग्राम देवता के रूप में विघ्नकर्ता हैं तथा गणेश के रूप में पौराणिक देवता हैं।[1] ब्राह्मणीय देव समुदाय में गणेश की स्वीकारोक्ति और उनका उत्थान स्पष्ट रूप से कला में व्यक्त होता है। पौराणिक देव के रूप में उनकी शक्ति, अधिकार एवं क्षेत्र विस्तृत हुये। फलतः उनकी भुजाओं, आयुधों तथा मूर्तियों के अलंकरण में क्रमिक अभिवृद्धि दिखती है। प्रारंभिक, चरण में गणेश शिव मंदिर में विनीत स्थिति में अभिव्यक्त हुये हैं। वे द्वार देवता हैं। अग्रमण्डप, मुखमण्डप और अर्द्धमण्डप की दीवारों पर वह पार्वती के साथ अंकित हैं। मंदिर की दीवारों के गवाक्षों में शिव के गण के रूप में स्थापित दिखाई देते हैं। विकास के दूसरे चरण में शिवमंदिरों में वे परिवार देवता या पार्श्व देवता के रूप में अंकित हुये। कालांतर में स्वतंत्र रूप में स्वयं गणेश के मंदिरों का निर्माण हुआ, जिसमें वे मुख्य गर्भगृह में स्थापित हुये।

8वीं–9वीं शताब्दी के मध्य गणेश के अनुयायियों ने अपना स्वतंत्र सम्प्रदाय स्थापित किया, तथा गणेश को समाज में मुख्य देव का स्थान और लोकप्रियता प्रदान करने

1. यादव, निर्मला, गणेश इन इंडियन आर्ट एण्ड लिटरेचर, पृ. 210

हेतु स्वाभाविक प्रयास किया। इस प्रक्रिया में उन्होंने सर्वप्रथम गणेश से संदर्भित स्वतंत्र साहित्य की रचना की। मुद्गलपुराण (900–1300 ई.), गणेश पुराण (1100–1300 ई.) नामक दो पुराण हैं। गणेश पूर्व तापिनी उपनिषद्, गणपति अथर्वशीर्षोपनिषद, गणेश स्त्रोत तापिनी उपनिषद् नामक तीन उपनिषदों की रचना की गयी। इनके माध्यम से गणेश को वैदिक परम्परा से जोड़ने का प्रयास किया गया। प्रमुख पौराणिक देवों ब्रह्मा, विष्णु और शिव से भी उच्च गणेश की सत्ता को स्थापित किया गया। वे सृष्टि के रचनाकार, संरक्षक व संहारक के रूप में प्रतिबिम्बित हुये।[1] उनका निर्विकल्प व निराकार स्वरूप भी व्याख्यापित किया गया।[2] उनका तादात्म्य शिव, विष्णु, रुद्र, अग्नि, प्रजापति और सोम के साथ स्थापित कर उन्हें वेदों द्वारा स्वीकारोक्ति दिलाने का भी प्रयास हुआ। गणेश पुराण में गणेश को उपनिषदों के ब्रह्म स्वरूप की नेति–नेति की अभिव्यक्ति द्वारा सम्बद्ध किया गया है।

गाणपत्य सम्प्रदाय से संबंधित साहित्य में वेद मंत्रों को गणेश से जोड़ते हुये उन्हें इनके लिये प्रयोग किया गया, जिससे गणेश का स्तर देवसमूह में विशिष्ट हुआ। ऋग्वैदिक देव, कविनांकवि, ज्येष्ठराज, ब्रह्मणस्पति, माघवन, द्वैमातुर तथा यजुर्वेद के देवता प्रियपतिनं, निधिपतिं, वक्रतुण्ड आदि उपाधियाँ गाणपत्य उपनिषदों में गणेश के लिये प्रयुक्त हैं।[3] गाणपत्य साहित्य ने गणेश के स्वरूप के विकास में भी वैदिक देवों के स्वरूप से ही तत्व ग्रहण किया। उदाहरणार्थ, अंकुश, वज्र व कमल इन्द्र से, व्याघ्र चर्म और अर्ध चंद्रमा शिव से, पाश वरुण से, कुठार ब्रह्मणस्पति से ग्रहण किये गये। इस तरह उनका स्वरूप वैदिक देवों के सदृश विकसित हुआ।[4]

पारम्परिक पुराणों में देवसमूहों के बीच गणपति को उच्चतम सम्मान प्राप्त हुआ। ब्रह्माण्ड पुराण गणेश को सर्वोच्च देवता स्वीकार करता है।[5] इतना ही नहीं, देवताओं में

---

1. गणेश पुराण, 2.1406–18, देवी पुराण, अध्याय 112–114, में विनायक को ब्रह्मा, विष्णु व शिव से उच्च स्थापित किया गया है।
2. गणपत्यथर्वशीर्ष–4, गणेश पुराण, 2.15.18
3. कृष्णन्, युवराज, वही, पृ. 76
4. कृष्णन, युवराज, वही, पृ. 76–78
5. ब्रह्माण्ड पुराण, 2.3.42.30

अधिदेव के रूप में गणेश को प्रस्तुत करने का प्रयास भी उक्त पुराण में है। शिवपुराण[1] में विनायक की श्रेष्ठता स्थापित की गयी है। शिव को भी असुरों को जीतने के लिये गणेश का आशीर्वाद अनिवार्य बताया है। बह्मवैवर्त पुराण[2] में भी गणेश के महत्व को स्थापित किया गया है। गणेश पुराण[3] में गणेश को ब्राह्मणीय देवसमूह में उच्चतम स्थान दिया गया है। इस पुराण ने गाणपत्य सम्प्रदाय को प्रोन्नत तो किया ही, गणेश को ब्राह्मणीय देवमण्डल में उच्च स्तर पर स्थापित कर उन्हें असाम्प्रदायिक स्वरूप देने का प्रयास भी किया है। मुद्गल पुराण में गणेश के आठ अवतारों की परिकल्पना की गयी है जो इस प्रकार है–वक्रतुण्ड, एकदंत, महोदर, गजानन, लम्बोदर, विकट, विघ्नराज और धूम्रवर्ण। गणेश पुराण में इनके चार अवतारों का वर्णन मिलता है– महोत्कट विनायक, मयूरेश्वर, गजानन और धूम्रकेतु।[4] गणेश के अवतारों की विशिष्टतायें वैष्णव सम्प्रदाय में कल्पित विष्णु की विशिष्टताओं से प्रभावित लगती हैं। लिंग पुराण में शिव स्वतः गणेश से कहते हैं कि हमने अग्रपूजा के रूप में तुम्हारी पूजा के लिये संस्तुति की है।[5] तुम्हारा कार्य लोक कल्याण की भावना को विकसित करना होगा। वाराह पुराण भी गणेश के महत्व को स्वीकार करता है।[6] तांत्रिक ग्रंथ शारदातिलक, रूद्र–यामल, भेरू तंत्र, मंत्रमहोदधि आदि भी गणेश को ओंकार, ब्राह्मण, हिरण्यगर्भ, यन्त्रों के बीज मंत्रों से मण्डल और कुण्डलिनी शक्ति से समीकृत किया है। स्कन्द पुराण में गजानन को महादेवाधिदेव[7] कहा गया है तथा उन्हें सभी देवों द्वारा पूजे जाने योग्य भी वर्णित है।[8] कथासरित्सागर में भी गणेश के महत्व को स्वीकार किया गया है। स्पष्ट है कि गाणपत्य सम्प्रदाय का प्रचार–प्रसार व विकास पूर्व मध्यकाल तक पूर्ण रूपेण हो चुका था।

उपर्युक्त विश्लेषण से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गणपति का उल्लेख

---

1. शिव पुराण, 2.5.10–6
2. ब्रह्मवैवर्त पुराण, 2.75.59–60
3. गणेश पुराण, 1.17, 14.45
4. गणेश पुराण, 2.1.3–6
5. लिंग पुराण, 105.22–23
6. वाराह पुराण, 23.30
7. स्कन्द पुराण, 3.2.12.30
8. वही, 6.214.10

एवं उनकी महत्ता गाणपत्य साहित्य में ही नहीं अपितु अन्य समकालीन साहित्य में भी बतायी गयी है। इसी प्रकार गणेश पुराण में वैदिक गाणपत्य से सम्बंधित विचारों का समावेश किया गया है। अनेक धार्मिक सम्प्रदाय जैसे, वैडवानस, भागवत, सात्वक, पांचरात्र, शैव, पाशुपत, कालामुख, भैरव, शाक्त, सौर, जैन, अर्हत् आदि का भी उल्लेख मिलता है।[1] परन्तु इस पुराण का गणेश की महत्ता के प्रति अत्यधिक सचेष्ट होना, इसकी धार्मिक साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति का परिचायक है। वैष्णव, सौर, शाक्त और शैव सम्प्रदायों के उपासकों द्वारा गणेश को सर्वोपरि स्वीकार करना तथा विष्णु, शिव, पार्वती व अन्य देवों को गणेश के आश्रित के रूप में प्रदर्शित करना, इस ओर संकेत करता है कि संभवतः यही चारों सम्प्रदाय गाणपत्य सम्प्रदाय के प्रतिद्वंदी रहे होंगे।[2]

गाणपत्य संप्रदाय और गणेश पुराण

जिस काल में गाणपत्य सम्प्रदाय का विकास हुआ, उस काल की सामाजिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि जानना भी अनिवार्य है। पूर्वमध्यकालीन समाज में धर्म की नयी–नयी शाखाओं व नये सम्प्रदायों का जन्म, समाज की आवश्यकतानुसार पुराने देवों के स्थान पर नये देवों की प्रतिस्थापना, उनका बढ़ता महत्व, उस समय की परिवर्तित सामाजिक आवश्यकता को दर्शाता है। इन्हीं साम्प्रदायिक एवं धार्मिक स्थितियों के दौर में गाणपत्य सम्प्रदाय का विकास हुआ जो क्रमशः पश्चिमी उत्तरी भारत तथा दक्षिण के क्षेत्र में फैलता गया। गणेश पुराण में गाणपत्य सम्प्रदाय और इससे सन्दर्भित धर्म का विस्तृत विवेचन–स्थापन हुआ है। इस पुराण का मुख्य विषय गणेश के महत्व का विवेचन करना तथा तत्कालीन समाज में उन्हें सर्वोपरि देव के रूप में स्थापित करना था। गणेश के स्वरूप की अवधारणा के साथ–साथ उनकी आध्यात्मिक एवं नैतिक मान्यता का भी विकास हो रहा था। भारतीय धर्म की समन्वयशील प्रवृत्ति ने गणेश की उपासना के सन्दर्भ में समाज में उपस्थित विभिन्न परम्पराओं को समन्वित करने का प्रयास किया। गाणपत्य सम्प्रदाय के अनुयायियों ने गणेश को स्थापित करने के लिए प्राचीन एवं नवीन तत्वों को एक स्थान पर सुव्यवस्थित किया, जिसका अभिव्यक्तिकरण गणेश पुराण के रूप में हुआ। कह सकते हैं कि धर्म के

---

1. गणेश पुराण, 1.46.32–33
2. हाजरा, आर. सी., द गणेश पुराण, पृ. 95

क्षेत्र में स्थापित विभिन्न परम्पराओं के प्रभाववश समाज में एक नयी गाणपत्य परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ।

गाणपत्यों के संदर्भ में जानकारी का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत आनंदगिरि की रचना 'शंकरविजय' है। इसमें विभिन्न धार्मिक मतावलम्बियों के प्रमुखों के साथ शैव दार्शनिक शंकराचार्य (8वीं–9वीं शताब्दी) का वाद–विवाद वर्णित है, जिनमें गाणपत्यों का भी उल्लेख है। इस ग्रन्थ में गाणपत्य सम्प्रदाय की छह शाखाओं का भी उल्लेख हुआ है। वे हैं–उच्छिष्ट गणपति, हेरम्ब गणपति, हरिद्रा महागणपति, समंतन, नवनीत और स्वर्ण गणपति। इनमें उच्छिष्ट और हेरम्ब गणपति आपस में सम्बंधित है। प्रत्येक शाखा के अनुयायी गणपति की पूजा भिन्न–भिन्न नामों, आकारों और मंत्रों से करते है, तथा अपनी शाखा का चिन्ह अपनी बाँह और माथे पर अंकित करवा लेते है।

आज भी यह शोध का विषय है कि क्यों गणपति ही पूजा के केन्द्र बने, जबकि अन्य द्वितीयक देवता जैसे कुबेर, स्कंद, नाग आदि मुख्य स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाये। 'शंकरविजय' को 10वीं–11वीं शताब्दी की रचना माना गया है। इसी काल में गणेश अधिकांश क्षेत्रों में महत्वपूर्ण होने लगे थे। शिलालेखीय साक्ष्य तथा आधुनिक राजस्थान और गुजरात से उपलब्ध उनके पूजा स्थलों व मंदिरों के साक्ष्य भी गणेश के इसी काल में लोकप्रिय होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि इसी काल के कुछ शैवमंदिरों में इन्हें गौण देवता का स्थान दिया गया है। पंचायतन पूजा का विकास शंकराचार्य द्वारा किया गया। इसे 10वीं शताब्दी में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हो गयी। इस पूजा पद्धति में गणेश देव के रूप में स्थापित हुये। उन्हें इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण स्थान भी मिला। 'पंचायतन प्रकार' के शैव मंदिरों में गणेश को महत्वपूर्ण किन्तु गौण स्थान प्राप्त हुआ है। चालुक्य काल में रचित 'सरस्वती पुराण' में वर्णित सहर्षिलिंग झील के पास अनेक देवताओं के तीर्थों और पूजा स्थलों के होने की सूचना देता है। इनमें गणेश से सम्बंधित स्थल भी उल्लेखित हैं।

उत्तर प्रदेश में सरयू नदी के किनारे कुमाऊँ क्षेत्र में बैजनाथ के निकट अनेक मंदिरों के अवशेष मिले हैं। इनमें गणेश की प्रतिमायें भी हैं। ये अवशेष वहाँ के स्थानीय कत्युरि राजवंश से सम्बंधित हैं, जिनका काल 9वीं–10वीं शताब्दी माना गया है। पुराणों

के गणपति से जुड़े तीर्थों के पाये जाने, जैसे गौतमी नदी के किनारे 'अविघ्नतीर्थ[1] तथा मथुरा के निकट यमुना के किनारे 'विघ्नराज तीर्थ'[2] का उल्लेख प्राप्त होता है।

मध्य भारत में एक पाषाण अभिलेख (1181–1182 ई.) तुण्ड और हेरम्ब गणपति के आधुनिक मध्य प्रदेश में अवस्थित मंदिरों की सूचना देता है।[3] 'तुण्ड' सम्भवतः उस गाँव का नाम हैं जहाँ मंदिर बना था। क्योंकि तुण्ड गणपति का उल्लेख किसी भी अन्य ग्रन्थ में नहीं प्राप्त होता।

महाराष्ट्र क्षेत्र में गणपति को सिलाहार वंश (9वीं–10वीं शताब्दी) के प्रायः सभी अभिलेखों में क्रमिक रूप से उल्लेखित किया गया है। यद्यपि यह राजवंश शैव सम्प्रदाय को मानने वाला था। किन्तु इसमें सर्वप्रथम गणेश का आवाहन बाधाओं को दूर करने के लिए किया गया है। इसी प्रकार मोधा परिवार द्वारा दान दिये जाने पर गणेश का आवाहन किया गया है। 'मोधा' स्थानीय ब्राह्मण शासकीय परिवार थे, जो सिलाहार वंश के अधीन कार्यरत थे। सिलाहार और मोधा के दान पत्रों में कार्तिकेय का उल्लेख नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि शिव के दोनों पुत्रों में गणपति ज्यादा महत्वपूर्ण माने जाते रहे होंगे। यद्यपि इनके अभिलेखों में गणेश के स्वतंत्र मंदिरों का कोई उल्लेख नहीं है। सिलाहार वंश का शासन आधुनिक कर्नाटक के कोंकण क्षेत्र में भी था, जहाँ पुराने गणेश मंदिरों के अवशेष प्राप्त हुये हैं। यह असम्भावित है कि गणेश से जुड़ी लोकप्रिय परम्परा एक शासक के एक क्षेत्र में प्रचलित हो और दूसरे क्षेत्र इस परम्परा से अनजान रहे हों।

कर्नाटक के गोकर्ण में स्थित महागणपति का मंदिर प्रसिद्ध प्राचीन गणपति मंदिरों में हैं। उस मंदिर को परम्परानुसार आरम्भिक कदम्ब वंश से सम्बंधित किया गया हैं, जिसका शासन पाँचवीं से छठीं शताब्दी में कर्नाटक के अधिकांश भागों तथा महाराष्ट्र और गोवा तक में स्थापित हुआ। गोकर्ण शैव तीर्थ और महाबलेश्वर के पास एक महत्वपूर्ण मंदिर है। महागणपति मंदिर के निकट एक मूर्ति प्राप्त हुई है। इसके दो हाथ हैं। खड़ी मुद्रा में यह मूर्ति कदम्ब काल के मूर्तिकारों की विशिष्टताओं को द्योतित करती है। यह उपनीपत्तन में पाये गये गणपति मंदिरों की मूर्तियों के समान है। यह स्पष्ट नहीं हो पाया

---

1. ब्रह्म पुराण, 4.44.1–2
2. वाराह पुराण, 2.154.29–30
3. थापन, अनिता रैना, वही, पृ. 177

है कि यह मूर्ति शिवमंदिर की है या किसी अन्य मंदिर की। गणपति छठीं शताब्दी के बाद महत्वपूर्ण हुये होंगे जबकि ये मंदिर और गोकर्ण का मंदिर आरंभिक छठीं शताब्दी के है।(1) कर्नाटक से प्राप्त ये मूर्तियाँ साधारण व अलंकृत हैं। आभूषण और मुकुट का अंकन नहीं है। यह बाद में विकसित मूर्तियों से भिन्न है।

10वीं शताब्दी से गणेश की द्विभुजी मूर्तियाँ दुर्लभ हो गयीं। सामान्यतः चतुर्भुजी मूर्तियाँ ही पायी जाती हैं।(2) अनेक मूर्तियाँ गोकर्ण के गणपति मंदिरों में स्नानद्रोणी पर प्राप्त हुई हैं। यह विशेषता थाइलैण्ड और वियतनाम की सातवीं–आठवीं शताब्दी की गणपति मूर्तियों में भी पायी जाती है।

आंध्रप्रदेश के कुर्नूल जिले में 8वीं शताब्दी के अभिलेख में दण्डीश्वर और गणपति का स्वरूप प्राप्त होता है। यह स्पष्ट नहीं है कि ये एक ही मंदिर में थे या गणपति अलग मंदिर में स्थापित थे। आंध्रप्रदेश के गुंटूर जिले से दसवीं शताब्दी का एक अभिलेख मिला है जिसमें काकुमरानु ग्राम में विनायकोत्सव मनाने का उल्लेख है। स्पष्ट है कि तमिल क्षेत्रों में शिव पंथ में गणपति एक आवश्यक अंग बन गये थे। आगमों ने इन्हें इस काल के पूजा विधानों और परम्पराओं से भी जोड़ दिया।(3)

इस प्रकार दसवीं शताब्दी तक देश के विभिन्न भागों में गणेश के पूजे जाने का प्रमाण प्राप्त होने लगता है। वह तीन राज परिवारों, कदम्ब, सिलाहार और चोल में लोकप्रिय थे।(4) ये तीनों राजवंश ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध थे। स्पष्टतः कहा जा सकता है कि दसवीं शताब्दी तक गणेश आधुनिक कर्नाटक, महाराष्ट्र और तमिलनाडु के क्षेत्र में पर्याप्त लोकप्रिय हो गये थे। इन्हें कृषि उत्सवों से सन्दर्भित परम्पराओं को जोड़कर जनसामान्य के निकट लाने का प्रयास भी किया गया। गणपति मंदिर बने तथा उनमें पूजा के लिये पुजारियों का एक वर्ग विकसित हुआ। विशेष मंदिरों के साथ धीरे–धीरे अनेक पौराणिक कथायें जोड़ दी गयीं। इस प्रकार गाणपत्य सम्प्रदाय अपने मूल रूप में आठवीं शताब्दी में दृष्टिगत होने लगा था।

---

1. जोशी, नीलकण्ठ, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पटना, 1977, पृ. 168
2. यादव, निर्मला, यादव, गणपति इन इण्डियन आर्ट एण्ड लिटरेचर, पृ. 201
3. नागर, शांतिलाल, द कल्ट ऑफ विनायक, पृ. 35
4. थापन, अनिता रैना, वही, पृ. 179

13वीं–14वीं शताब्दी का 'सम्मोह तंत्र'[1] नामक ग्रंथ गणपति को तंत्र के उत्तरी और दक्षिणी दोनों परम्पराओं से जोड़ता है। इस ग्रंथ में गणपति की पाँच शाखाओं का उल्लेख है। गाणपत्य साहित्य की सूची भी इसमें है। यहाँ गणपति के दो प्रमुख देव के रूप में, सर्वोच्च देव के रूप में वर्णित किया गया है। उनसे संदर्भित छोटे–छोटे कार्यों का भी उल्लेख इसमें है। गणपति की पाँच शाखायें वास्तव में पाँच सम्प्रदायों तथा पाँच स्वरूपों की अभिव्यक्ति करती हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि 14वीं शताब्दी तक गणेश के अनेक स्वरूप समाज में प्रचलित हो चुके थे। आगमों में गणेश के बारह[2] और सोलह स्वरूपों[3] का उल्लेख है। इनसे स्पष्ट है कि गणेश चौदहवीं शताब्दी तक समाज में पूर्णतया प्रतिस्थापित हो चुके थे।

धुर्रे महोदय ने महाराष्ट्र के 13वीं शताब्दी के विचारक ज्ञानेश्वर का उल्लेख करते हुये उनकी प्रतिस्थापना की ओर ध्यान आकर्षित किया है। ज्ञानेश्वर ने ओम् को गणेश के शारीरिक स्वरूप से समीकृत करते हुये व्याख्या की है।[4] 13वीं–14वीं शताब्दी में ही महाराष्ट्र के निकट पुणे में गणेश के प्रसिद्ध चिंचवाड मंदिर का निर्माण मोरे गोसावी ने किया।

15वीं शताब्दी के सरस्वती गंगाधर ने अपने ग्रंथ 'गुरुचरित' तथा एकनाथ ने अपने ग्रन्थ 'रुक्मणी स्वयंबर' में विभिन्न कथाओं के माध्यम से गणेश को देवाधिदेव के रूप में प्रस्तुत किया है। 17वीं शताब्दी के मराठी संत रामदेव ने गणेश को मंगलमूर्ति तथा सभी सिद्धियों के प्रदाता देव के रूप में स्थापित किया। गणेश को पेशवाओं ने कुलदेव के रूप में स्वीकार कर उन्हें नवजागरण तथा सामाजिक व सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक रूप में रखा। इनके माध्यम से राजनीतिक एकता लाने का प्रयास बालगंगाधर तिलक ने भी किया।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि तीसरी से आठवीं शताब्दी तक के पौराणिक साक्ष्य गणेश को महत्वपूर्ण देवता बताते हैं। लेकिन उनके स्वतंत्र सम्प्रदाय की जानकारी

---

1. भट्टाचार्य, एन. एन., हिस्ट्री ऑफ शाक्त रिलिजन, पृ. 123
2. शंकर विजय, पृ. 87
3. अजीतागम, खण्ड–3, क्रियापद, 55.1–19
4. धुर्रे, जी. एस., गॉड्स एण्ड मेन, बाम्बे, 1962, पृ. 107

इनमें नहीं है। नवीं से तेरहवीं शताब्दी तक का कालखण्ड अवश्य महत्वपूर्ण है। पूर्ववर्ती चरण में गणेश न केवल लोकप्रिय हो चुके थे अपितु शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर के साथ–साथ बौद्ध एवं जैन धर्मों में भी महत्वपूर्ण देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। यह स्वाभाविक लगता है कि उनका अगला विकास एक ऐसे देवता के रूप में हुआ जिसको केन्द्र में रखकर एक स्वतंत्र सम्प्रदाय विकसित हुआ। इसे विकसित करने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ 'गणेश पुराण' है। 'मुद्गल पुराण' भी इसी कोटि का ग्रंथ माना जा सकता है। इस कालखण्ड में निर्विवाद रूप से गाणपत्य सम्प्रदाय एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था।[1]

गणेश का स्वतंत्र स्वरूप : अभिलेखीय साक्ष्य

अभिलेख, किसी देश के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक विकासक्रम को जानने के अत्यंत महत्वपूर्ण साधन होते हैं। इतिहास, कला, वास्तु और पुरातत्व के सन्दर्भ में प्रामाणिक साक्ष्य के रूप में इनका प्रयोग होता है। स्वतंत्र देवता के रूप में गणेश की उपासना के अभिलेखीय साक्ष्य छठीं शताब्दी से प्राप्त होने लगते हैं।

छठीं शताब्दी की गर्दीज नामक स्थान से उपलब्ध एक प्रतिमा, जो वर्तमान में काबुल संग्रहालय में है, उल्लेखनीय है। इसके नीचे अभिलेख उत्कीर्ण है। इसमें मांसल शरीर वाले महाविनायक 'अलिद्ध' मुद्रा में खड़े हैं। शुण्ड बायीं ओर मुड़ी है। यद्यपि यह टूटी हुई अवस्था में है। शीर्ष पर मुकुट और गले में आभूषण सुशोभित है। कान पत्तों के गुच्छों के सदृश हैं। नागयज्ञोपवीत चतुर्भुजी मूर्ति द्वारा धारित है। चीते की खाल पहने हैं। इसमें गणेश लम्बोदर तथा उर्ध्वमेधरं स्वरूप में हैं। इस प्रतिमा के नीचे 'महाविनायक' लेख अंकित है।

सातवीं शताब्दी के युगकर वर्मन के ब्रह्मौर ताम्रपत्र के अभिलेख का प्रारंभ 'ॐ गणपतये नमः' से किया गया है। इन उपलब्ध साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि छठीं–सातवीं शताब्दी में गणेश स्वतंत्र रूप से उपास्य देवता बन गये थे। सातवीं शताब्दी के ही कुछ अन्य अभिलेख भी मिले हैं जो गणेश की स्वतंत्र देव के रूप में स्थिति प्रगट करते हैं, जैसे–ब्रह्मौर से ही सातवीं शताब्दी की एक कांस्य प्रतिमा मिली है जिसकी स्थापना

1. थापन, अनिता रैना, वही, पृ. 10

मेरुवर्मन ने करायी थी। इस प्रतिमा पर एक लेख अंकित है, जिसका आरंभ गणपति नमन से होता है –

'ओऽम् नमः गणपतये। भूषण स्वगोत्रादित्यंवंशसम्भूत श्री आदित्य वर्मनदेव प्रपौत्र (1.2) श्री वलवर्म्मदेवानु पौत्र श्री दिवाकर वर्मनदेव–सूनुना।। (1.3) महाराजाधिराज श्री मेरुवर्म्मना कारायिते देव धर्म्मो यं (1.4) कर्म्मीण गुंजेण।'

इसी काल के भास्करवर्मन के निधानपुर अभिलेख में गणपति की उपासना सम्बन्धी श्लोक मिलता है –

गन्धर्वती तस्माद् गणपतिमिव दानवर्षणम् जस्राम।

गणपति गणित गुण गणमसूत कलिहानये तनयम्।।

724 कलचुरि संवत् के गुर्गी अभिलेख में मंदिर के मुख्य द्वार पर गणेश और सरस्वती प्रतिमा की प्रतिष्ठपना का विवरण अंकित है। यह उल्लेख इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि सरस्वती और गणेश विद्या और बुद्धि के अधिष्ठात्र देवता के रूप में वर्णित किये गये हैं।

8वीं शताब्दी के भैरमकोंडा अभिलेख में विक्रमादित्य के शासन काल में एक अधिकारी द्वारा गणपति व नन्दिकेश्वर की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने का विवरण दिया गया है। उड़ीसा के पास उदयगिरि तथा खण्डगिरि गुफा समूह में एक गुफा का नाम 'गणेश गुफा' है, जिसमें 9वीं शताब्दी का चार पंक्तियों का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। इसमें गणेश का उल्लेख 'गजस्य' के रूप में है, जिनके समक्ष शांतिकर नामक व्यक्ति ने दान दिया था। इसी प्रकार 822 ई. के खण्डेल अभिलेख में भवानी पार्वती के उल्लेख के साथ–साथ उनके दोनों पुत्रों, स्कंद और गणेश, का भी नाम है।

960 ई. के मठ्यदेव के राजौर अभिलेख में लच्छुकेश्वर मंदिर के समीप विनायक की प्रतिमा स्थापित करने का उल्लेख है। 998 ई. के भंडारादानपत्र में विनायक की अत्यंत मनोरम स्तुति की गयी है।

11वीं शताब्दी के सोमेश्वर द्वितीय के कदम्ब अभिलेख तथा चिंचिनी से प्राप्त चामुण्डराज के ताम्र अभिलेख में गौरी और गणेश की स्तुतियाँ हैं। इसी प्रकार 1049 ई.

के मुमुनीराज के ताम्रदानपत्र में गणेश को सभी विघ्नों को दूर करने वाला बताया गया है।

लभते सर्व कार्येषु पूजया गणनायकः।

विघ्नं विघ्नस्रवः पापाद् पापाद्गणनायकः।।

12वीं शताब्दी के माउन्ट आबू के नेमिनाथ मंदिर में उत्कीर्ण एक अभिलेख में यह उल्लेख मिलता है कि "गणेश यद्यपि शांत स्वभाव के हैं, किन्तु क्रोध में रक्तिम हो जाते हैं। वे ध्यान में आँखे बंद किये रहते हैं परन्तु सब कुछ देखते रहते हैं।" कलचुरि संवत् 926 के रेवा ताम्रपत्र में गणेश चतुर्थी के अवसर पर जयसिंह नामक शासक द्वारा दान पत्र देने का विवरण प्राप्त होता है। 12वीं–13वीं शताब्दी (1126–1204 ई.) के मध्य के जयचंद के बैजनाथ प्रस्तर अभिलेख में 'ऊँ नमो गणपत्योः' लिखित है, जिसके आधार पर दिनेश चंद्र सरकार ने यह संभावना व्यक्त की है कि इसमें गणेश के साथ–साथ उनकी शक्ति का भी उल्लेख है।

गणेश की उपासना 12वीं शताब्दी के बाद तक प्रतिष्ठित रही। जिसके प्रमाण 13वीं शताब्दी के मोटुपल्ली पाषाण अभिलेख मलकापुरम् पाषाण अभिलेख (1244–45ई.) दोनेपुण्डी दानपत्र (1259 ई.), गणेशवर्मन अभिलेख (1231 ई.), गुण्टूर जिले से प्राप्त एनामडाला अभिलेख (1250 ई.) इत्यादि संदर्भित किये जा सकते हैं। इस प्रकार के अभिलेखीय साक्ष्यों से भी प्रायः सम्पूर्ण भारत में गणेश की उपासना की व्यापकता का प्रकाश पड़ता है।

किसी भी धर्म का आन्तरिक विकास सामंजस्य एवं समन्वय की उस प्रक्रिया को रेखांकित करता है जिनके द्वारा देश एवं काल की परिवर्तनशील सामाजिक प्रासंगिताओं के साथ धर्म स्वयं को समायोजित करता है। प्राचीन भारतीय धार्मिक परम्परा में अवतारवाद द्वारा मुख्य देवता के साथ गौण देवताओं तथा प्रतीकों की पूजा को भी जोड़ा गया था। इस मौलिक अभियोजन में पुरातन प्रागैतिहासिक एवं वैदिक तत्वों का नैरंतर्य तथा चिरंतनता तो दिखाई देती है, साथ ही सामाजिक, धार्मिक समरसता एवं मुख्य देवता से जुड़े सम्प्रदाय के विस्तार का मार्ग भी सहज ही प्रशस्त होता है।

समाज निरंतर विकसित होता रहा है। विकास के साथ–साथ उसकी धार्मिक

मान्यतायें तथा दृष्टिकोण भी विकसित होते रहे हैं और उन्हीं के साथ–साथ देवताओं के स्वरूप भी परिवर्तित हुये हैं। वास्तव में, हिन्दुओं के सजीव एवं क्रियाशील विश्वास सदैव गतिशील, परिवर्तनशील तथा समायोजनशील रहे हैं। उनमें मानव स्वभाव तथा समय की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। यह तथ्य ब्रह्मणवादी ग्रन्थों में परिलक्षित होने वाली परम्परा के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। इस तथ्य को इस प्रकार भी व्याख्यायित कर सकते हैं कि मनुष्य की अधिकांश आवश्यकतायें भौतिकवादी रहती हैं। अधिकांश धर्म ग्रन्थ धार्मिक रीति–रिवाजों, उपवासों, तीर्थ–यात्राओं तथा उन प्रार्थनाओं के सन्दर्भ का वर्णन करते हैं जो भौतिक लाभ प्रदान करती हैं। भौतिकवादी आवश्यकतायें भी परिवर्तित होती रहती हैं। अतएव देवी–देवताओं का महत्व भी देश तथा काल के अनुसार घटता–बढ़ता रहता है। भौतिकवादी आवश्यकताओं का प्रभाव धार्मिक जीवन पर भी पड़ता है। इसलिये धार्मिक विकास तथा उसके परिवर्तन को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करना आवश्यक है।

ईसा की प्रारंभिक शताब्दी में विष्णु महत्वपूर्ण देव के रूप में उभरे। उन्हें प्रतिस्थापित करने के लिये उनसे सम्बद्ध साहित्य की रचना भी हुई। उन रचनाओं में बदलती हुई सामाजिक परम्परा तथा मान्यतायें परिलक्षित होती हैं। उदाहरण के लिये, ब्राह्मणवादी संस्कृति का मध्य देश में प्रसार तथा उसका बौद्ध और जैनवाद की चुनौती से ऊपर उठने का प्रयास, इस साहित्य में स्पष्टतया झलकता है। आगे चल कर धर्म विभिन्न प्रकार के नये शास्त्रीय समूहों से जुड़ा। उसमें समन्वयवादी विचारधारा अपनायी गयी। परिणामस्वरूप वैदिक देवों के स्थान पर नये देवों ने अग्रगण्यता प्राप्त की। नई पौराणिक परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ। पुराने देवों के नये प्रतिरूपों को महिमामण्डित किया गया।[1] इन नये देवों के प्रादुर्भाव के परिणाम से अनेक अवैदिक देव विस्तृत देवमण्डल के समूह से जुड़ गये। ऐसे पूज्य देवों से संदर्भित नये विश्वास, नयी मान्यतायें, परम्परायें, उत्सव, तीज–त्योहार आदि पुराणों तथा साहित्य के माध्यम से विकसित हुये। इसी प्रकार की विभिन्न धार्मिक मान्यतायें वैदिक, तांत्रिक, पाशुपत तथा पांचरात्र धाराओं के अंतर्गत पुराणों में दिखाई देती हैं।[2]

---

1. झा, श्रीमाती, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1997, पृ. 318
2. वर्मा, हरिश्चन्द्र, मध्यकालीन भारत (750–1540) प्रथम भाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1987, पृ. 74

इसी पृष्ठभूमि के अंतर्गत 400 से 1400 ई. के बीच गणेश ने पूर्ण विकसित स्वरूप प्राप्त किया। शिव के गण के रूप में प्रारंभिक स्थिति से ऊपर उठकर वे प्रमुख देव के रूप में स्थापित हुये तथा अन्य ब्राह्मणवादी देवों से जुड़ गये। शिव से अलग उनका एक नया सम्प्रदाय विकसित हुआ।[1]

पूर्वमध्यकाल में ब्राह्मणवाद के अंतर्गत अनेक संप्रदाय थे जिनमें से कुछ आज भी नव हिन्दूवाद के भीतर अपनी निरन्तरता बनाये हुये हैं।[2] इनमें तीन सम्प्रदाय प्रमुख हैं–शैव, वैष्णव तथा स्मार्त। शैव तथा वैष्णववाद के अंतर्गत अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ जिनमें से कुछ का अस्तित्व समाप्त हो चुका है। शैव शिव को प्रमुख देव के रूप में स्वीकार करते हैं। वैष्णव विष्णु को प्रमुख देव मानते हैं, जबकि स्मार्त में पंचदेवों की उपासना प्रचलित है। पंचदेवों में शिव, विष्णु, सूर्य, गणपति तथा शक्ति हैं। इनमें से किसी एक देव की पूजा की जा सकती है। सूर्य, गणपति तथा देवियों के भी क्रमशः सौर, गाणपत्य तथा शाक्त सम्प्रदाय विकसित हुये। यद्यपि आज इन संप्रदायों का अस्तित्व नहीं है फिर भी स्वतंत्र रूप से इन देवों की पूजा अब भी समाज में की जाती है।[3]

प्रत्येक युग विशेष सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक स्थितियों का बोधक होता है। राज्य का सामंतवादी संगठन, बंद अर्थव्यवस्था की ओर प्रत्यावर्तन, जातियों का प्रगुंजन, कला, लिपि तथा भाषा के क्षेत्रीयतावादी स्वरूप तथा भक्ति एवं तंत्र का मध्ययुग में विकास हो चुका था। पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि कतिपय नई आर्थिक प्रवृत्तियों ने तैयार की। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय भूमिदान की प्रवृत्ति थी।[4] राजा तथा सामंत धर्म–कर्म से संबंधित व्यक्तियों–समूहों, संस्थाओं, सरकारी अमलों को बड़े पैमाने पर भूमि तथा राजस्व के अधिकार प्रदान करने लगे थे। दान क्षेत्र राजकीय हस्तक्षेप से मुक्त कर दिये जाते थे। उनके प्रशासनिक अधिकार भी दानभोगियों को ही सौंप दिये जाते थे। 11वीं तथा 12वीं शताब्दी में उत्तर भारत के राजपूत राज्यों में इस तरह के दान का उल्लेख मिलता है। भूमिदानों से मध्यदेश की ब्राह्मण

1. थापन, अनीता रैना, अण्डरस्टैंडिंग गणपति, मनोहर प्रकाशन, अध्याय 4, पृ. 130
2. थापन, अनीता रैना, अण्डरस्टैंडिंग गणपति, मनोहर प्रकाशन, अध्याय 4, पृ. 15
3. वही, पृ. 15
4. शर्मा, आर. एस., पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 1998, पृ. 18

संस्कृति के फैलाव में आयाम जुड़ गया। दकन में सातवाहनों ने इस संस्कृति को प्रश्रय दिया। सही संदर्भों में, व्यापक स्तर पर ब्राह्मणीकरण गुप्तकाल से आरंभ हुआ। इस काल तक ब्राह्मण मध्यदेश में भलीभाँति प्रतिष्ठित हो चुके थे। वहाँ से उनका बाहरी प्रदेशों की ओर प्रसार हुआ। ब्राह्मणों का गाँवों की ओर पलायन व्यापारिक ह्रास के कारण हुआ। सीमांत क्षेत्रों में ब्राह्मणों को दिये गये भूमिदान के माध्यम से उन प्रदेशों में ब्राह्मणीय संस्कृति का प्रसार हुआ। भूमिदान के कारण ही कबायली क्षेत्रों का ब्राह्मणीकरण हुआ। जिसके फलस्वरूप संस्कृतिकरण भी हुआ। ब्राह्मणीय धर्म मध्यदेश से बाहर के इलाकों में धीरे–धीरे फैला।

एक ओर ब्राह्मणीकरण के कारण मध्यदेश के आस–पास के क्षेत्रों का संस्कृतिकरण हो रहा था, वहीं दूसरी ओर, राजनीतिक विखराव और क्षेत्रीयतावाद के विस्तार के कारण बाहरी आक्रमण भी होने लगे थें अरबों के निरन्तर आक्रमणों के कारण उत्तर तथा पश्चिम भारत की राजनीतिक–सामाजिक स्थितियों में भारी परिवर्तन आया। इन आक्रमणों के समय राजपूत शासक उत्तर–पश्चिम भारत में राजनीतिक भविष्य की बागडोर सँभाल रहे थे। इनकी राजनीतिक नीतियों का ताना–बाना इतना दुर्बल था कि प्रशासन में किसी प्रकार की एकरूपता न रही। कोई भी राज्य निश्चित नीति निर्धारित न कर सका। फलतः सामंतवादी राजनीतिक पद्धति के साथ–साथ विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति तथा उससे उत्पन्न मतभेद जोर पकड़ने लगे। जिसके कारण समाज अत्यंत जटिल दौर से गुजर रहा था।[1] एक ओर राजनीतिक विकेन्द्रीकरण, सामंतवादी प्रवृत्तियाँ, कमजोर अर्थव्यवस्था तथा दूसरी ओर वाह्य आक्रमणों का दबाव। समाज को उस समय ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो उसे प्रश्रय दे सकता तथा परिवर्तित परिस्थितियों में नये मूल्यों, मान्यताओं की स्थापना भी करता। तत्कालीन धर्म ने जन सामान्य की दुर्बल मनःस्थिति को दृढ़ आधार देने का प्रयास किया। परिणामतः अलग–अलग क्षेत्रों में अनेक संप्रदायों एवं उनकी शाखाओं का सृजन तथा विकास हुआ। क्षेत्र के लोगों की मनःस्थिति तथा आवश्यकता के अनुरूप नवीन देवों की प्रतिस्थापना हुई।

विदेशी आक्रमण का केन्द्र प्रारम्भ में पश्चिमोत्तर भारत था। भारतीय जनमानस

---

1. शर्मा, आर. एस., पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 1998, पृ. 21

में विदेशी आक्रान्ताओं के प्रति घृणा तथा भय स्वाभाविक रूप से व्याप्त थे। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि जिन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों में गणेश पुराण की रचना हुई है, उनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब इसमें दिखता है।[1]

गणेश पुराण की रचना जिस क्षेत्र में हुई है तथा जिन भौगोलिक क्षेत्रों का वर्णन इसमें है उसके बारे में विवेचन–विश्लेषण आवश्यक है।

हाज़रा ने गणेश पुराण को सौराष्ट्र तथा महाराष्ट्र क्षेत्र से सम्बद्ध माना है। पौराणिक गणपति की परम्परा मध्यदेश में प्रसारित हुई। गणेश पुराण में जिन क्षेत्रों का वर्णन हुआ है, वे हैं–महाराष्ट्र, वाराणसी, कर्नाटक तथा आन्ध्र के कुछ क्षेत्र।[2] कार्टराइट ने भी गणेश पुराण का क्षेत्र महाराष्ट्र तथा उसके आसपास का माना है। अनिता रैना थापन ने गणेश पुराण में वर्णित कुछ महत्वपूर्ण तीर्थ स्थलों के आधार पर इसका क्षेत्र महाराष्ट्र तथा उत्तर भारत निर्धारित किया है।[3] गणेश पुराण में उल्लिखित चिन्तामणिपुर, कदम्बपुरा, सिद्धिक्षेत्र[4] गणेशपुरा, पुष्पकपुर, मयूरेश्वर[5] आदि स्थलों का वर्णन मुद्गल पुराण में भी प्राप्त होता है। कदम्बपुर को आधुनिक युतमाल जनपद के कलम्ब ग्राम से और महाराष्ट्र के कदम्बगिरि से जोड़ा गया है, जहाँ पर भूमिगत चिन्तामणि मंदिर है। यद्यपि इसकी तिथि अनिश्चित है। सिद्धि क्षेत्र को विद्वानों ने सिद्धिटेक से जोड़ा है। अष्टविनायक के मंदिरों में एक स्थल यह भी उल्लिखित किया गया है।[6] इसके अतिरिक्त काशी, सौराष्ट्र आदि स्थलों का भी वर्णन इसमें है। नर्मदा के आस–पास के क्षेत्रों का भी उल्लेख है। इनके आधार पर गणेश उपासना तथा गणेश पुराण का भौगोलिक क्षेत्र महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों को माना जा सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने पर यह तथ्य प्रकाश में आता है कि इसी पश्चिमोत्तर क्षेत्र से अरबों के आक्रमण भी हो रहे थे। जन सामान्य के लिये सहज जीवन जीना भी दूभर हो रहा था। यह सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक उथल–पुथल

---

1. गणेश पुराण, उपासना खण्ड, भूमिका, पृ. 8
2. थापन, अनीता रैना, अंडरस्टैंडिंग गणपति इनसाइट्स इनटू द डायनेमिक्स ऑफ द कल्ट, पृ. 21
3. थापन, अनीता रैना, वही, 1997, पृ. 203
4. गणेश पुराण, 1.18.2
5. वही, 1.82.19
6. मुद्गल पुराण, 1.3.21.32

का काल था। बाहरी आक्रमण ने सारी व्यवस्थायें छिन्न–भिन्न कर दी थीं। पश्चिमोत्तर क्षेत्र में किसी ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो इन्हें इन विघ्नों से लड़ने की आत्मशक्ति प्रदान करने तथा नयी परिस्थितियों में नये मूल्यों तथा परम्पराओं की स्थापना करने में समर्थ हों। इन्हीं परिस्थितियों में पश्चिमोत्तर भारत में गणेश की पूजा का प्रचलन बढ़ा। गणेश का स्वरूप पुराणों में, 'विघ्नहर्त्ता' के रूप में आरेखित किया जा रहा था। 'विघ्नकर्ता' की कल्पना तभी पुष्ट हो सकती थी जब विघ्न दैनिक जीवन में उपस्थित हों। निरन्तर पतनशील हो रही सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिस्थितियों में विघ्नकर्ता गणेश को उत्थान एवं कल्याण का प्रतीक बनाया गया। इस आस्था ने जनसामान्य को आत्मिक शक्ति, मानसिक स्थिरता तथा भावनात्मक स्तर पर संबल प्रदान किया। मराठा शक्ति ने मध्ययुग में तथा बालगंगाधर तिलक ने स्वतंत्रता संग्राम की पृष्ठभूमि में गणेश को सामाजिक, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष का प्रतीक बनाकर भारत की सुषुप्त चेतना को जाग्रत करने का प्रयास किया था। इस क्षेत्र में गाणपत्य सम्प्रदाय उभरकर महत्वपूर्ण रूप से सामने आया। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने गणेश को प्रचारित, प्रसारित तथा स्थापित करने के लिये उनसे सम्बद्ध साहित्य की रचना की, जो गाणपत्य साहित्य के नाम से जाना जाता है। इनमें गणेश पुराण का प्रमुख स्थान है। गणेश के विषय में अनेकानेक कथाएँ तथा लीलाएँ इसमें वर्णित हैं।

गणेश पुराण की विषयवस्तु

गणेश पुराण उपपुराण है। इसमें 'सर्व जगन्नियंता' पूर्ण परमतत्व के रूप में 'गणपति तत्व' को व्याख्यायित किया गया है। इस पुराण में कुल 247 अध्याय हैं। श्लोकों की संख्या 11079 है। इसमें दो खण्ड हैं :

1. उपासना खण्ड
2. क्रीडा खण्ड

उपासना खण्ड के अंतर्गत 92 अध्याय हैं। इसमें 4093 श्लोक हैं। इस खण्ड में गणेश की उपासना, पूजा, व्रत, मंत्र तथा उनके सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों की विवेचना की गयी है। इसके अतिरिक्त आचार[1] एवं कर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है।

---

1. गणेश पुराण, 1.2.4–38

दूसरा खण्ड क्रीडा खण्ड है, जिसमें 155 अध्याय तथा 6986 श्लोक हैं। इसमें गणेश के विभिन्न अवतारों, स्वरूपों तथा लीलाओं का वर्णन है।

गणेश पुराण की कथा सूत जी ने शौनक ऋषि के नैमिषारण्य आश्रम में आयोजित किये गये बारह वर्षीय यज्ञ में आये कुछ ऋषियों के आग्रह पर सुनाया।[1] गणेश पुराण में ही उल्लिखित है कि व्यास ऋषि ने 18 पुराणों व 18 उपपुराणों की रचना की, क्योंकि कलियुग में वेदों का अध्ययन बंद कर दिया गया था। जाति के निर्धारित किये गये कर्मों का पालन नहीं किया जाता था। वर्णसंकर जातियाँ उत्पन्न हुईं। लोग विभिन्न प्रकार के पापों में लिप्त थे। इतिहासकारों ने कलि का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया है, परन्तु मुख्य रूप से स्थापित समाज व्यवस्था के नियमों का उल्लंघन का अर्थ कलि तथा उसके लक्षणों का प्रकट होना माना गया है। हाजरा ने पौराणिक साहित्य से ज्ञात कलि वर्णन के तीन कालक्रमिक स्तर बताये हैं। प्रारंभिक समूह के वर्णनों का संबंध तीसरी शताब्दी से, दूसरे समूह के वर्णनों का आठवीं शताब्दी तथा तीसरे समूह का वर्णन दसवीं तथा उसके आस–पास के काल से किया है।[2] हाजरा ने जिन कालों की पहचान कलियुग के रूप में की है उनमें से प्रत्येक में विदेशी आक्रमण, अस्थिरता, सामाजिक तनावों, संघर्षों तथा पाखण्डी संप्रदायों का बोलबाला था। कलियुग में चतुर्दिक असुरक्षा, अव्यवस्था का साम्राज्य था। इस स्थिति में 'योगक्षेम' का विनाश हो गया।[3] योगक्षेम का अर्थ सामान्य रूप में जन कल्याण लगाया जाता है। सामाजिक अस्थिरता, वर्ण संघर्ष, पाखण्ड की स्थिति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। हरिवंश से ज्ञात होता है कि निस्सार, असहाय तथा क्षुभित संसार में कर–भार से पीड़ित जन वनों में जा बसेंगे।[4] तीसरी–चौथी शताब्दी के पुराणों में वर्णित है कि विभिन्न वर्ण अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो गये। उन्होंने कर देना तथा श्रम के रूप में सेवा देना बंद कर दिया। इससे वर्णसंकर की स्थिति उत्पन्न हुई। राजकीय संरक्षण भी नहीं था। पुराणों के तीसरी–चौथी शताब्दी में वर्णित अंशों में इस

---

1. वही, 1.3–9
2. हाजरा, आर. सी., स्टडीज़ इन द पुराणिक रेकर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, द्वितीय संस्करण 1975, पृ. 210–7 (वायु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, विष्णु पुराण)
3. महाभारत, शान्ति पर्व, 70.20, गीता प्रेस, 1996
4. हरिवंश पुराण 117.23, चित्रशाला प्रेस, पूना 1936

स्थिति को कलियुग कहा गया। अतः धर्म की रक्षा हेतु पुराणों की रचना की गई।[1] गणेश पुराण की केन्द्रीय तथा सोमकान्त से संदर्भित है, जो सौराष्ट्र के देवनगर का शासक था। वह अचानक कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गया।[2] फलस्वरूप उसने अपने पुत्र हेमकान्त को राजगद्दी पर बिठाया तथा उसे नीति और आचार संबंधी विभिन्न निर्देश दिया। अपनी पत्नी सुधर्मा तथा दो मंत्रियों के साथ वह जंगल में चला गया।[3] विश्राम करते समय एक झील के किनारे सुधर्मा की भृगु ऋषि के पुत्र च्यवन से भेंट हुई। च्यवन के पूछने पर उसने अपने पति के सबंधं में सब कुछ बता दिया। भृगु ने उन सब को अपने आश्रम में बुलाया।[4]

सोमकान्त ने जब भृगु से अपने रोग का कारण तथा उपचार पूछा तब उन्होंने अपनी त्रिकालदर्शी शक्ति से उसके पूर्वजन्म की कथा विस्तारपूर्वक सुनाई।[5]

पूर्वजन्म में सोमकांत विंध्यपर्वत के निकट कोल्हारनगर में कामन्द नाम के एक वैश्य परिवार में उत्पन्न हुआ था।[6] अपने अभिभावकों की मृत्यु के बाद वह अत्यंत निरंकुश हो गया। फलतः उसकी पत्नी भी उसे छोड़कर चली गयी।[7] वह वैश्य भी जंगल में चला गया। वहाँ जाकर वह अबोध राहगीरों पर, यहाँ तक कि ब्राह्मणों पर भी, अत्याचार करने लगा।[8] लूट–पाट व अत्याचार द्वारा उसने अत्यधिक धन उपार्जित कर लिया। वृद्धावस्था में कमजोर और असहाय हो जाने पर अपने सम्बन्धियों आदि से किसी प्रकार का सहयोग उसे न मिला। तब उसे युवावस्था में किये गये अपने कर्मों पर पश्चाताप हुआ। उसने अपनी सारी सम्पत्ति विद्वान् ब्राह्मणों को देने का निश्चय किया। किंतु सभी ने पापकर्म से अर्जित धन को लेने से अस्वीकार कर दिया।[9] इस प्रकार उसके मन में व्याधि, स्वजनों के त्याग तथा ब्राह्मणों के तिरस्कार के कारण अत्यधिक अनुताप हुआ।[10]

---

1. गणेश पुराण, 9.37–39
2. वही, 1.123–38
3. वही, 1.3–3–50
4. गणेश पुराण, 1.6–10–14
5. वही, 1.7–2–7
6. वही, 1.7.6–10
7. वही, 1.7.14–15
8. वही, 7.30–41
9. वही, 1.8.3–16
10. वही, 1.8. 19

ब्राह्मणों के निर्देशानुसार उसने इस धन से वन में स्थित गणेश के एक प्राचीन मंदिर का जीर्णोद्धार कराने का निश्चय किया। शीघ्र ही उसने बावड़ी–बगीचे तथा रत्नजड़ित स्तंभों वाले मंदिर का निर्माण कराया।[1] कुछ समय के बाद उसकी मृत्यु हो गयी।[2]

मृत्यु के उपरांत यम द्वारा यह पूछे जाने पर कि तुम पुण्य कर्मों का फल पहले भोगना चाहोगे या पापकर्मों का। उसने पहले पुण्य कर्मों का फल भुगतने की इच्छा प्रकट कीं।[3] भृगु ने कहा–तुम सौराष्ट्र देश के बलशाली राजा बने, अब तुम्हारे पुण्य कर्म समाप्त हो चुके हैं। पाप कर्मों के फल भुगतने का समय आ गया है। इसी कारण गलित कुष्ठ से पीड़ित हुये।[4]

इस कथा को सुनने के बाद भी सोमकान्त को भृगु के कथन पर विश्वास नहीं हुआ। उसी समय अचानक अनेक पक्षियों ने उस पर आक्रमण कर उसका मांस नोचना आरंभ कर दिया।[5] लज्जित सोमकान्त ऋषि के चरणों पर गिर पड़ा। उनसे अपने कृत्य के लिये क्षमा माँगी। भृगु ऋषि ने गणेश का 108 बार नाम जपकर अभिमंत्रित जल उस पर छिड़का। एक भयावह पाप–पुरुष उसके शरीर से निकला तथा समीपवर्ती आम के वृक्ष पर जैसे ही आश्रय लिया, वह वृक्ष जल कर राख हो गया। सोमकान्त उसी समय रोगमुक्त हो गया।[6]

भयावह रोग एवं पापकर्मों से पूर्णतः मुक्ति हेतु उपाय पूछे जाने पर भृगु ने उसे गणेश पुराण के श्रद्धापूर्वक श्रवण का अनुष्ठान बताया।[7]

सोमकान्त ने भृगु ऋषि की आज्ञा से भृगु तीर्थ में स्नान कर गणेश पुराण सुनने का संकल्प किया। उसने ध्यानपूर्वक समस्त गणेश पुराण का श्रवण[8] किया जिससे न

---

1. गणेश पुराण, 8.19–25
2. वही, 1.8.26–27
3. वही, 1.8.28–29
4. वही, 1.8.30–31
5. वही, 1.8.33–35
6. वही, 1.9.3–14
7. वही, 1.9.19–22
8. वही, 1.9.30–36

केवल उसे दुःखों से मुक्ति मिली, अपितु अमरत्व की प्राप्ति भी हुयी। इस मुख्य कथा के अन्तर्गत अनेक उपकथायें विकसित हुई हैं।

उपासना खण्ड

गणेश पुराण के उपासना खण्ड के आरंभिक अंश 1 से 5 अध्याय तक सोमकांत के प्रतापी राजा होने, गलित कुष्ठ होने पर राज्य अपने पुत्र हेमकण्ठ को देकर, पत्नी सुधर्मा व दो मंत्रियों के साथ वन में जाने तक की कथा का वर्णन है। इन अध्यायों में स्थान–स्थान पर उसके द्वारा पुत्र हेमकण्ठ को दिये जाने वाले आचार, नीति, कर्त्तव्य[1] सम्बन्धी उपदेश, पत्नी के धर्म[2] राजधर्म[3] राजा के गुण[4], विभिन्न स्थलों पर वर्ण, जाति व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था[5] कर्म सिद्धान्तों[6] आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

6 से 9 अध्यायों में सोमकांत व उसकी पत्नी सुधर्मा का वन में भृगु ऋषि से मिलने[7] तथा सोमकान्त द्वारा अपने रोग का कारण पूछने पर ऋषि द्वारा दिव्य दृष्टि से उसके पूर्वजन्म की कथा का वर्णन है।[8] उन्होंने सोमकान्त के पूर्वजन्म में अत्याचारी व लुटेरा वैश्य होने की बात बताई, जो लूट–पाट से विपुल धन–संपत्ति का संचय कर लेता है। किन्तु वृद्धावस्था में उसे अपने कर्मों पर पश्चाताप होता है।[9] समाज व परिवार द्वारा उसकी भी उपेक्षा की जाती है। पाप से अर्जित उसके धन को स्वीकार कोई भी नहीं करता। तब ब्राह्मणों की मंत्रणा पर एक प्राचीन गणेश मंदिर का जीर्णोद्धार कराके यह पुण्य अर्जित करता है।[10] इस जन्म में उस पुण्य कर्म के कारण राजसी सुख तथा पुण्य कर्मों के समाप्त होने पर पापकर्मों के कारण गलित कुष्ठ का दण्ड भुगतना पड़ रहा है।[11] इससे

1. गणेश पुराण, 13.4–8
2. वही, 1.1–35
3. वही, 1.2.9, 1.30
4. वही, 1.3.21–29
5. वही, 1.3–45, 3.13–14
6. वही, 2.22, 4–16
7. वही, 6.11.20
8. वही, 1.7.6–30
9. वही, 1.7.11–25
10. वही, 1.8.20–25
11. वही, 1.8.29–32

मुक्ति के सन्दर्भ में पूछे जाने पर भृगु ने सोमकान्त को गणेश पुराण सुनने का सुझाव दिया। इसके श्रवण से सोमकान्त रोगमुक्त हो सकता है तथा पूर्वजन्म के पापकर्मों का नाश हो सकता है।[1] इन अध्यायों में तत्कालीन समाज में प्रचलित गुरु–शिष्य परम्परा[2], सती–प्रथा[3], वेश्यावृत्ति[4], ब्राह्मणों की समाज में सर्वोच्च स्थिति[5], मन्दिर के स्वरूप तथा जीर्णोद्धार[6] का उल्लेख प्राप्त होता है। गणेश पुराण का ऐतिहासिक विवेचन करने पर क्षेत्र तथा काल निर्धारण में भी सहायता मिलती है।

10वें अध्याय में गणेश के अग्रपूजक स्वरूप की महत्ता बताते हुये कहा गया है कि किसी कार्य के आरंभ में यदि अनादि, अनंत, जागत्कर्ता, जगमय, जगतदाता, सत्–असत्, व्यक्त–अव्यक्त स्वरूप गणेश का पूजन तथा स्तुति न करने पर विघ्नहर्ता गणेश विघ्नकर्त्ता बन जाते हैं।[7] अतः किसी कार्य के आरंभ में ही उसकी निर्विघ्न समाप्ति हेतु गणेश की स्तुति व पूजन अनिवार्य है। अन्यथा, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, श्रौत व स्मार्त कर्मों में भी भ्रांति हो जाती है।[8]

11वें अध्याय में ब्रह्मा जी व्यास से शास्त्रों में वर्णित गणेश के सात करोड़ मंत्रों में दो 'षडाक्षर' व 'एकाक्षर' महामंत्र की महत्ता का वर्णन करते हैं। एकाक्षर मंत्र को 'मंत्रराज' की संज्ञा दी गयी है। इन दोनों को सभी सिद्धियाँ प्राप्त करने वाला सिद्ध मंत्र बताया गया है।[9] साथ ही एकाक्षर मंत्र के अनुष्ठान की विधि भी बतायी गयी है।[10] यह भी वर्णित है कि गणेश में आस्था रखने वाले व्यक्ति को ही इन मंत्रों का ज्ञान कराना चाहिये। अपात्र को देने पर मनुष्य नरकगामी होता है।[11] 12वें अध्याय में गणेश के

---

1. गणेश पुराण, 9.19—22
2. वही, 1.6.2—5
3. वही, 1.6.15
4. वही, 1.6.16
5. वही, 1.6.38—39
6. वही, 1.8.20—24
7. वही, 1.1.22—26
8. वही, 1.10.3—4
9. वही, 1.11.3—4
10. वही, 1.11.11—16
11. वही, 1.11.26

विराट[1], चतुर्भुज[2] एकदंत[3] स्वरूप का वर्णन है। साथ ही प्रलय के पश्चात जब सम्पूर्ण सृष्टि का विनाश हो गया उस समय गजानन ब्रह्म एकाक्षर 'ॐ' रूप में नाद बन गये। फिर वे माया के विकार रूप में परिवर्तित हुये, जिससे सत्व, रजस व तमस गुणों की उत्पत्ति हुयी। इन्हीं से ब्रह्मा, विष्णु व महेश की उत्पत्ति हुई। ये तीनों ही माया से भ्रांत होकर अपने कर्मों के निर्धारण हेतु जगतपिता गजानन को खोजने लगे। अथक प्रयास के पश्चात् गणेश ने उन्हें अपने विराट स्वरूप का दर्शन करवाया।[4]

13वें अध्याय में ब्रह्मा, विष्णु व शिव द्वारा गणेश की स्तुति किये जाने का उल्लेख है, जिसमें गणेश के निर्गुण–निराकार स्वरूप का वर्णन है।[5] इस स्त्रोत को 'स्त्रोतराज' की संज्ञा दी गयी है। इसे सर्वसिद्धिदायक स्त्रोत माना है।[6] गणेश ने ब्रह्मा, विष्णु व शिव के, उनकी प्रसिद्धि हेतु कर्त्तव्य तय किये। ब्रह्मा की रजोगुण से उत्पत्ति के कारण सृष्टि के कर्त्ता, विष्णु के सतोगुण स्वरूप के कारण सृष्टि के पालक व शिव के तमोगुण उत्पत्ति के कारण समय पर संहार करने का कार्य सौंपा।[7] उन्हें विशिष्ट गुण भी प्रदान किया। इन तीनों देवों को उन्होंने उनके कार्यों को यथोचित रूप से सम्पन्न करने हेतु विशिष्ट गुण भी प्रदान किया। जैसे, ब्रह्मा को वेदशास्त्र व पुराणों का ज्ञान व सृष्टि रचने का सामर्थ्य दिया। विष्णु को योग के सामर्थ्य से स्वच्छन्दरूपता अर्थात् इच्छानुसार रूप धारण करने की शक्ति, शिव को 'एकाक्षर' व 'षडाक्षर' मंत्र व समस्त आगमों का ज्ञान व संहार की शक्ति प्रदान की।[8]

सृष्टि करने की प्रेरणा देने हेतु ब्रह्मा को अपने भीतर श्वास द्वारा प्रवेश कराके अनंत ब्रह्माण्ड व दिव्य तथा विराट स्वरूपों का दर्शन कराया।[9] 14वें अध्याय में ब्रह्मा ने

---

1. गणेश पुराण, 1.12.31–33
2. वही, 1.12.34
3. वही, 1.12.36
4. वही, 1.12.12–33
5. वही, 1.13.4–12
6. वही, 1.13.18
7. वही, 1.13.24
8. वही, 1.13.26–26
9. वही, 1.13.32–39

जब सृष्टि का विधान किया तो उसके मन में स्वयं के इस कृत्य को देखने के पश्चात् अहंकार का भाव आ गया। तभी वे नाना प्रकार के विघ्नों से जकड़ लिये गये। उन्होंने गणेश जी की स्तुति की व उनके विराट स्वरूप का ध्यान किया तब उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ।[1] इस विराट स्वरूप के अंतर्गत गणेश के सर्प यज्ञोपवीत धारण किये स्वरूप का उल्लेख हुआ है।[2]

15वें अध्याय में ब्रह्मा को गणेश ने स्वप्न में एकाक्षर मंत्र का दस लाख जाप करने का आदेश दिया,[3] तथा प्रसन्न होकर उन्हें अपने सहज स्वरूप का दर्शन दिया। दृढ़ व शुभ ज्ञान भी प्रदान किया। विघ्नों का नाश कर सृष्टि रचना की प्रेरणा दी।[4] दक्षिणा स्वरूप ब्रह्मा ने गणेश को रिद्धि–सिद्धि नामक दो कन्यायें प्रदान कीं।[5] गणेश की कृपा से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना पुनः प्रारम्भ की।[6] 16वें तथा 17वें अध्याय में ब्रह्मा के सात मानस–पुत्रों की कथा है। जिन्हें उन्होंने सृष्टि में सहायता हेतु जन्म दिया था।[7] कालान्तर में ब्रह्मा के मुख, बाहु, उरु व चरण से चतुर्वर्णों के जन्म का उल्लेख है, जैसा कि ऋग्वेद के दशम मण्डल में पुरुष सूक्त में भी प्राप्त होता है।[8] चारों वर्णों की सृष्टि के बाद ब्रह्मा ने जगत के क्रमशः स्थावर व जंगम रूपों की रचना की।[9]

कुछ दिनों बाद विष्णु के कर्ण के मैल से मधु व कैटभ नाम के दो दैत्यों के जन्म का उल्लेख है।[10] जो ब्रह्मा को खाने को उद्यत हुये। उस समय विष्णु क्षीरसागर में सो रहे थे। ब्रह्मा ने डर कर निद्रा देवी से प्रार्थना की।[11] देवी ने प्रसन्न होकर विष्णु की तंद्रा भंग की। यहाँ पर विष्णु के मधु व कैटभ से युद्ध का प्रसंग वर्णित है।[12] पाँच हजार वर्ष

1. गणेश पुराण, 1.14.18–24
2. वही, 1.14.23
3. वही, 1.15.14–19
4. वही, 1.15.29–30
5. वही, 1.15.39
6. वही, 1.15.40
7. वही, 1.16.5
8. वही, 1.16.8–9
9. वही, 1.16.10
10. वही, 1.16.13
11. वही, 1.16.21–29
12. वही, 1.17.14–16

के लम्बे युद्ध के बाद भी इन दैत्यों को पराजित करने में विष्णु असमर्थ रहे। अतः गायन विद्या में निपुण गंधर्व का रूप धारण कर उन्होंने शिव को प्रसन्न किया।[1] शिव ने गणेश की अग्रपूजा न किये जाने के कारण उनकी शक्ति क्षीण हो जाने की बात बताई।[2] साथ ही गणेश को प्रसन्न करने के लिये षडाक्षर महामंत्र दिया।[3]

18वें अध्याय में विष्णु द्वारा सिद्धि क्षेत्र में गणेश की आराधना का वर्णन है।[4] इसी स्थल पर उनके तप से प्रसन्न होकर गणेश ने उन्हें यश, बल तथा कीर्ति प्रदान की।[5] इस अध्याय में गणेश से संबंधित स्थल तथा मंदिर का उल्लेख है। जिस स्थल पर विष्णु को सिद्धि प्राप्त हुई, उस स्थल पर उन्होंने गणेश के मंदिर तथा गण्डकी नदी के प्रस्तरों से बनी उनकी प्रतिमा स्थापित किया, जो सिद्धि विनायक के नाम से प्रसिद्ध हुई।

19वें और 20वें अध्याय में विदर्भ देश के राजा की कथा है, जो निःसंतान होने के कारण पत्नी के साथ अपना राज्य मंत्रियों को सौंपकर वन चले जाते हैं।[6] वहाँ ऋषि विश्वामित्र के आश्रम में पहुँचकर उनसे पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद ग्रहण करते हैं। विश्वामित्र उनके पूर्वजन्म की कथा बताते हैं कि पिछले जन्म में लक्ष्मी के मद में अंधे होने से तुमने वेद–शास्त्र, पुराण व लोक–व्यवहार का अनादर किया। इसी से तुम संतान–सुख से वंचित हो।[7]

विश्वामित्र उनके पहले के राजा वल्लभ की भी कथा सुनाते हैं। उनकी पत्नी का नाम कमला था। उन्हें एक मूक, बधिर व कुबड़े पुत्र की प्राप्ति हुई थी।[8] उसका नाम दक्ष था। अनेक तरह के दान, तप, अनुष्ठान आदि के बाद भी जब दक्ष स्वस्थ नहीं हुआ तो राजा ने अपनी पत्नी व पुत्र दोनों को नगर के बाहर निकाल दिया।[9] कमला पुत्र को

---

1. गणेश पुराण, 1.17.20–26
2. वही, 1.17–36
3. वही, 1.17–40
4. वही, 1.18.8–16
5. वही, 1.18.20–21
6. वही, 1.19.6–20
7. वही, 1.19.36–38
8. वही, 1.19.20–45
9. वही, 1.20.2–7

लेकर इधर–उधर भिक्षाटन करती रही। एक दिन किसी ब्राह्मण के वायु स्पर्श से दक्ष स्वस्थ हो गया।[1] ब्राह्मण ने उसे (दक्ष) व कमला को गजानन के 'अष्टाक्षर मंत्र' के जप का उपदेश दिया।[2]

इस उपदेश का अनुपालन करने पर दक्ष तथा उसकी माँ कमला को गणेश के दिव्य स्वरूप के दर्शन हुये।[3] गणेश ने उस ब्राह्मण का नाम 'मुद्गल' बताया तथा यह भी कहा कि वह मेरा अनन्य भक्त है। वह तुम्हारा पुनर्जन्मदाता है। गणेश ने उन्हें यह आशीर्वाद दिया कि वे (मुद्गल ऋषि) तुम्हारे ध्यान मात्र से उपस्थित हो जायेंगे तथा वही वरदान भी देंगे।[4] गणेश के दिव्य स्वरूप को देख दक्ष उन्हें पुनः प्राप्त करने हेतु व्याकुल हो उठे। उन्हें खोजते हुये मुद्गल ऋषि के आश्रम में पहुँचे।[5] वहाँ ऋषि ने उन्हें एकाक्षर मंत्र का उपदेश दिया।[6]

अध्याय 22वें व 23वें में दक्ष तथा कमला के पूर्वजन्म की कथा है। पूर्वजन्म में, कल्याण नामक एक धनवान सिंधु देश के पल्ली नगर में रहता था। उसे एक पुत्र की प्राप्ति हुयी जिसका नाम वल्लाख रखा गया। वह गणेश का भक्त था। एक बार उसके पिता ने गाँव के बाहर उसके द्वारा बालक्रीड़ा में निर्मित पर्णकुटीर मंदिर एवं मृण्मयी प्रतिमा को तोड़ दिया। उसे मारा–पीटा तथा वृक्ष से बाँध दिया। इससे दुःखी होकर वल्लाल ने उसे श्राप दे दिया। गणेश ने प्रसन्न होकर वल्लाल को दर्शन दिया तथा मंदिर व देवप्रतिमा तोड़ने के प्रसंग में उसके पिता को मूक, वधिर, कुबड़ा और गलित अंगवाला बना दिया।[7] वल्लाल को उस स्थल पर पुनः मन्दिर और देवप्रतिमा स्थापित करने का आदेश दिया। उस स्थल को 'विल्लाल विनायक' नाम से प्रसिद्ध होने का आशीर्वाद भी दिया। माता के अनुरोध पर उन्होंने बताया कि अगले जन्म में कल्याण पुनः तुम्हारे पति बनेंगे। तुम दोनों को मूक, बधिर व अंधे पुत्र की प्राप्ति होगी। बारह वर्षों के जप–तप, दान के बाद भी वह ठीक नहीं होगा।

---

1. गणेश पुराण, 1.20.10–11
2. वही, 1.20.29
3. वही, 1.20.50
4. वही, 1.20.56
5. वही, 1.21–5
6. वही, 1.21–49
7. वही, 1.22.42–44

तब तुम्हें पुत्र के साथ नगर निष्कासन मिलेगा और फिर एक ब्राह्मण के वायुस्पर्श से वह बालक स्वस्थ होगा। उसे गजानन के दर्शन होंगे।[1] यह बताकर वल्लाल दिव्य विमान में बैठकर गजानन के धाम चला गया। इस अध्याय में गणेश के चतुर्भुज, त्रिनेत्र व रक्तवर्णी स्वरूप का वर्णन है।[2]

24वें और 25वें अध्याय में दक्ष के राजा बनने का वर्णन है। कौडिन्य वन में गजानन के एक प्राचीन मंदिर में बारह वर्षों तक मुद्गल द्वारा दिये गये एकाक्षरी मंत्र की साधना करने के पश्चात् दक्ष को एक सुन्दर हाथी का स्वप्न आया, जो उसके राज्य प्राप्त करने का द्योतक था।[3] तभी दैवयोग से कौडिन्यनगर के राजा चन्द्रसेन की मृत्यु हो गयी।[4] वे निःसंतान थे। मंत्री व प्रजा उनके उत्तराधिकारी के विषय में विचार कर ही रहे थे[5] कि मुद्गल ऋषि वहाँ पहुँचे। उन्होंने विचार करके बताया कि चन्द्रसेन का हाथी जिसके गले में माला डाल देगा वही राजा बन जायेगा। सभी इस पर सहमत हो गये।[6]

26वें अध्याय में हाथी द्वारा दक्ष के राजा चुने जाने का वर्णन है।[7] इस अवसर पर दक्ष ने ब्राह्मणों को गाय व वस्त्र दान दिया।[8] मुद्गल ऋषि को भी उसने सम्मानित किया। उन्हें धन, रत्न, वस्त्र, गाँव तथा गायें दान में दीं।[9] कौडिन्य नगर में स्थित गणपति के छोटे मंदिर को और विशाल स्वरूप प्रदान किया।[10] इस अध्याय में दक्ष की वंश परम्परा का भी उल्लेख है।[11]

27वें अध्याय में वर्णित है कि भीम द्वारा विश्वामित्र से गणेश को प्राप्त करने का

---

1. गणेश पुराण, 1.23.34–40
2. वही, 1.23.15–16
3. वही, 1.24.5, 1.24.10–13
4. वही, 1.25.2–13
5. वही, 1.25.28–30
6. वही, 1.25.32
7. वही, 1.26.4
8. वही, 1.26.22
9. वही, 1.26.16–21
10. वही, 1.26.24
11. वही, 1.27.2

उपाय पूछने पर विश्वामित्र ने उन्हें एकाक्षर मंत्र का उपदेश दिया।[1] उसका अनुष्ठान कौडिन्य नगर के मंदिर में करने को कहा। यह संकेत दिया कि इससे प्रसन्न होकर गणेश धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी इच्छायें पूरी करेंगे।[2]

भीम ने अपने नगर में आकर विश्वामित्र द्वारा दिये आदेशानुसार गणेश का अनुष्ठान प्रारम्भ किया।[3] उनकी भक्ति व अनुष्ठान से प्रसन्न होकर गणेश ने उन्हें दर्शन दिया तथा भीम को द्विज पूजा का आदेश दिया।[4] उनकी कृपा से 'रूक्मांगद' नामक पुत्र का जन्म हुआ। रूक्मांगद भी विनायक भक्त था।[5] एक बार आखेट करते हुये प्यास लगने पर वह एक ऋषि के आश्रम में पहुँचा।[6]

28वें व 29वें अध्याय में ऋषि–पत्नी मुकुन्दा की रूक्मांगद के प्रति अधीरता की कथा है। रूक्मांगद जब प्यास से व्याकुल होकर ऋषि आश्रम पहुँचा तो वहाँ उसे कामातुर ऋषि–पत्नी मुकुंदा मिली।[7] वह रूक्मांगद पर आसक्त हो गयी। किन्तु रूक्मांगद द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर मुकुंदा ने उसे श्वेत कुष्ठ होने का श्राप दिया।[8] रूक्मांगद इससे अत्यंत दुखित हुआ। नारद ऋषि ने उसे कुष्ठ रोग से मुक्ति का मार्ग बताया कि विदर्भ के कदम्ब नामक स्थल पर विनायक की चिंतामणि के नाम से विख्यात मूर्ति है और उसके सामने ही गणेश पद से चिन्हित एक महाकुण्ड है जिसमें स्नान करने से कुष्ठ रोग दूर हो जाता है।[9]

30 से 32वें अध्याय में इन्द्र द्वारा छद्म वेश धारण कर गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या के शीलभंग की कथा है। गौतम को जब इस घटना का पता चला तो उन्होंने अहिल्या को शिला बनने तथा इन्द्र को हजार भग से युक्त होने का श्राप दिया।[10] इन्द्र

---

1. गणेश पुराण, 1.27.5
2. वही, 1.27.13–14
3. वही, 1.27.20
4. वही, 1.27.23
5. वही, 1.27.26
6. वही, 1.27.29
7. वही, 1.28.4
8. वही, 1.28.18, 1.29.9–13
9. वही, 1.29.8–15
10. वही, 1.30.31

लज्जित होकर नलिनी पुष्प के नाल में छिप गये। अनेक देवता गौतम ऋषि से प्रार्थना करने हेतु पहुँचे। देवताओं की प्रार्थना से संयमित होकर गौतम ने इन्द्र को शापमुक्त होने के लिये विनायक का सिद्धिप्रद षडाक्षर मंत्र जपने को कहा।

33वें अध्याय में इन्द्र द्वारा उस मंत्र के अनुष्ठान करने तथा गणेश के प्रसन्न होने का उल्लेख है। जिस स्थल पर इन्द्र ने गणेश का अनुष्ठान किया था, वह स्थल 'चिन्तामणि' तथा 'कदम्बपुरा' नाम से विख्यात हुआ। वहाँ पर इन्द्र ने गजानन की स्फटिक से निर्मित मूर्ति स्थापित की। एक विशाल मंदिर भी बनवाया।[1] रूक्मांगद ने उस चिंतामणि कुण्ड में स्नान करके श्वेत कुष्ठ से मुक्ति पायी।[2]

अध्याय 36 में मुकुंदा की कथा है। उसे कामातुर देख इन्द्र ने रूक्मांगद का वेश धारण कर उसे तृप्त किया।[3] इसका पता न ऋषि को चला और न ही मुकुंदा को। इसके परिणामस्वरूप मुकुंदा को गृत्समद नामक पुत्र की प्राप्ति हुयी। ऋषि ने उसे ऋग्वेद वर्णित मंत्र 'गणानांत्वा' का उपदेश दिया।[4] मगध राजा के पितृ–श्राद्ध में अन्य ऋषियों ने विवाद के दौरान गृत्समद के रूक्मांगद का पुत्र होने का भेद खोला।[5] सत्य का पता लगने पर गृत्समद ने क्रुद्ध होकर अपनी माता को बेर (बदरी) का वृक्ष होने का श्राप दिया। माँ मुकुंदा ने भी गृत्समद को दैत्य पुत्र का पिता होने का श्राप दिया। गृत्समद दुःखी होकर एकनिष्ठापूर्वक गणेश की तपस्या करने लगे। उनकी दुःसाध्य तपस्या से प्रसन्न होकर गणेश ने उन्हें दर्शन दिया।[6] वे सिंहारूढ़, दसभुज विनायक के रूप में थे।[7] गृत्समद ने गणनायक से विप्रत्व की माँग की। गणेश ने उन्हें 'गणानांत्वा' मंत्र से ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण व ऋषि होने का वर भी दिया। योग्य तथ बलशाली पुत्र प्राप्ति का भी आशीर्वाद दिया।[8] गृत्समद ने 'वरदा' नामक गणेश मूर्ति की स्थापना की तथा मंदिर निर्माण भी कराया।[9]

---

1. गणेश पुराण, 1.32.31–32
2. वही, 1.33.35–38
3. वही, 1.36.5–10
4. वही, 1.36.19
5. वही, 1.36.21–28
6. वही, 1.37.8–9
7. वही, 1.37.11–12
8. वही, 1.37.40
9. वही, 1.37.45–46

गृत्समद के पुत्र त्रिपुर की कथा आगे के कुछ अध्यायों में वर्णित है। जिसने गणेश को प्रसन्न कर तीनों लोकों पर विजय का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया तथा उसकी मृत्यु मात्र शिव के बाणों से ही होगी, यह वरदान भी लिया।[1]

39वें अध्याय में त्रिपुर द्वारा कश्मीर के पत्थरों से निर्मित गजानन की मूर्ति को वैदिक ब्राह्मणों द्वारा विधिपूर्वक स्थापित कर गणेशपुर के मध्य एक सुन्दर व विशाल गणेश मंदिर बनवाने का प्रसंग है।[2] त्रिपुर द्वारा स्थापित यह स्थल बंगाल में 'गणेशपुर' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[3] तत्पश्चात् इन्द्र व त्रिपुर में युद्ध हुआ। इन्द्र को परास्त कर उनके आसन पर त्रिपुर आरूढ़ हुआ।[4] देवताओं को गुफाओं में छिपना पड़ा। नारद ने देवगणों को इस संकट से छुटकारा पाने हेतु गणेश का एकाक्षर मंत्र देकर उसके अनुष्ठान का आदेश दिया।[5]

41वें अध्याय में एक ब्राह्मण ने त्रिपुर से कैलाश में शिवपूजित गणेश की प्रतिमा माँगी। त्रिपुर ने उसे प्राप्त करने के लिये शिव से भयानक युद्ध किया, जिसमें शिव की पराजय हुयी।[6] तत्पश्चात् शिव ने गजानन की तपस्या कर उनका दर्शन प्राप्त किया तथा उनके 'सहस्त्रनामस्तुति' करने का उपदेश[7] भी प्राप्त किया। पुनः शिव व त्रिपुर के बीच युद्ध हुआ। इस बार शिव विजयी हुए।[8] त्रिपुरासुर का वध कार्तिक मास की पूर्णमासी को हुआ। इसीलिए उस दिन स्नान, दान, जप, तप, दीपदान आदि करते हैं। यह 'संध्या बाहुली' कहलाती है।[9]

49वें अध्याय में गणेश की पार्थिव पूजा का विशेष वर्णन किया गया है।[10] 50 वें अध्याय में हिमालय द्वारा पार्वती को गणेश की विभिन्न पूजा विधि, व्रत व मूर्ति पूजा के

---

1. गणेश पुराण, 1.37.43
2. वही, 1.39.3
3. वही, 1.39.6
4. वही, 1.39.30–35
5. वही, 1.40.30
6. वही, 1.43.36
7. वही, 1.45.105–108
8. वही, 1.47.119
9. वही, 1.48.122
10. वही, 1.49.124

विधान का ज्ञान कराया गया है।[1] गणेश के व्रत व पूजन के परिणामस्वरूप पार्वती व शंकर का पुनः मिलन व विवाह हो जाता है।[2]

उपासना खण्ड में संकटचतुर्थी के व्रत की महिमा का अभूतपूर्व वर्णन है।[3] इसी खण्ड में शेषनाग के मन में उत्पन्न अहं भाव तथा इसके परिणाम का चित्रण है। शेषनाग का सिर खण्डों में विभक्त हो जाता है। नारद द्वारा उपदेशित होने पर वे गणेश की उपासना करते है। गणेश उन्हें वरदान देते हैं। इस कथा का सविस्तार वर्णन है।[4]

उपासना खण्ड का ऐतिहासिक महत्व

गणेश पुराण के उपासना खण्ड के विवरण से अनेक ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, गुजरात अर्थात् पश्चिमोत्तर भारत के क्षेत्रों में गणेश प्रधान देव के रूप में स्थापित हो रहे थे। वैष्णव, शैव तथा ब्रह्मा से सम्बंधित सम्प्रदायों में जो सर्वोच्च स्वरूप विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा को प्राप्त है, गणेश पुराण में वही स्वरूप गणेश को प्रदान किया गया है। उक्त पुराण में सृष्टि की उत्पत्ति, विकास व प्रलय के कारण रूप में गणेश को माना गया है। उनके निर्गुण—निराकर तथा सगुण—साकार सभी स्वरूपों का उल्लेख गणेश पुराण में प्राप्त होता है। एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य भी उजागर होता है कि कुष्ठरोग निवारण के साथ बार—बार गणेश का सम्बंध इस पुराण में दिखाया गया है। जबकि कुष्ठ रोग से मुक्ति की मान्यता विशेष रूप से सौर धर्म से जुड़ी हुयी है। वैदिक एवं पौराणिक परम्परा में भी सूर्य को रोगनाशक बताया गया है।[5] उग्रदेव ने कुष्ठ रोग से मुक्ति हेतु 21 दिन का सूर्यानुष्ठान किया था। मयूर ने भी (7वीं शताब्दी) इसी रोग से मुक्ति हेतु सूर्यशतक की रचना की थी।[6] संभवतः इसी से प्रेरणा ग्रहण करके कुष्ठरोग से गणेश की पूजा को जोड़ने का प्रयास किया गया हो। क्योंकि साम्य पुराणानुसार सूर्य पूजा का

---

1. गणेश पुराण, 1.50.128
2. वही, 1.55.145
3. वही, 1.58.154
4. वही, 1.59.91
5. ऋग्वेद, 1.50, 12,, 10, 37.4, 7
   तैत्तिरीय संहिता, 4.4, 4.3, 2.3, 2.7
   अथर्ववेद, 1.22
6. कीथ, ए. बी., ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 209

प्रचलन शाकद्वीप के क्षेत्र में बहुतायत से था। 'शाकद्वीप' को डॉ. लालता प्रसाद पाण्डेय ने सौराष्ट्र से समीकृत किया है। उनकी अवधारणा है कि भविष्य पुराण में वर्णित शाकद्वीप स्कन्द पुराण में विवेचित प्रभास से पर्याप्त साम्य रखता है।[1] पुनश्च, ब्रह्म पुराण में विवरण आता है कि विश्वकर्मा ने शाकद्वीप में सूर्य को खराद पर चढ़ाया।[2] एक अन्य स्थल पर सूर्य के खरादने की क्रिया का उल्लेख मिलता है, जिसे प्रभास कहते है।[3] इस तथ्य से भी शाकद्वीप का वास्तविक समीकरण सौराष्ट्र ही प्रतीत होता है। सौराष्ट्र प्राचीनकाल से ही सूर्य–पूजा का केन्द्र था। इसी क्षेत्र में गाणपत्य सम्प्रदाय के अनुयायियों ने गणेश के महत्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया। अतः सूर्य के सन्दर्भ में प्रचलित इस महत्वपूर्ण तथ्य से गणेश को जोड़ना अनिवार्य था, ताकि उनका महत्व उस क्षेत्र विशेष में स्थापित हो सके।

गणेश पुराण ब्राह्मणवादी पृष्ठभूमि में रचित पुराण है। उसमें ब्राह्मणों को दिये जाने वाले दान आदि तथा उनके शाप से पैदा होने वाले भय भी चित्रित हैं। उनके श्वास से रोगमुक्ति तक की बात की गयी है। स्पष्ट है, सामाजिक वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों की सत्ता को सर्वोच्च स्थापित करने का प्रयास इसमें किया गया है।[4] ब्राह्मणों को भूमिदान[5] गोदान[6] विभिन्न वस्तुओं के दान तथा स्थान–स्थान पर विप्र–पूजा[7] का उल्लेख आता है। बार–बार ब्राह्मण के महत्व को स्थापित करने का प्रयास दिखता है। इससे दो तथ्यों का अनुमान लगाया जा सकता है। पहला यह कि उस समाज में या तो ब्राह्मणों का अस्तित्व खतरे में रहा होगा, जिसके कारण उन्हें बार–बार अपने पूजनीय व सर्वोच्च होने की बात स्थापित करनी पड़ रही थी। दूसरा यह कि ब्राह्मण किसी नवीन सामाजिक व्यवस्था में जाकर स्वयं को नये सिरे से स्थापित करने का प्रयास कर रहे होंगे। इस तथ्य के विश्लेषण हेतु इतिहास के कालखण्डों में विभाजन अनिवार्य है। 300 से 1200 ई. तक के कालखण्ड

---

1. स्कन्द पुराण, प्रयास खण्ड, अ. 9
2. ब्रह्म पुराण, अ. 32
3. वही, अ. 89
4. गणेश पुराण, 1.37.26–28
5. वही, 1.51.40–41
6. वही, 1.26.8
7. वही, 1.20.6

में उत्पादन और बचत के वितरण की तीन स्पष्ट अवस्थायें दृष्टिगोचर होती हैं। 300 से 600 ई. तक के कालखण्ड में नगरीय बाजार–अर्थव्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गयी और इसके स्थान पर धीरे–धीरे बड़े गाँवों की निर्वाह अर्थव्यवस्था पनपती रही।[1] साथ ही छोटे–छोटे वंशगत केन्द्र स्थापित होते गये जिनकी वजह से बाजारों की आवश्यकता कम होती गई। एक तरह से इसे सामंतवादी व्यवस्था के विकास की आधार भूमि या उसकी आरंभिक कड़ी माना जा सकता है। राजकोषीय और प्रशासनिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण इस काल की मुख्य विशेषता थी। गाँवों में आकर बसे कुछ गिने–चुने ब्राह्मण परिवार राज्य की ओर से भूमिकर से मिली छूट के बलबूते पर खूब फले–फूले।[2] इसके बाद दौर आया 7वीं–9वीं शताब्दी का, जिसमें जागीरों की स्थापना व शासकीय अधिकार क्षेत्र वाली व्यक्तिगत माफी की जमीनों और बेशी उत्पादन करने वाली स्वायत्तशासी इकाइयों का निर्माण शुरू हुआ। ब्राह्मण परिवार माफीदारों के ही बेशी उत्पादन के प्रबंधक बन गये और उसका सीधे अपने लिये विनियोजन करने लगे। इसी तरह से, यद्यपि कुशल कारीगरों के नगरों को छोड़कर गाँवों में आ बसने से ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमपूर्ति की मात्रा में वृद्धि तो हुयी किन्तु 8वीं–9वीं शताब्दी में इस श्रमशक्ति का बंधुआ कृषि मजदूरों के रूप में परिवर्तन होना शुरू हो गया। आर्थिक क्षेत्र में हुये उपर्युक्त विकास के फलस्वरूप धार्मिक क्षेत्र में भी यह परिवर्तन देखने में आया कि पहले से प्रचलित यज्ञ और बलि आधारित उपासना पद्धति के स्थान पर अब मंदिर आधारित संप्रदाय प्रधान पूजा पद्धतियाँ शुरू हुई। दान–दक्षिणा देने–लेने तथा भेंट–पूजा चढ़ाने–ग्रहण करने के नये तरीके प्रारम्भ हो गये।

पंरपरागत ब्राह्मणवादी व्यवस्था के भौतिक साधनों और आध्यात्मिक उन्नति के परस्पर सहयोग पर आधारित जो नया संबंध विकसित हुआ, उसने ब्राह्मण, पुरोहित और यजमान को सदा के लिये एक सूत्र में बाँध दिया। पर ज्यों–ज्यों उत्पादन के प्रकार बदलते गये और तदनुसार बेशी उत्पादन की वितरण व्यवस्था के तरीकों में परिवर्तन आता गया, त्यों–त्यों पुरोहितों और यजमानों के परस्पर संबंधों में भी बदलाव आता रहा। फिर भी, बेशी उत्पादन सामग्री पुरोहितों के ही निमित्त विनियोजित होती रही। अब यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि पुरोहितों ने दान–दक्षिणा प्राप्त करने के लिये ही नये–नये सिद्धान्त

1. नंदी, रमेन्द्र नाथ : प्राचीन भारत में धर्म के सामाजिक आधार, नई दिल्ली, 1998, पृ. XII
2. वही, पृ. XIII

प्रतिपादित किये।

भारत में परंपरा से सत्ता जिन हाथों में संकेन्द्रित रही, उनके सबसे अधिक निकट केवल ब्राह्मण वर्ग ही रहा। कोई अन्य वर्ग इतना निकट नहीं रहा। ब्राह्मणों की दृष्टि में उनके यजमानी–हित सर्वोपरि थे। इसलिये सभी संहिताओं के रचयिता और शास्त्रनिर्माता ब्राह्मणों ने सामाजिक संबंधों का नियमन करते समय, सभी वर्गो के बीच परस्पर व्यवहार का निर्धारण करते समय, इस बात का ध्यान सदा रखा कि बदलती जा रही सामाजिक परिस्थितियों में उनके वर्ग की स्थिति दृढ़ से दृढ़तर होती जाय।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि बाजार–अर्थव्यवस्था के विघटन के कारण जब नगरों का ह्रास होने लगा तब अर्थव्यवस्था के समीकरण के साथ ही साथ सामाजिक सम्बन्धों के समीकरण में भी परिवर्तन आया। अतः जिन नगरवासी यजमान रूपी संसाधनों के बल पर अब तक नगर–आधारित यजमानी ब्राह्मण पद्धति फल–फूल रही थी, वे ही संसाधन अब समाप्त होने लगे थे। फलतः उन नगरों से ब्राह्मणों का पलायन दूसरे क्षेत्रों की ओर हुआ। उन नयी परिस्थितियों में स्थापित करने के लिये ब्राह्मणों ने स्वयं को महिमामंडित करना प्रारंभ किया। आजीविका के समृद्ध साधनों के सन्दर्भ में दान व अनुष्ठान आदि को प्रश्रय देना भी प्रारम्भ किया। गणेश पुराण में भी दान, अनुष्ठान संबंधी प्रसंगों की बहुतायत है।[1] तथा यज्ञ कर्मों के स्थान पर तप, व्रत, उपवास व कर्मकाण्ड के अन्य पक्षों पर अधिक बल दिया गया है।[2] दान संबंधी विविध नये अनुष्ठान रचे गये। वे सब तत्कालीन वर्ण प्रधान समाज में कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिये थे। प्रत्येक अनुष्ठान किसी न किसी सामाजिक प्रयोजन को सिद्ध करना चाहता था। वह प्रयोजन रहा होगा उन विशिष्ट समुदायों पर कुछ 'अनिवार्य बंधन थोपना' जो 'अपने रोजमर्रा के कार्य चुनने और उन्हें सम्पन्न करने के लिये स्वतंत्र थे' और वह भी यह कहकर कि ये बंधन सार्वजनिक हित में लगाये जा रहे हैं।

यहाँ 'सार्वजनिक हित' से अभिप्राय था–परंपरागत सामाजिक व्यवस्था में शक्ति और सत्ता के केन्द्र बने कुछ खास संभ्रांत वर्गों का हित साधन। ये वर्ग विशेषकर उन ब्राह्मणों के थे जो उपहार–विनियम व्यवस्था के बंधन तुड़ाकर भाग जाने को उत्सुक नहीं

---

1. गणेश पुराण, 1.26.8; 1.27.19; 1.45.19; 1.51.40
2. वही, 1.58; 1.60; 1.86

थे या कहें कि असमर्थ थे। इसे ध्यान में रखकर समय–समय पर अनेक अनुष्ठान रचे गये और नियम पालन के तरीके तय किये गये। ताकि ब्राह्मणों की भौतिक सुख–सुविधा में आवश्यक 'सहयोग' देने के लिये यजमानों को बाध्य भले ही न किया जा सकें, कम से कम अभिप्रेरित तो किया ही जा सके। पुराणों में दान संबंधी जितने कर्मकांडों का उल्लेख है, उन सबके पीछे ब्राह्मणों का यह सचेतन सुव्यवस्थित प्रयास है कि यजमानों को पातकों या पापकर्मों का भय दिखाकर, उनसे छुटकारा पाने के उपाय सुझाकर अपने लिये निर्वाह के आवश्यक साधन जुटा लिये जायें। अन्य पुराणों[1] तथा स्वयं गणेश पुराण[2] में भी दान–पुण्य संबंधी कर्मकांडों का विस्तार से विवरण मिलता है। यजमानों को बार–बार आगाह किया जाता है कि वे ब्राह्मणों को दान देने में किसी प्रकार की कृपणता न दिखायें।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यजमानों की ओर से ब्राह्मणों को पर्याप्त दानादि देने की बाध्यता यह सूचित करती है कि उस समय तक भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकांश भागों में नगरों का क्षय हो चुका था और उसके परिणामस्वरूप नगरवासी ब्राह्मण वर्गों की जीविका–पूर्ति का आधार लगभग समाप्त हो गया था। इसीलिये उनमें से कई वर्ग नयी बस्तियों और नये यजमानों की खोज में, उजड़े नगरों को छोड़कर, अन्यत्र जा बसे। वस्तुतः दान, व्रत, अनुष्ठान व तीर्थयात्रा संबंधी सभी कर्मकांड ब्राह्मणों के जीवन–निर्वाह की मुख्य समस्या के अंग थे। इसका निरूपण गणेश पुराण में पूरे विस्तार के साथ प्राप्त होता है।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य भी गणेश पुराण में ध्यान देने योग्य है कि यज्ञ आदि बड़े और पुराने वैदिक अनुष्ठानों के स्थान पर जप, तप आदि कर्मकाण्डों पर जोर दिया गया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपासना के स्परूप व पद्धति में परिवर्तन हुए। इसके मूल में भी उपर्युक्त सामाजिक–आर्थिक कारण ही प्रतीत होते हैं।

स्त्रियों के नैतिक पतन[3] तथा उनके स्तर में आयी गिरावट अर्थात् सामाजिक तौर पर उनकी स्थिति निम्न प्रतीत होती है। दूसरी ओर, पुत्र को बहुत महत्व दिया गया है। बलशाली व सुन्दर पुत्र की कामना से संबंधित अनेक व्रतों का विधान है।[4] स्पष्ट ही

1. मत्स्य पुराण, अध्याय 54–57, 79, 81, 277 आदि
2. गणेश पुराण, 150.31 तथा अध्याय 26, 27, 29, 41, 50, 51 आदि
3. गणेश पुराण, 1.28.36
4. वही, 1.75,6

यह उल्लेख तत्कालीन सामाजिक व राजनैतिक दशा का द्योतन करता है। उस समय सामंतवादी व्यवस्था तथा बाहरी आक्रमणों का दौर था। ऐसे में प्रत्यक्ष तौर पर युद्धों में पुरुष ही भाग ले सकते थे। तब पुत्र की कामना व उसका महत्व बढ़ना ही था। परिवर्तन के ऐसे दौर में स्त्रियों की स्थिति का समाज में कमजोर हो जाना स्वाभाविक है।

बहुदेववादी हिन्दू धर्म में पुत्र–प्राप्ति से सम्बन्धित अनुष्ठान गणेश पूजा के साथ जुड़े दिखायी देते हैं। हिन्दू समाज की सामूहिक चेतना में पुत्र प्राप्ति हेतु या पुत्र की दीर्घायु हेतु गणेश से जुड़े अनुष्ठानों का प्रचलन अविच्छिन्न रूप से आधुनिक काल तक दृष्टिगत होता है। इस परिपेक्ष में गणेश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन अत्यन्त महत्वपर्ण्ण हो जाता है।

गणेशवारा के राजा कर्दभ ने गणेश चतुर्थी का व्रत रखा। जिसके प्रभाव से वह सम्पन्न हो गया। इस प्रसंग के अलावा इस व्रत की महिमा से संबंधित अनेक कथाएँ हैं। उदाहरण के लिये, मालवा के राजा चन्द्रांगद तथा उनकी पुत्री इन्दुमती का नागकन्या से मुक्त होना।[1] शूरसेन का मध्यदेश का राजा बनना।[2] गणेश के नामस्मरण से पापी मछुआरे का भ्रुशुंडी महात्मा बन जाना।[3] निःसंतान कृतवीर्य का गणेश के अनुष्ठान से कृतवीर्यार्जुन नामक पुत्र की प्राप्ति करना।[4] शंकर द्वारा कामदेव को भस्म करना।[5] तथा उनके पुनर्जन्म की कथा[6] स्कंद द्वारा तारकासुर का वध[7] आदि विविध घटना–प्रसंग हैं। इसके अतिरिक्त उपासना खण्ड में गणेश के संकट चतुर्थी के व्रत का माहात्म्य तथा गणेश पर दूर्वांकुर चढ़ाने के माहात्म्य का विस्तृत वर्णन विभिन्न कथाओं के माध्यम से किया गया है।

उपासना खण्ड में गणेश की उपासना को महत्व दिया गया है। उनके महामंत्र 'ॐ' को मंत्रराज की संज्ञा दी गई है। गणेश की स्तुति की विधि, तंत्र–मंत्र, सगुण, निर्गुण, नाद–ब्रह्म स्वरूप, गणेश के विभिन्न क्षेत्र, व्रत तथा पूजा से संबंधित विविध कथाएँ वर्णित

---

1. वही, 1.53, पृ. 139
2. वही, 1.56
3. वही, 1.57
4. वही, 1.83
5. वही, 1.84
6. वही, 1.88
7. वही, 1.87

हैं।

क्रीडा खण्ड

गणेश पुराण का द्वितीय खण्ड, क्रीडा खण्ड है। इसमें गणेश के विभिन्न अवतारों का वर्णन है। अवतारों के रूप में उन्होंने अनेक राक्षसों का वध किया। इसी खण्ड में उनके बालचरित तथा लीलाओं का भी वर्णन है।

अवतार–तत्व पुराणों के प्रधान विषयों में अन्यतम है। अवतार का तत्व ईश्वर के धर्मनियामक रूप पर आधारित है। विश्व को एक सूत्र में बाँधने वाला, नियमित रखने वाला तत्व धर्म है। इस धर्म का नियमन सर्वशक्तिमान, परमात्मा की एक विशिष्ट शक्ति का विलास(1) माना गया है।

जब धर्म का पतन होता है, अधर्म का उदय होता है, तब भगवान पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। भगवान का पृथ्वी पर उतर कर आना ही 'अवतार' शब्द का अर्थ है। श्रीकृष्ण गीता में स्वयं ही कहते हैं कि साधुओं के परित्राण (चारों ओर से रक्षा) के निमित्त तथा पापों के नाश के लिये मैं युग–युग में अपनी माया का सहारा लेकर स्वयं उत्पन्न होता हूँ।(2) भगवद्गीता का यह श्लोक अवतारवाद का मौलिक स्वरूप प्रकट करता है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

इन प्रयोजनों के अतिरिक्त भागवत में एक अन्य प्रयोजन की भी सूचना मिलती है। वहाँ बताया गया है कि अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण, गुणात्मक भगवान की अभिव्यक्ति (अवतार) मनुष्यों के परमकल्याणभूत मोक्ष के साधन के लिये है। भगवान के भौतिक सौन्दर्य, चारित्रिक माधुर्य एवं अप्रमेय आकर्षण का बोध जीव को तभी होता है जब उनकी

---

1. द्विवेदी, डा. करुणा एस., कूर्म पुराण : धर्म और दर्शन, अ. 2, पृ. 62
2. ये श्लोक अन्य पुराणों में भी मिलते हैं, जैसे – वायु. पु. 98/69, मत्स्य पुराण 47/235, देवी भागवत 7/39, महाभारत वन पर्व 272/71–72, आवश्मेधिक पर्व 54/13, ब्रह्म पुराण 180/26–27, 181/2–8

अभिव्यक्ति अवतार के रूप में इस विश्व में होती है।[1]

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप

अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः

भागवत के शब्दों में, अलौकिक रागात्मिका भक्ति का वितरण ही भगवान के प्राकट्य का उच्चतर तात्पर्य है, जिसके सामने धर्म का व्यवस्थापन एक लघुतर व्यापार है।[2]

तैर्दर्श नीयावयवैरूदार विलासदाससेक्षित वामसुक्तैः।

हतात्मनो हतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छत्रो मे गतिमण्वीं प्रयुऽक्तते।

अवतार लेने पर ही भगवान के हास, विलास, अवलोकन और भाषण अत्यंत रमणीय होते हैं तथा उनके अवयवों से अलौकिक आभा निकलती है। इनके द्वारा भक्तों का मन तथा प्राण विषयों से हट कर भगवान में ही केन्द्रित हो जाता है और न चाहने पर भी भक्ति मुक्ति का वितरण करती है।[3]

ज्ञान का वितरण भी भगवान के अवतार का प्रयोजन है। शुद्ध–बुद्ध–मुक्त भगवान ही बुद्ध जीव के बन्धन को काटने का मार्ग बताकर उसे मुक्त कर सकते हैं। अवतार का यह मुख्य तात्पर्य है। भौतिक क्लेश का विनाश तो अवतार का एक लघुतर अभिप्राय है।

अवतार का बीज वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। पुराणों का यह प्रमुख तत्व है। गणेश पुराण के क्रीड़ा खण्ड में भी परमतत्व गजानन के अवतार में उनका सगुण, साकार स्वरूप वर्णित हुआ है। इसमें गजानन के विभिन्न अवतार, अवतारवाद के विभिन्न तत्वों व प्रयोजनों को परिपूर्ण करते हैं। सतयुग, द्वापर युग, त्रेतायुग व कलियुग में वे भिन्न–भिन्न स्वरूपों व नाम से प्रसिद्ध हुये।

क्रीड़ा खण्ड के प्रारंभिक अध्याय में रौद्रकेतु के युग्म पुत्र प्राप्ति की कथा है। जो नरांतक व देवांतक नाम से प्रसिद्ध हुये। इन्हें नारद ने पंचाक्षरी विद्या का उपदेश दिया। जिसका कठोर तप करके उन्होंने शिव को प्रसन्न कर अद्भुत वरदान प्राप्त कर लिया।

---

1. भागवत पुराण, 10.29.14
2. भागवत पुराण, 3.25.36
3. बलदेव उपाध्याय – पुराण विमर्श, चौखम्भा प्रकाशन, पृ. 169

इसके द्वारा देवांतक ने स्वर्ग पर आक्रमण कर इन्द्र को परास्त किया। वहाँ अपना राज्य स्थापित किया।[1] नरांतक ने मृत्युलोक पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार सर्वत्र, सब लोकों में नरांतक, व देवांतक का अधिकार हो गया।[2]

5वें–6ठें अध्याय में गणेश के 'विनायक' अवतार का वर्णन है। ब्रह्मा के पुत्र कश्यप व उनकी पत्नी अदिति से विनायक के महोत्कर अवतार का जन्म हुआ।[3] वे नरांतक एवं देवांतक के वध हेतु जन्म लेते हैं। अदिति ने पंचाक्षरी मंत्र की सिद्धि द्वारा गजानन को अपने पुत्र रूप में प्राप्त किया था।[4] इस अवतार रूप में उन्होंने मात्र नरांतक व देवांतक ही नहीं, बल्कि अनेकानेक दैत्यों का भी वध किया। पृथ्वी को आसुरी शक्तियों व प्रवृत्तियों से मुक्ति दिलायी। जैसे, 7वें से 10वें अध्याय में विरजा नामक राक्षसी का वध, जो उन्हें निगल गयी थी।[5] उद्यत व धुंधुर, जो तोते का रूप धारण कर मारने आये थे, उनका संहार किया।[6] चित्रगंधर्व, जो मगरमच्छ रूप में विनायक व उनकी माता को मार डालना चाहता था, उन्हें मारकर व शापमुक्त करने[7] की कथा वर्णित है। अध्याय नौ में कश्यप के घर गंधर्व हाहा–हूहू व तुम्बूर के आने तथा उनके द्वारा पंचयत्न मूर्तियों (सर्वानी, सर्व, विष्णु, विनायक व रवि) की पूजा करते समय कश्यपनंदन (विनायक) का वहाँ आकर उन मूर्तियों को चुराने, फिर अपने मुख में उन्हें ब्रह्माण्ड का दर्शन कराने की कथायें वर्णित हैं।[8]

पाँचवे वर्ष में जब कश्यपनंदन का चूड़ाकर्म व यज्ञोपवीत संस्कार हो रहा था, तभी पाँच राक्षस (पिंगाक्ष, विघात, विशाल, पिंगल और चपल) ब्राह्मण वेश धर कर उनको मारने आये जिन्हें कश्यपनंदन ने अभिमंत्रित चावल फेंक कर समाप्त कर दिया।[9] बालक के उपनयन संस्कार के समय गायत्री मंत्र आदि की दीक्षा दी गयी। ब्रह्मा ने इस अवसर

---

1. गणेश पुराण, 2.3
2. वही, 2.4
3. वही, 2.6
4. वही, 2.5.6
5. वही, 2.7
6. वही, 2.7
7. वही, 2.8
8. वही, 2.9
9. वही, 2.10

पर उसे सदा खिला रहने वाला कमल देकर उसका नाम 'ब्रह्मणस्पति' रखा। वृहस्पति ने उसे 'भारभूति' नाम दिया। कुबेर ने रत्नों की माला गले में डालकर उसे 'सुरानंद' नाम दिया। वरुण ने 'सर्वप्रिय' कहा। शिव ने त्रिशूल व डमरू देकर उसे 'विरूपाक्ष' नाम दिया। साथ ही चन्द्रकला प्रदान कर उसे 'भालचन्द्र' नाम दिया। परशुराम की माता ने उसे परशु प्रदान कर 'परशु' नाम दिया। सागर ने मोतियों की माला देकर उन्हें 'मालाधर' नाम दिया। शेष ने स्वयं को आसन रूप में समर्पित कर उन्हें 'फणिराज आसन' नाम दिया। अग्नि ने दाहशक्ति प्रदान करके 'धनंजय' नाम दिया। वायु ने 'प्रभंजन' नाम दिया।[1]

इस आयोजन में सभी देवता आये, किन्तु गर्व के कारण इन्द्र नहीं आये। उन्होंने वायु व अग्नि को बालक को लेने भेजा, किन्तु दोनों को ही उस बालक ने पराजित कर दिया। तभी विनायक ने उन्हें अपने विराटस्वरूप का दर्शन कराया जिससे इन्द्र भयभीत हो गये। उन्होंने विनायक को प्रणाम किया,[2] उनकी स्तुति की तथा उन्हें अपना अंकुश भेंट किया। इन्द्र ने उन्हें कल्पवृक्ष भी प्रदान किया तथा उनका नाम 'विनायक' रखा।

12वें–13वें अध्याय में विनायक के सात वर्ष का हो जाने पर काशिराज के साथ काशीगमन की कथा है। काशिराज अपने पुत्र के विवाह में कश्यप को लेने आये थे। किन्तु चातुर्मास्य के कारण कश्यप ने स्वयं आने से इनकार कर दिया। अपने पुत्र विनायक को उनके साथ भेजा। मार्ग में विनायक ने नरांतक के चाचा धूम्रराज व उसके पुत्रों का वध कर डाला।[3] यह सुनकर नरांतक ने विनायक को समाप्त करने हेतु राक्षसों को भेजा, जो उन्हें देखकर भाग गये।

विनायक व काशिराज के आगमन पर काशी के चारों ओर उत्सव मनाया जा रहा था। वहाँ नगर में विघट व दत्तूर नाम के दो दैत्यों को देख विनायक ने उनकी इहलीला समाप्त कर दी।[4] तत्पश्चात् पतंग व विधुल नामक राक्षस आंधी का वेश धर कर गजानन को उड़ा ले जाने आये किन्तु गजानन ने उनका भी वध कर दिया।

काशिराज द्वारा उनकी पूजा–अर्चना की गयी। इन कृत्यों के कारण गजानन

---

1. गणेश पुराण, 2.10
2. वही, 2.11
3. वही, 2.12
4. वही, 2.13

हर घर में पूजे जाने लगे।[1]

16वें–17वें अध्याय में काशीराज का भृशुण्डी के आश्रम में पहुँचने व भुशुण्डी तथा विनायक के मिलन[2] की कथा वर्णित है। 18 से 39वें अध्याय तक विभिन्न दैत्यों की मुक्ति, जैसे, कूप, कन्दर[3] अन्धकाम्मासुर, तुंगानांध[4], भ्रमर्याव वध[5] के कथा प्रसंग हैं।

40वें अध्याय में पार्वती के तेज से दसभुज गणेश के जन्म की कथा है जो वक्रतुण्ड के नाम से प्रसिद्ध हुये।[6] वे काशी गये और वहाँ पर राक्षस दुरासद का वध किया।[7] शिव व काशी से प्रयाण एवं वहाँ पर दिवोदास का राजा बनना, तत्पश्चात् शिव ने विभिन्न देवों को काशी भेज कर दिवोदास की कमजोरियाँ खोजने का प्रयास किया। अंततः विष्णु ने बौद्ध का स्वरूप धारण कर वैदिक धर्म के विरूद्ध प्रचार किया। विनायक दुण्डिराव के रूप में ज्योतिषी बन कर दिवोदास के राज्य में गये। दिवोदास ने राज्य का परित्याग कर दिया तथा शिव काशी वापस आ गये।[8] इस कथा को सुनने के पश्चात् काशिराज का गजानन के लोकागमन की कथा उल्लिखित है।[9]

त्रेतायुग में विनायक ने पार्वती के पुत्र के रूप में जन्म लिया, जो मयूरेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुये। इनके गणेश व हेरम्ब नाम भी प्रचलित थे। सिन्धु राक्षस के वध हेतु उन्होंने मयूरेश्वर के रूप में अवतार ग्रहण किया।[10] बाल्यकाल से ही अनेक राक्षसों का वध उन्होंने किया। जैसे ग्रंधासुर[11], बालासुर[12], व्योमा सुर[13], कमठासुर[14], शलभासुर[15], शैलासुर[16],

1. गणेश पुराण, 2.15
2. वही, 2. 16.17
3. वही, 2.19
4. वही, 2.20
5. वही, 2.21
6. वही, 2.40
7. वही, 2.41
8. वही, 2. 43–47
9. वही, 2. 51–53
10. वही, 2. 73–126
11. वही, 2.83
12. वही, 2.84
13. वही, 2.86
14. वही, 2.87
15. वही, 2.89
16. वही, 2.91

अविजय[1], सिन्धु आदि के वध की कथायें वर्णित हैं। मयूरेश्वर ने पार्वती को अपने मुख में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का दर्शन कराया।[2] गरुण व पक्षियों की माता विनिता द्वारा अंडा दिया जाना, विनायक के मुष्ठि प्रहर ने उस अंडे से मयूर का निकलना, पक्षियों को सर्पों के बंधन से विनायक द्वारा मुक्त करने का प्रसंग है। मयूर ने स्वयं को विनायक की सेवा में अर्पित कर दिया। वे उनके वाहन बने। इसी से विनायक मयूरेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुये।[3] इनके द्वारा ब्रह्मा को विश्व रूप दिखलाना, इन्द्र का दंभ नाश, मयूरेश का विवाह, सिन्धु के वध आदि की कथायें 104 से 126 तक के अध्याय में वर्णित हैं।[4]

द्वापर युग में सिन्दूर राक्षस के विनाश हेतु विनायक ने पार्वती पुत्र के रूप में गजानन नाम से जन्म लिया। कुरूप पुत्र होने के कारण शिव ने विषादग्रस्त पार्वती को ढाढ़स बँधाया। वामदेव के शाप के कारण गंधर्व क्रौंच का चूहे के रूप में जन्म लेना, गजानन द्वारा उसे अपना वाहन बनाना, सिन्दूर राक्षस का वध कर स्वयं लाल हो जाने की कथा अध्याय 127 से 137 तक में वर्णित है।[5]

इन कथाओं में 1. विनायक पूजा में शमी के पत्रों के महत्व। 2. मन्दार लकड़ी से, विनायक की मूर्ति बनाने, 3. कई स्थलों पर विनायक की मूर्ति स्थापित करने आदि के प्रसंग हैं।

अध्याय 138 से 148 तक में ज्ञान व कर्मयोग का उपदेश है। यह भाग 'उपनिषद् अर्थ–गर्भ[6], 'गणेश गीता', के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें अपने भक्त वरेण्य को गजानन ने कर्मयोग, ज्ञानयोग व क्षेत्र विवेक आदि के सन्दर्भ में उपदेश दिया है।[7]

149वें अध्याय में ब्रह्मा ने इस विषय का विस्तृत वर्णन किया है कि कलियुग में अधर्म के नाश व धर्म की स्थापना हेतु विनायक धूम्रकेतु के रूप में अवतार ग्रहण करेंगे। इस युग के अंत में वे म्लेच्छों का नाश कर धर्म को पुनर्स्थापित करेंगे।[8]

---

1. गणेश पुराण, 2.90
2. वही, 2.92
3. वही, 2. 97–99
4. वही, 2. 104–126
5. गणेश पुराण, 2.127–137
6. हाजरा, आर. सी. 'द गणेश पुराण', लेख पृ. 89
7. गणेश पुराण, 2. 138–148
8. वही, 2. 149

क्रीडा खण्ड के अंतिम अध्याय 154 में बनारस में विद्यमान गणेश के 56 स्वरूपों का वर्णन है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गणेश पुराण के दोनों खण्ड गणेश की स्तुति, पूजा व प्रशंसा से संबंधित हैं। गणेश के लिये इनमें सामान्य रूप से विनायक, गजानन, वरदा, विघ्ननाश आदि नामों का प्रयोग हुआ है। गणेश सभी देवों में एकता के प्रतीक हैं।[1] सब उन्हें परमतत्व के रूप में स्वीकार करते हैं, जो सभी विघ्नों को दूर करने वाले तथा भक्ति, ज्ञान और मुक्ति का मार्ग दिखाने वाले हैं। इस पुराण में गणेश के सगुण तथा निर्गुण दोनों ही रूपों का वर्णन है।

क्रीडा खण्ड का ऐतिहासिक महत्व

क्रीडा खण्ड के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गणेश पुराण के रचना काल में वैदिक देवताओं के साथ गणेश का सामंजस्य स्थापित करने के प्रयास चल रहे थे। जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है, गणेश वैदिक देव नहीं हैं। ऋग्वेद में 'गणाधिप' शब्द गणेश के लिये नहीं अपितु 'ब्रह्मणस्पति' के लिये आया है। किन्तु गणेश पुराण में 'गजनांत्वा गणपतिं' मंत्र के साथ गणेश को जोड़ा है। इसे उनका ही मंत्र बताया गया है। एक उल्लेख के अनुसार कश्यप के घर में गणेश के जन्म लेने पर उपनयन संस्कार के समय ब्रह्मा ने उन्हें 'ब्रह्मणस्पति' नाम दिया।[2] साथ ही अग्नि, वरुण, कुबेर, वृहस्पति, शिव आदि द्वारा उन्हें परमदेवता के रूप में मान्यता दी गयी।[3] इससे दो तथ्य स्थापित होते हैं। पहला यह कि गणेश की प्राचीनता वेदों तक ले जाने का प्रयास किया गया है तथा गणेश को वैदिक देवों के समकक्ष स्थापित किया गया है। दूसरा यह कि अन्य सम्प्रदायों ने भी गणेश को मान्यता प्रदान की। गणेश पुराण में उन्हें ॐ कारस्वरूप, बीलरूप तथा मायातीत कहा गया है।[4] गणेश के साथ इन्द्र के विरोध का उसी प्रकार निर्वाह किया गया है।[5] जैसे वैष्णव कथानकों में कृष्ण के साथ इंद्र का विरोध तथा उसकी पराजय दिखाई जाती है। इन्द्र

---

1. गणेश पुराण, 2. 138.20
2. वही, 2.9.12
3. वही, 2.9.13
4. वही, 2.31.14; 1.13.3; 1.45.8
5. वही, 2.9.42

वैदिक देव हैं तथा कृष्ण विष्णु के अवतार एवं एक नये देव हैं। अतः इन्द्र का हर उस नयी परम्परा से विरोध होता है जो वैदिक धारा से अलग होती है। इन्द्र का कृष्ण से विरोध होता है। गणेश के साथ उसी परम्परा का निर्वहन गणेश पुराण में भी इन्द्र के विरोध के सन्दर्भ में दर्शाया गया है।

इस खण्ड में गणेश के विभिन्न अवतारों की भी चर्चा है। अवतार से तात्पर्य है – महनीय शक्ति सम्पन्न ईश्वर या देव का नीचे के लोक में आना तथा मानव या अमानव रूप धारण करना।[1] अवतार की सिद्धि दो दशाओं में मानी जाती है। पहला रूप का परिवर्तन (स्वीय रूप का परित्याग का नवीन रूप ग्रहण[2], दूसरा नवीन जन्म ग्रहण कर उसी रूप में आना जिसमें माता के गर्भ में उचित काल तक स्थिति की बात भी सन्निविष्ट है।[3] ईश्वर के लिये ये दोनों ही अवस्थायें उपयुक्त तथा सुलभ हैं। कार्यवश के बिना रूप परिवर्तित किये ही आविर्भूत होते हैं। यह भी अवतार के भीतर ही माना जाता है। अवतार के ये तीनों ही रूप, प्रस्ततु पुराण में गणेश के सन्दर्भ में प्राप्त होते हैं। इसमें गणेश के चार अवतारों का उल्लेख है – श्री महोत्कट–विनायक[4], श्रीमयूरेश्वर[5], श्री गजानन[6] और श्रीधूम्रकेतु[7]। मुद्‌गल पुराण में गणेश के आठ अवतारों का उल्लेख है।[8] इन अवतारों में गणेश के बालस्वरूप की क्रीड़ाओं और लीलाओं का मनोहारी वर्णन किया गया है। इससे गणेश एक पारिवारिक देवता के रूप में, पुत्र के रूप में, भाई के रूप में वंदनीय हो रहे थे। इस प्रकार जहाँ मानव गृहसूत्र (7वीं–5वीं शताब्दी ई. पू.)[9] तथा याज्ञवल्क्य स्मृति[10] (1–3 शताब्दी तक) विनायक दुष्ट आत्मा के रूप में, बाधा पैदा करने वाले चरित्र के रूप में रखे गये, वहीं गणेश पुराण के काल तक आते–आते वे परम तत्व, जगत के कारण, परमब्रह्म

---

1. उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, वही, पृ. 163
2. गणेश पुराण, 2.40.29–44
3. वही, 2.1
4. वही, 2.6
5. वही, 2.81
6. वही, 2.127
7. वही, 2.149
8. मुद्‌गल पुराण, 20.5–12
9. मानव गृहसूत्र, II.14
10. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.271–294

व विघ्नकर्ता स्वरूप में स्थापित हो जाते हैं। अन्य सम्प्रदायों द्वारा भी उनकी सत्ता को सर्वोच्च मान्यता दिये जाने का उल्लेख है जो उनके विकास का चरम उत्कर्ष परिलक्षित करता है। यह बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों में गणेश के बढ़ते महत्व एवं गाणपत्य सम्प्रदाय के बढ़ते प्रभाव को द्योतक है। इसमें गणेश के विविध स्वरूपों एवं नामों का उल्लेख हुआ है, जो प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। इसका वर्णन आगे के अध्यायों में विस्तार से किया गया है। क्रीड़ा खण्ड में गणेश के विनायक अवतार की क्रीडास्थली काशी ही रही है।[1] अतः अनुमान किया जा सकता है कि पुराणकार को काशी के भूगोल का अच्छा ज्ञान रहा होगा। काशी के 56 गणेश रूपों (56 विनायकों) का वर्णन इसमें मिलता है।[2] गणेश के सात आवरणों की चर्चा है जिनमें 56 विनायक विद्यमान हैं। दुर्गा विनायक, भीमचण्डी विनायक, देहली गणप, उदण्ड विनायक, पाशपाणि, सर्वविघ्नहरण विनायक। ये प्रतिमावर्ग के विनायक हैं।[3] लम्बोदर, कूटदन्त शूलंटक, कूष्माण्ड, मुंडविनायक, विकटद्विज विनायक, राजपुत्र व प्रणवाक्य विनायक[4], ये द्वितीय आवरण में अवस्थित हैं। वक्रतुण्ड, एकदंत, त्रिमुख विनायक, पंचास्य विनायक, हेरम्ब, मोदकप्रिय[5] ये तृतीय आवरण में हैं। सिंहतुण्ड विनायक, पुण्यताक्ष, क्षिप्रप्रसाद, चिंतामणि, दंतहस्त, प्रचण्ड और दण्डमुण्ड विनायक,[6] ये चतुर्थ आवरण के नाम हैं। स्थूलदंत, कलिप्रिय, चतुर्दन्त, द्वितुण्ड, गजविनायक, काल विनायक, मार्गेशालय विनायक,[7] ये पाँचवे आवरण में विद्यमान हैं। मणिकर्णिका विनायक, आशासृष्टि विनायक, यक्षारण्य, गजकर्ण, चित्रघंट व सुमंगलमित्र विनायक[8], ये छठें आवरण के हैं। मोद, प्रमोद, सुमुख, दुर्मुख, गणप एवं ज्ञान विनायक[9], ये सातवें आवरण के विनायक हैं। अविमुक्त, मोक्षदाता, भगीरथि विनायक, हरिश्चन्द्र विनायक, कपर्दी

---

1. गणेश पुराण, 2.6.54
2. वही, 2.154.5–22
3. वही, 2.154.5–6
4. वही, 2.154.7–8
5. वही, 2.154.9–10
6. वही, 2.154.11–13
7. वही, 2.154.14–15
8. वही, 2.154.16–17
9. वही, 2.154.18–19

व बिंदु विनायक के नामों का भी उल्लेख हुआ है।[1] इन विभिन्न नामों व स्वरूपों से गणेश के प्रतिमा लक्षण पर प्रकाश पड़ता है। तुलनात्मक प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से इसका कालनिर्णय स्वतंत्र अध्ययन का विषय है। यहाँ यह कहना ही समीचीन होगा कि इस अंश में प्राचीन एवं अर्वाचीन तत्व संश्लिष्ट रूप में सामने आते हैं। गणेश पुराण के ऐतिहासिक भूगोल में वाराणसी क्षेत्र के साथ उसका घनिष्ठ सम्बंध इस विवरण से स्पष्ट होता है। पुराण के रचनाकाल तक काशी गाणपत्य सम्प्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र बन चुका था।

इसी क्रीडा खण्ड में गणेशगीता भी है।[2], जो पारम्परिक गीता की परम्परा में उसी आधार पर लिखी गयी है। भगवद्गीता में कर्मयोग, सांख्ययोग व भक्तियोग के जो वर्णन आये हैं वे प्रायः समान भावमय हैं। गणेश गीता में योग साधना, प्राणायम, तान्त्रिक पूजा, मानस पूजा, सगुणोपासना इत्यादि को विस्तार से समझाया गया है। विभूतियोग, विश्वरूप दर्शन आदि का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसमें शब्दों की भिन्नता अवश्य है, परन्तु विषय वही हैं। गीता में एकान्तिक धर्म का प्रवर्तन किया गया था, जिसका दर्शन तत्व जन्म और मृत्यु, आत्मा और परमात्मा, कर्म और योग था। गीता में भी सभी मतों, दृष्टियों, सिद्धांतों और विचारों का समन्वय है। ब्रह्म और आत्मा का निरूपण उसमें समान आधार पर किया गया है। अनासक्त और निष्काम कर्म का प्रतिपादन भी है। भक्त को भगवान की प्राप्ति अनुपम भक्ति साधना के माध्यम से ही हो सकती है।[3] प्राण व अंतस् दोनों से मिलकर की गई एकनिष्ठ भक्ति–साधना उन्नत मानी गयी है। यौगिक साधना हेतु आसन, प्राणायम, ध्यान, धारण्य, अष्टांग योग–प्रक्रिया अनिवार्य है।[4] मुक्ति पाना परम कर्तव्य है, जो सत्कर्म से ही संभव है।[5] इस प्रकार जगत् और जीवन, आत्मा और परमात्मा, मोह और माया, राग और त्याग आदि का अद्भुत समन्वय गीता में मिलता है। परा प्रकृति, अपरा प्रकृति, द्वैत और अद्वैत, ज्ञानयोग, कर्मयोग व भक्तियोग जैसे दर्शन और ज्ञान का अद्भुत समन्वय इसमें दिखाई देता है। स्पष्ट है कि यह दर्शन–तत्व उपनिषदों से प्रभावित है। गणेश गीता में भी इन तत्वों को इसी रूप में ग्रहण किया गया है। यह उद्देश्य स्पष्ट

1. गणेश पुराण, 2.154.20
2. वही, 2.138–148
3. गीता, 9.22
4. गणेश पुराण, 8.6
5. वही, 7.2

परिलक्षित होता है कि उपनिषदों की धारा के साथ गाणपत्य धर्म का सम्बंध निरूपित किया जाये।

गणेश का स्वरूप और उनके विभिन्न अवतार : गणेश पुराण तथा अन्य पौराणिक साहित्य के सन्दर्भ में

भारतीयों का उपासना विज्ञान, समाज एवं उसकी परिस्थितियों के अनुसार अपना बाह्य रूप बदलता रहता है। इतिहास के विकास सिद्धान्त भी उपासना विज्ञान पर परोक्ष रूप से प्रभाव डालता है, किन्तु उसका मूलतत्व समन्वयात्मक, परिष्कृत एवं परिवर्धित रूप में सुरक्षित रहता है। एक लम्बी विकास प्रक्रिया के पश्चात् देवताओं ने उपासना विज्ञान व मूर्ति विज्ञान के क्षेत्रों में नवीन स्वरूप ग्रहण अवश्य किया, किन्तु मूल रूप में उनका आत्मिक तत्व सुरक्षित रहा। देवोपासना में व्यक्ति और समाज की रुचि, संस्कार, क्षेत्र विशेष की परम्परा और समय की आवश्यकता के अनुसार ब्रह्म के किसी एक साकार देवरूप को किसी विशेष क्षेत्र में प्रधानता मिली तो दूसरे साकार देवरूप को अन्य विशेष क्षेत्र में। मूलरूप में सभी देवी–देवता एक अखण्ड ब्रह्म–चेतना के प्रतीक हैं। इन रूपों द्वारा वस्तुतः एक ही परब्रह्मा की उपासना की जाती है। इसी एकत्व भावना की अभिव्यक्ति गणेश पुराण में भी है। इसके 'गणेश गीता' अध्याय में गणेश स्वयं अपने भक्तों को निज स्वरूप का परिचय देते हुये कहते हैं – "श्री शिव, विष्णु, सूर्य और मुझ गणेश में अभेद बुद्धि रूप योग है, उसी को मैं सम्यक् योग मानता हूँ। क्योंकि मैं ही नाना प्रकार के वेश धारण करके अपनी लीला से जगत की रचना, पालन और संहार करता हूँ। मैं ही महाविष्णु हूँ, मैं ही सदा शिव हूँ, मैं ही महाशक्ति हूँ, और मैं ही सूर्य हूँ। मैं अकेला ही समस्त प्राणियों का स्वामी हूँ। पूर्वकाल में पाँच रूप धारण करके मैं प्रकट हुआ था। मैं जगत के कारणों का भी कारण हूँ, किन्तु लोग अज्ञानवश मुझे इस रूप में नहीं जानते हैं। मुझसे ही अग्नि, जल, पृथ्वी, आकाश, वायु, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, लोकपाल, दसों दिशाएँ, बसु, मनु, गौ, पशु, नदियाँ, इक्कीस वर्ग, नाग, वन, मनुष्य, पर्वत, सिंहगण, राक्षसगण उत्पन्न हुये हैं। मैं ही सबका साक्षी जगच्चक्षु हूँ। मैं सम्पूर्ण कर्मों से कभी लिप्त नहीं होता। मैं निर्विकार, अप्रमेय, अव्यक्त, विश्वव्यापी और अविनाशी हूँ। मैं अव्यय एवं आनंदस्वरूप परब्रह्म हूँ। मेरी माया सम्पूर्ण श्रेष्ठ

मानवों को भी मोह में डाल देती है।[1]

उन्होंने स्वयं को अजन्मा, अविनाशी, सर्वभूतात्मा, त्रिगुणमयीमाया आदि भी बताया है। वे स्वयं को माया का आधार भी सिद्ध करते हैं। अवतारवाद की परिपुष्टि करते हुये इसमें कहा गया है कि धर्म का ह्रास व अधर्म की वृद्धि होने पर, साधुओं की रक्षा व दुष्टों के संहार हेतु गजानन ही अवतार धारण कर नाना प्रकार की लीलायें करते हैं, धर्म की प्रतिस्थापना करते हैं।[2]

अजोद्रव्ययोऽहं भूतात्मा नाडिरीश्वर एव च।
आस्थाय त्रिगुणं माया भवामि बहुयोनिसु।।
अधर्मोपचयो धर्मापचयो हियदा भवेत्।
साधून् संरक्षितुं दुष्टा स्ताऽितुं सम्भवाम्यहम्।।

रेखांकित करने की बात है कि गणेश पुराण में गणेश के निर्गुण व सगुण दोनों ही स्वरूपों का वर्णन है। निर्गुण रूप में वे सृष्टि के नियंता, इन्द्रियों के अधिष्ठाता, भूतमय व भूतों को उत्पन्न करने वाले, सृष्टि के रचयिता, उसकी स्थिति व लयरूप हैं।[3]

नमो नमस्ते परमार्थरूपं नमो नमस्ते ऽखिलकारणाय।
नमो नमस्ते ऽखिलकारकाय सर्वेन्द्रियाणामपि वासिनेऽपि।।
नमो नमो भूतमयाय तेऽस्तु नमो नमो भूतकृते सुरेशः।
नमो नमः सर्वधिमों प्रबोध नमो नमो विश्वलयोद्‌वाय।।
नमो नमो विश्व भृतेऽखिलेशं नमो नमः कारणकारणाय।
नमो नमो वेदविदामदृश्य नमो नमः सर्ववर प्रदाय।।

गणेश का स्वरूप नित्य निर्गुण होते हुये भी नित्य सगुण माना गया है। माया से परे होने पर वह निर्गुण हैं, जबकि माया युक्त होने पर सगुण–साकार रूप धारण कर लेते हैं। जब–जब आसुरी शक्तियों के प्रबल होने पर जन–जीवन कण्टकाकीर्ण हो जाता है, धर्म का पराभव व अधर्म की वृद्धि होने लगती है, तब–तब निर्गुण, निराकार स्वरूप सगुण में अवतार ग्रहण कर सद्धर्म की स्थापना करते हैं। विनायक ने भी अलग–अलग

---

1. गणेश पुराण, (गणेश गीता) 2.21–29
2. गणेश गीता 3.9–11
3. गणेश पुराण, 1.40–42–44

युगों में भिन्न–भिन्न अवतार ग्रहण कर समाज को सन्मार्ग व सन्दर्भ की ओर उन्मुख किया।

गणेश के जन्म के विषय में अनेक मत–मतान्तर हैं। कहीं वे केवल पार्वती पुत्र कहे जाते हैं, कहीं उन्हें शिवपुत्र कहा गया है और किसी–किसी स्थान पर वे शिव–पार्वती दोनों के पुत्र कहे गये हैं। कुछ स्थलों पर उन्हें स्वयं उत्पन्न (स्वयंभू) भी कहा गया है।

गणेश के इन भिन्न–भिन्न रूपों का वर्णन प्रस्तुत पुराण में है। हर रूप में उनके नाम, कर्म, गुण व वाहन परिवर्तित होते हैं। जैसे, सतयुग में वे सिंहारूढ़ व दसभुज हैं, इस युग में 'विनायक' नाम से प्रसिद्ध हुये। त्रेतायुग में वे मयूर पर आरूढ़ हैं। उनकी छह भुजायें हैं। अर्जुन वृक्ष के समान उनकी छवि है। इस युग में 'मयूरेश्वर' नाम से ख्यात हुये हैं। द्वापर में वे रक्त वर्ण व मूषकारूढ़ तथा चतुर्भुज हैं। इस युग में 'गजानन' नाम से इनकी प्रसिद्धि होती है। कलियुग में धूम्रवर्णी, अश्वारोही व द्विभुज हुये तथा 'धूम्रकेतु' नाम से विख्यात हुये। इस रूप में ही म्लेच्छों की सेना का नाश करते हैं।[1]

युगे–युगे भिन्न नामा गणेशो भिन्न वाहनः, भिन्न कर्मा, भिन्न गुणो, भिन्न दैत्यापहारकः। सिंहारूढ़ो, दशभुजः कृते नाम्नां तेजोरूपी महाकायः सर्वेषां वरदो वशी। त्रेतायुगे बर्हिरूढ़ः षडभुजोप्यर्जुनच्छविः। मयूरेश्वर नाम्ना च विख्यातो भुवनभञये। द्वापरे रक्तवर्णोऽसा वाखुरूढश्चतुर्भुजः गजानन इतिख्यातः पूजितः सुरमानवे कलौ तु धूम्रवर्णोऽसाअश्वारूढ़ो द्विहस्तवान्। धूम्रकेतुरिति ख्यातो म्लेच्छा विनाशकृत्।

सतयुग में गजानन ने कश्यप व अदिति के पुत्र रूप में जन्म लिया।[2] इस अवतार रूप में उन्होंने विरजा[3], उद्यत, धुंधुर[4] का वध किया तथा शापित चित्रगंधर्व[5] को शापमुक्त किया। इसके अतिरिक्त धूम्रराज[6], जघन्य, मनु, विघंट, दन्तूर[7], ज्रिघ्वा[8], ज्वालामुख,

1. गणेश पुराण, 2.1.17–21
2. वही, 2.6.22–27
3. वही, 2.7.12–21
4. वही, 2.8.5–12
5. वही, 2.8.14–32
6. वही, 2.12
7. वही, 2.13
8. वही, 2.14

व्याघ्रमुख, दारुण[1] आदि अनेक राक्षसों का वध किया।

दुरासद के वध हेतु पार्वती के नाक व मुख से क्रोध स्वरूप उत्पन्न तेज से विनायक ने जन्म लिया। इस अवतार रूप में उनका नाम वक्रतुण्ड पड़ा।[2] तथा उन्हें माता ने अपना वाहन सिंह प्रदान किया। इस प्रकार सिंहारूढ़ होकर वे वाराणसी की ओर गये।[3]

दुरासद राक्षस से युद्ध के दौरान वक्रतुण्ड ने उसकी सेना से लड़ने हेतु अपने तेज से 56 मूर्तियों का निर्माण किया। इस प्रकार उनके 56 स्वरूपों का निर्माण हुआ। जिनमें कुछ चतुर्भुज, षड्भुज या दशभुज तथा सिंहारूढ़, मूषकारूढ़ थे।[4] दुरासद पर विजय प्राप्त करने हेतु उन्होंने योग से विराट स्वरूप प्राप्त किया। शिव के वरदान के कारण दुरासत की मृत्यु नहीं हो सकती थी अतः उनके विराट स्वरूप ने काशी के द्वार पर अपना एक पैर एवं दुरासद के मस्तक पर दूसरा रख उसे पर्वत की भाँति स्थिर कर दिया। दुष्टों को वश में करने हेतु वे स्वयं भी काशी में अपने विराट रूप में अवस्थित[5] हो गये। गणेश के एक पाद स्वरूप की 'ढुण्ढिराज' नाम से प्रसिद्धि हुयी। उनके तेज से उत्पन्न अवतार को 'ढुण्ढिराज' नाम दिया गया।[6] शिव ने काशी में वास हेतु दिवोदास (काशिराज) को वहाँ से हटाने के लिये 'ढुण्ढिराज' को ही काशी भेजा। इस प्रकार ढुण्ढि रूप धारी गजान ने दिवोलास को अपनी माया से मोहित कर शिव को काशी का वास प्रदान किया। इसी स्वरूप में उन्होंने कीर्ति के पुत्र क्षिप्रप्रसाधन को जीवित कर वरदान भी दिया।[7]

अदिति व कश्यप के पुत्र रूप में विनायक ने काशी में नरांतक व देवांतक जैसे दो महाबली दैत्यों का भी वध करके पृथ्वी को भारमुक्त किया।[8]

त्रेतायुग में गजानन ने सिंधु नामक राक्षस के दमन हेतु शिव–पार्वती के घर में अवतार लिया व मयूरेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुये।[9] इस युग के अवतार में गजानन रक्तवर्णी

1. गणेश पुराण, 2.15
2. वही, 2.40.29–44
3. वही, 2.41.9
4. वही, 2.42.11–14
5. वही, 2.42.19–31
6. वही, 2.43.5–11
7. वही, 2
8. वही, 2
9. वही, 2

थे।

पार्वती के पुत्र रूप में उनका नाम गणेश रखा गया। हिमालय ने इस बालक को 'हेरम्ब' नाम प्रदान किया। इस रूप में गजानन ने गृद्धासुर नामक विशालकाय राक्षस का वध किया।[1]

एवं दत्ता भूषणानि नाम चक्रे शुभं गिरि।

हेरम्बपति महाविघ्नहरे भक्तामय प्रदम्।।

गणेश अवतार में उन्होंने विडाल रूप धारण करके आये दो मायावी राक्षसों[2] गृद्धासुर[3], बालासुर[4] नाना मायाओं में निपुण व्योमासुर[5], शतमाहिष नामक राक्षसी[6], कमठासुर[7], तल्पासुर[8] नामक महाबली राक्षसों का वध तथा दुंदुभी[9], अजगर[10], शमसासुर[11], मेढ़ा नामक मायावी वेष में सिन्धु द्वारा भेजे गये दैत्य[12], वृक्कासुर[13] के अतिरिक्त इस अवतार में उन्होंने अनेकों दैत्यों का वध कर पृथ्वी को भारयुक्त किया। स्वजनों व देवों को उनका स्थान प्रदान किया। इस अवतार में उन्हें गणेश के साथ–साथ 'मयूरेश्वर' की संज्ञा से भी जाना गया।

तत्राययौ वृको नाम महान्दुष्टतयोऽसुर भयंकराननो मन्तो ग्रसन्निव महाबली पुच्छाघातेन चउवं कम्पयन्दलदवान। दुष्टवा भयंकर दैत्यं मुनिपुत्राः पलयिताः। सआयुधानि गृहय्याशु वं वृकं समताऽयत्। अङकुशांघात मात्रेण पतितो भुवि

---

1. गणेश पुराण, 2.83–17
2. वही, 2. 82
3. वही, 2.83
4. वही, 2.84
5. वही, 2.86
6. वही, 2.87
7. वही, 2.87
8. वही, 2.88
9. वही, 2.88
10. वही, 2.89
11. वही, 2.89
12. वही, 2.90
13. वही, 2. 96.58–63

शोऽसुरः। वम–रक्त निज रूपमास्थित ऽचूर्णयन्द्रमाल। सहंरे जीव संघातान्दशयोजनविस्तृततः।

मयूर पक्षी ने स्वयं को गणेश की भक्ति में समर्पित किया तथा उनका वाहन बना।[1] मयूरेश्वर के रूप में पार्वती पुत्र षड्भुज तथा अर्जुनवृक्ष के समान वर्ण वाले थे।

द्वापर युग में शिव–पार्वती के पुत्र के रूप में उन्होंने जन्म लिया। यहाँ वे रक्तवर्णी तथा मूषक वाहन से युक्त हैं। तब वे गजानन नाम से प्रसिद्ध हुये। इस अवतार रूप में उन्होंने सिन्दूर दैत्य का वध किया।[2]

कलियुग में गणेश के अवतार के सन्दर्भ में गणेश पुराण में वर्णन मिलता है कि चार भुजाधारी, श्यामवर्ण व मूषक वाहन युक्त तथा धूम्रकेतु नाम से विख्यात होंगे।[3]

मुद्गल पुराण में गणेश के आठ अवतारों का वर्णन मिलता है। वे अवतार हैं–वक्रतुण्ड, एकदन्त, महोदर, गजानन, लम्बोदर, विकट, विघ्नराज और धूम्रवर्ण।[4]

अन्य पुराणों में भी उनके विभिन्न स्वरूपों व अवतारों का वर्णन प्राप्त होता है। स्कन्द पुराण में पार्वती से गणेश के जन्म से सम्बंधित कथा सात स्थलों से प्राप्त होती है। स्कन्द पुराण में आयी एक कथानुसार, पार्वती ने अपने शरीर पर लेप लगाया और उस लेप को छुड़ाने से निकली मैल से एक आकृति बनायी जिसका मुख हाथी जैसा था। उसे उन्होंने अपना पुत्र कहा।[5] उस आकृति में प्राण संचार किया और वे ही गणेश कहलाये।

स्कन्द पुराण में आयी एक अन्य कथानुसार, पार्वती ने शरीर के लेप से मनोरंजन के लिये एक सुन्दर बालक की रचना की। लेकिन लेप की कमी के कारण उस बालक का मुख नहीं बन पायीं। इसलिये कार्तिकेय द्वारा लाये गये एक मतवाले हाथी के सिर को काट कर लेप से निर्मित उस आकृति पर लगा दिया। तत्पश्चात् पार्वती ने उसमें प्राण संचार किया।[6]

स्कन्द पुराण में एक स्थान पर गणेश की उत्पत्ति का दार्शनिक आधार दिया

---

1. गणेश पुराण, 2.7
2. वही, 2.130.27–34; 2.137
3. गणेश पुराण, 2.1.17–21
4. मुद्गल पुराण, 20.5–12
5. स्कन्द पुराण, 1.2.27, 4–5
6. वही, 7.3.32

गया है। यहाँ उन्हें प्रकृति कहा गया है। जिसका जन्म नहीं होता। (उन्हें प्रकृति का पर्याय माना गया है।)[1]

वामन पुराण में भी ऐसी ही कुछ कथायें मिलती हैं।[2] एक कथा है कि पार्वती निःसंतान थीं। उन्होंने अपने शरीर के लेप से गजमुखधारी पुत्र को उत्पन्न किया। शिव और पार्वती के स्वेद बिन्दुओं के मिल जाने से उसमें प्राण का संचार हुआ।[3]

इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी इनकी उत्पत्ति का उल्लेख है – शिवपुराण[4], ब्रह्माण्ड पुराण[5], पदम् पुराण[6] आदि में भी गणेश के जन्म से सम्बन्धित लगभग इसी प्रकार की कथायें मिलती हैं।

वृहद्धर्मपुराण में गणेश की उत्पत्ति से सम्बन्धित कथा यह है कि शिव ने पार्वती के आग्रह पर परिहास में उनके वस्त्र से ही एक पुत्र की रचना की जो पार्वती के स्तनों के सम्पर्क में आने पर प्राणवान हो गया।[7]

ब्रह्मवैवर्तपुराणनुसार, गणेश का जन्म कृष्ण के अवतार के रूप में हुआ। इस पुराण में उल्लेख है कि पार्वती ने कृष्ण को देखकर उनके अनुरूप पुत्र प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की।[8] तब विष्णु ने ब्राह्मण के वेश में पार्वती के शयनगृह में वीर्यपात किया।[9] दूसरी ओर, शिव का वीर्य पार्वती के गर्भ के स्थान पर उनकी शैय्या पर गिरा।[10] इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रत्येक कल्प में श्रीकृष्ण पार्वती के पुत्र बनकर गणेश रूप में उत्पन्न हुये।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार, गणेश कृष्ण के अवतार हैं। वे शिव के औरस पुत्र नहीं हैं। इस पुराण में ही उल्लिखित है कि पार्वती के पुन्यक व्रत धारण करने के

---

1. गणेश पुराण, 1.1.10, 27–33
2. वायु पुराण 28.53–58, 64–66
3. वही, 28.70–71
4. शिव पुराण 2.4.13–20
5. ब्रह्मांण पुराण पु. 97
6. पद्म पुराण सृष्टि खण्ड – 40.453–458
7. वृहद्धर्मपुराण 2.60.8–14, 21–38
8. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3.8.8
9. वही 3.8.19
10. वही, 3.8.27

फलस्वरूप ही कृष्ण के अवतार के रूप में उत्पन्न हुये।[1]

बाराह पुराण का कथ है कि गणेश शिव के पुत्र हैं, जिसमें पार्वती का कोई सहयोग नहीं है। यह पुरण कहता है कि रूद्र ने अपने मुख से एक पुत्र उत्पन्न किया जो देखने में रूद्र के समान था।[2]

लिंग पुराण में गणेश की उत्पत्ति शिव व पार्वती के संयोग से ही मानी गयी है।[3]

मुद्गल पुराणनुसार गणेश के कोई माता–पिता नहीं है, क्योंकि वे स्वयं ही स्त्रष्टा हैं।[4]

इन पुराणों के अतिरिक्त महाभागवत पुराण[5] देवी पुराण[6] आदि में भी गणेश के जन्म की कथायें लगभग एक–सी प्राप्त होती हैं। केवल गणेश पुराण में ही गणेश की उत्पत्ति शिव व पार्वती दोनों के संयोग से मानी गयी है।[7]

भागवत पुराण में उल्लिखित एक कथा के अनुसार, पार्वती ने अपने शरीर पर लगाये गये हरिद्रा (हल्दी) लेप के मल से गणेश्वर अर्थात् गणेश की सर्जना की और उन्हें अपना द्वारपाल नियुक्त किया। जिस समय पार्वती स्नान कर रही थीं उस समय शिव ने पार्वती के कक्ष में प्रवेश करना चाहा। गणेश्वर द्वारा रोके जाने पर शिव और गणेश्वर में भयानक युद्ध हुआ। शिव ने अपने त्रिशुल से उनका मस्तक काट दिया। पार्वती के आग्रह

---

1. गणेश पुराण, 6.89.98
2. वायु पुराण, 23.13
3. लिंग पु. 105.7–15
4. मुदगल पुराण 82.49.17–30
5. भागवत पुराण 35.5–8 (10वीं से 11वीं श.)
6. देवी पुराण 112–8–9 (12वीं श.)
7. गणेश पुराण, 1.1.5–5
   वही 2.2.129–30

पर शिव ने फिर से उनके मस्तक को हाथी के सिर से युक्त किया।[1] चतुर्भुज स्वरूप[2] में उन्होने एक विशाल सर्प को अपनी कमर के चारों ओर लपेट रखा है। इसके अतिरिक्त मुकुट, कुंडल, अंगद, कटिसूत्र, किंकिणी, मोतियों की या लाल पुष्पों की माला धारण की है। उनके हाथों में सदैव एक जैसी वस्तुओं का वर्णन नहीं है अपितु अलग–अलग वस्तुयें वर्णित है। कभी खड्ग, क्षेत्रा, धनुष और शक्ति, कभी परशु, कमल, माला और मोदक, कहीं खड्ग के स्थान पर परशु भी मिलता है। कुछ स्थलों पर वे त्रिनेत्रधारी हैं[3] व चन्द्रकला[4] को माथे पर सजाये हुये वर्णित किये गये है। कुछ स्थलों पर सिद्धि–बुद्धि समेत वर्णन प्राप्त होता है।[5] वे हृदय पर चिंतामणि की गणि माला धारण किये हुये हैं।[6] अधिकांशतः उन्होंने लाल वस्त्र भी धारण किया है। मात्र एक स्थल पर उन्हें शशिवर्ण कहा गया है।[7] एक अन्य स्थल पर उन्हें पीताम्बरधारी कहा गया है।[8] अन्य प्रचलित स्वरूपों में गणेश का दशभुज स्वरूप है।[9] जिसमें उन्होंने भिन्न–भिन्न आयुध धारण किया है। उनके शीश पर चन्द्रकला अंकित है, गले में माला मोतियों या कमल की धारण की है। उनका श्वेतवर्णी

---

1. भागवत पुराण 35वाँ अध्याय
2. गणेश पुराण, 1.12.33–38
   1.15.4–6
   1.20.31–34
   1.31.–32–34
   1.49.21–23
   1.66.17–19
   1.87.31–35
   1.82.26–29
   1.91.8–9
   2.130.1–5
   2.130.21–22
3. वही, 1.21.11, 23.11
4. वही, 1.15.5, 87.33, 2.130.5
5. वही, 2.130.22
6. वही, 1.91.29
7. गणेश पुराण, 2.130.22
8. वही, 1.20.31
9. वही, 1.37.10–13, 44.26–28, 88.32–35, 90.14–15, 2.6.22–25, 2.17.25–28

स्वरूप है। वे सिद्धि–बुद्धि के साथ सिंहारूढ़ हैं। इस स्वरूप के अंतर्गत कभी–कभी गणेश मुण्डों की माला भी धारण करते हैं। पंचमुखी गणेश का उल्लेख भी मिलता है।[1] उनके वक्षस्थल पर चिंतामणि की माला भी विद्यमान रहती है।

इन साक्ष्यों से स्पष्ट है कि गणेश विभिन्न रूपों में वर्णित हैं। मुद्‌गल पुराण में इनके 32 रूपों का[2], शारदा तिलक में 51 रूपों[3] का व गणेश पुराण में 56 स्वरूपों का वर्णन मिलता है।[4]

यह कहा जा सकता है कि गणेश के जन्म के आख्यानों में जो भिन्नतायें अन्य साहित्य व गणेश पुराण में मिलती हैं, उससे यह स्पष्ट होता है कि एक देवता के रूप में गणेश के व्यक्तित्व के विकास में अनेक धारायें, मिथक, कल्पनायें, विश्वास जिनका स्वरूप क्षेत्रीय तथा जनजातीय दोनों ही रहा होगा, ने अपना योगदान दिया।[5] गणेश पुराण में अवतारवाद की परिकल्पना की गयी है तथा उनके चार अवतार, विनायक, मयूरेश्वर, गजानन व धूम्रकेतु, माने गये हैं। यह तत्व भी गणेश के सन्दर्भ में अन्य पुराणों में नहीं प्राप्त होता। यह भिन्नता गणेश पुराण को अन्य पुराणों से अलग करती है तथा उसे साम्प्रदायिक स्वरूप प्रदान करती है। गणेश के अवतारों के वर्णन के सन्दर्भ में यह बात स्पष्ट कही जा सकती है कि यहाँ वैष्णव अवतारवाद के सभी तत्व ग्रहण किये गये हैं। हिन्दू धर्म में ज्ञान की अभिव्यक्ति के अंतर्गत अवतारवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रधान प्रयोजन धर्म स्थापन और अधर्म–विनाशन था। अवतार स्वयं विष्णु ही हैं जिनके अनेक अवतारों की कथा वैदिकयुगीन ग्रन्थों में विवृत हैं। उनके वराह, मत्स्य, कूर्म, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि ये दस अवतार कहे जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन की कथा के साथ मत्स्यावतार का उल्लेख है।[6] प्रजापति द्वारा जल के ऊपर कूर्म रूप में अवतार लेना[7] ब्राह्मण ग्रंथों में उल्लिखित है। विष्णु के वराह रूप का संकेत ऋग्वेद में

---

1. गणेश पुराण, 1.44.25–28
2. हाजरा, आर. सी., गणेश पुराण, जर्नल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीटयूट, पृ. 96
3. वही, पृ. 96
4. गणेश पुराण, 2.42.11, 33.6, 2.43.10., 2.154.25
5. थापन, अनिता रैना, अण्डरस्टैण्डिंग गणपति, नयी दिल्ली, 1997, अध्याय–3, 6
6. शतपथ ब्राह्मण, 2.8.1.1
7. वही, 7.5.1.5

मिलता है।[1] तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में भी वराह अवतार का वर्णन किया गया है।[2] वामन की कथा ऋग्वेद में वर्णित है।[3] जो तैत्तिरीय संहिता में अत्यंत विस्तार से विवृत की गयी है।[4] रामायण व महाभारत में क्रमशः राम और कृष्ण के अवतारों की कथाएँ हैं। 'रामायण' में वर्णित है कि जब देवताओं ने अपना कष्ट भगवान विष्णु से निवेदित किया तब वे शंख, चक्र, गदा धारण किये, पीतवस्त्र पहने, गरुड़ पर आसीन होकर प्रकट हुये।[5] तदनंतर देवताओं के कष्ट दूर करने के लिये विष्णु ने राम के रूप में अवतार लिया। ऐसा ही उल्लेख गणेश पुराण में गणेश के लिये प्राप्त होता है।[6] जब सिंधु राक्षस ने सभी को त्रस्त किया तब सभी देव गणेश का तप करने लगे। तब उन्होंने अलौकिक स्वरूप में ऋषि, मुनियों व देवताओं को दर्शन देकर राक्षसों व अधर्म के विनाश हेतु गिरिजा के घर में अवतार लेने का आश्वासन दिया तथा मयूरेश्वर के रूप में अवतार लिया। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, कि श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने अवतार की बात 'श्रीमद्भागवत' में कही है।[7] इसी प्रकार का उल्लेख गणेश गीता में गणेश के लिये किया गया है। अपने शिष्य वरेण्य से वे कहते हैं, जब अधर्म की वृद्धि होती है और धर्म का ह्रास होने लगता है तब साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों का वध करने हेतु मैं अवतार लेता हूँ। अधर्म का नाश करके धर्म की स्थापना करता हूँ। दुष्टों–दैत्यों को मारता हूँ और सानंद नाना प्रकार की लीलायें करता हूँ।[8] कालान्तर में अवतारवाद और उसका ज्ञान–तत्व पौराणिक धर्म की प्रधान पीठिका बन गया। वस्तुतः अवतार की पृष्ठभूमि से देव–तत्व का प्रतिष्ठापन और दर्शन–तत्व का प्रतिपादन हुआ। संसार में जब नैतिक और धार्मिक मूल्यों का अनैतिकता और अधार्मिकता के कारण विनाश होने लगता है, प्रकाश के स्थान पर अंधकार का वातावरण विस्तार लेता है, ऋत्त के स्थान पर अनृत और धर्म के स्थान पर अधर्म छा जाता

---

1. ऋग्वेद, 8.7.10
2. तैत्तिरीय संहिता, 7.1.5.1; शतपथ ब्राह्मण, 14.1.2.11
3. ऋग्वेद, 1.154.1
4. तैत्तिरीय संहिता, 2.1.3.1
5. रामायण, बालकाण्ड, 15.15.16
6. गणेश पुराण, 2.78.28–41
7. गीता, 4.7.8; 2.4.6
8. गणेश पुराण, गणेश गीता, 43.9.11

है, तब सत्पुरुषों के रक्षार्थ, भक्तों की आर्त्ति के विनाशार्थ और धर्म के स्थापनार्थ करुणाकर भगवान पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं। वे अधार्मिक और अनैतिक तत्वों का समूल नाश करते हैं।[1]

'कर्तु धर्मस्य संस्थानमसुराणां प्रशासनम्'।

इस प्रकार जगत में पुनः धर्म, सदाचार और नैतिकता की स्थापना होती है तथा मानवता का भगवतत्व में उत्तरण (उर्ध्वगमन) होता है। विष्णु पुराण में विष्णु के लिये वर्णित है कि वह नाना रूपधारी स्थूल और सूक्ष्म, अव्यक्त और व्यक्त तथा मुक्ति के हेतु हैं।[2] गणेश पुराण में भी गणेश को अव्यय, अविनाशी, आगम, सच्चिदानंद स्वरूप, निर्गुण माना गया है तथा यह भी कहा गया है कि स्वजनों–उपासकों पर कृपा करने के लिये वे साकार हो जाते हैं।[3] एक अन्य स्थल पर गणेश के चार अवतारों में से अंतिम अवतार धूम्रकेतु माना गया है। कलियुग का उल्लेख किया गया है कि इस युग में सभी वर्ण अपने धर्म व कर्म से च्युत हो जायेंगे। ब्राह्मण वेदरहित व स्नान, संध्या से रहित होंगे। शास्त्र सम्मत विधि का लोप हो जायेगा। सज्जनों का उच्छेद होगा तथा दुष्टों का वैभव बढ़ेगा।[4] ऐसे में गजानन फिर से अवतार लेंगे। उस समय वे शूपकर्ण, धूम्रवर्ण, नीले रंग के अश्व पर सवार, हाथ में खड्ग लिये अपनी इच्छानुसार सेना बनायेंगे, तथा अपने तेज व सेना से म्लेच्छों की सेना का वध करेंगे। इस अवतार में वह धूम्रकेतु नाम से जाने जायेंगे।[5] कृतयुग को पुनर्स्थापित करेंगे।[6]

कल्कि अवतार में ऐसी ही परिस्थितियों का वर्णन है। मत्स्य पुराण[7] में बहुत ही रोचक वर्णन मिलता है कि कलियुग में कल्कि अधार्मिक जनों का अपने नाना तीव्र आयुधों से संहार करेंगे तथा सबका विध्वंसन कर नये सुखद युग कृतयुग की स्थापना करेंगे।[8]

---

1. मत्स्य पुराण, 43.12
2. विष्णु पुराण, 2.2.3
3. गणेश पुराण, 1.9.31–32; 1.1.13;, 1.10.27
4. वही, 2.149.15–29
5. वही, 2.149.36–39
6. वही, 2.149.40
7. मत्स्य पुराण, 47.245; 47.246
8. भागवत पुराण, 2.7.38

कल्कि का स्वरूप भी गणेश के धूम्रकेतु अवतार के सदृश्य ही है–अश्वरोही, धूम्रवर्ण, द्विभुजी, हाथ में खड्ग है तथा इन्होंने म्लेच्छों के वध हेतु अवतार ग्रहण किया है।

स्पष्ट है कि गाणपत्य धर्म पर वैष्णव अवतारवाद के सभी तत्वों का प्रभाव पड़ा है। यह कहा जा सकता है कि गणेश से सम्बंधित धर्म व दर्शन तत्कालीन प्रचलित अन्य सम्प्रदायों के सिद्धांतों से बहुत प्रभावित था। विष्णु, शिव आदि सम्प्रदायों द्वारा उनके इष्ट देवों पर आरोपित कर उन्हें उन देवों से भी उच्च स्थापित किया गया। इस प्रकार एक नये व स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में गाणपत्य सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कर गणेश पुराण और मुद्गल पुराण ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

गणेश पुराण में सामाजिक एवं आर्थिक बोध

सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन की दिशा

भारतीय इतिहास में 8वीं से 12वीं शताब्दी तक का काल सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। इस काल के सामाजिक परिवर्तनों के पीछे कुछ आर्थिक परिवर्तनों का भी योगदान रहा है। इस परिवर्तन ने प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के प्रति लोगों का दृष्टिकोण बदल दिया। गणेश पुराण का काल हाज़रा व अन्य विद्वानों ने कुछ मतभेद के साथ 1100–1400 ई. के मध्य का स्वीकार किया है। पूर्व मध्यकालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक तत्वों का इस ग्रंथ में निदर्शन होना स्वाभाविक है। यह परिवर्तनों तथा उनसे उत्पन्न परिणामों का काल था। वे कारण जिनसे समाज व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, राजनीति व धर्म की व्यवस्था में परिवर्तन की आंधी आयी, उन्हें जानने के लिये उस काल की चित्तवृत्तियों पर विचार करना होगा।

भारत के इतिहास में हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद का और राजपूत वंशों के शासन तक (650–1200 ई.) का काल सामान्य तौर पर पूर्व मध्ययुग कहा जाता है। इसके प्रथम चरण (650–1000 ई.) को आर्थिक दृष्टि से पतन का काल माना गया है। इस काल में व्यापार तथा वाणिज्य का ह्रास हुआ। रोम साम्राज्य के पतन हो जाने से पश्चिमी देशों के साथ भारत का व्यापार बंद हो गया। इस्लाम के उदय के कारण भारत का स्थल मार्ग से होने वाला व्यापार भी प्रभावित हुआ। फलतः नगर तथा नगर जीवन में गतिरोध आया।[1] इस काल में स्वर्ण मुद्राओं का अभाव इसी कारण से दिखता है। चांदी एवं तांबे की मुद्रायें भी बहुत कम ढलवायी गयीं। नगरों के पतन के कारण व्यापारी गाँवों की ओर उन्मुख हुये। देश में अनेक आर्थिक तथा प्रशासनिक इकाइयाँ संगठित हो गयीं, जो अपने आप में पूर्णतया स्वतंत्र थीं। व्यापार–वाणिज्य के पतन के कारण व्यापारी तथा कारीगर एक ही स्थान पर रहने के लिये विवश हुये। उनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना–जाना बन्द हो गया। इस काल की अर्थव्यवस्था अवरूद्ध हो गयी और एक ऐसे समाज का उदय हुआ जिसमें क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से अधिकाधिक आत्मनिर्भर होते गये। उन्हें अपनी जरूरत

---

1. नंदी, रमेन्द्रनाथ, प्राचीन भारत में धर्म के सामाजिक आधार, नई दिल्ली, 1998, पृ. 135

की वस्तुयें स्वयं बनानी पड़ती थीं। सामाजिक गतिशीलता के अभाव के फलस्वरूप एक सुदृढ़ स्थानीयता की भावना का विकास हुआ।

पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण (1000–1200 ई.) से व्यापार–वाणिज्य की स्थिति में सुधार के लक्षण दिखने लगते हैं। दसवीं शताब्दी के बाद भारत का व्यापार पश्चिमी देशों के साथ पुनः बढ़ा, जिससे देश की आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहन मिला। सिक्कों का प्रचलन फिर से बढ़ा। व्यापार–वाणिज्य की प्रगति ने समाज को आर्थिक समृद्धि की ओर अग्रसर किया।[1]

इन परिस्थितियों ने सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया। इस काल के समाज में एक विशिष्ट वर्ग का उदय हुआ, जो 'सामंत' कहलाया। समाज का यह शक्तिशाली वर्ग था। यद्यपि भारत में सामंतवाद का अंकुरण शक–कुषाण काल से ही दिखाई देने लगता है, तथापि इसका पूर्ण विकास पूर्व मध्यकाल में हुआ। इस काल की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों ने सामंतवाद के विकास के लिये उपयुक्त आधार प्रदान किया।

अरबों और तुर्कों के आक्रमण, शक्तिशाली राजवंशों के पराभव, छोटे–छोटे राज्यों के उदय ने राजनीतिक अव्यवस्था को जन्म दिया। फलतः व्यापार–वाणिज्य में कमी आयी और अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से भूमि और कृषि पर निर्भर हो गयी। भूस्वामी आर्थिक स्रोतों के केन्द्र बने। भूसम्पन्न कुलीन वर्ग का आविर्भाव हुआ। इन सम्पन्न भूस्वामियों की ओर बहुसंख्यक शूद्र व श्रमिक अपनी जीविका के लिये उन्मुख हुये। दूसरी ओर, इन भूस्वामियों को भी बड़ी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता थी। कालांतर में जब व्यापार व वाणिज्य विकसित हुये तो इस वर्ग ने उसके अनुकूल स्वयं को ढाल लिया। आर. एस. शर्मा की मान्यता है कि भारत में सामंतवाद का उदय राजाओं द्वारा ब्राह्मणों तथा प्रशासनिक और सैनिक अधिकारियों को भूमि तथा ग्राम दान में दिये जाने के कारण हुआ। पहले ये अनुदान केवल ब्राह्मणों को ही धार्मिक कार्यों के लिये दिये गये, लेकिन बाद में प्रशासनिक तथा सैनिक अधिकारियों को भी उनकी सेवाओं के बदले में यह दिया जाने लगा।[2] भूमि के साथ कृषकों तथा बँटाईदारों को भी हस्तान्तरित कर दिया जाता था। उन्हें भूमि

---

1. शर्मा, आर. एस., भारतीय सामंतवाद, पृ. 123
2. शर्मा, आर. एस., वही, पृ. 179

छोड़कर अन्यत्र जाने की अनुमति नहीं थी। इस प्रकार समाज में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती गयी जिन्हें भूमि से दूसरे के श्रम पर पर्याप्त आय प्राप्त होने लगी। सामंत अपने अधीन कई छोटे सामंत रखने लगे। वे अपने अधिकार क्षेत्रों में राजाओं जैसे विशेषाधिकार तथा सुविधाओं का उपभोग करने लगे। जिन लोगों को भूमि अनुदान में मिली उससे सम्बन्धित समस्त अधिकार भी उन्हें प्राप्त हो गये। परिणाम यह हुआ कि सामंतों के छोटे–छोटे राज्य स्थापित होते गये जो अपनी शक्ति और प्रभाव बढ़ाने के लिये परस्पर संघर्ष में उलझते रहे। व्यापार–वाणिज्य का ह्रास, आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था, प्रबल स्थानीयता तथा अवरूद्ध सामाजिक गतिशीलता के तत्व समाज एवं अर्थव्यवस्था में पैदा हुये।[1]

इन परिस्थितियों ने परम्परागत चातुर्वर्ण व्यवस्था को भी प्रभावित किया। कोल्डक का विचार है कि सामंतवाद के विकास से जाति व्यवस्था के बंधन शिथिल पड़ गये तथा समाज के उच्च तथा निम्न वर्गों का अन्तर क्रमशः समाप्त हो गया। क्योंकि सामंत किसी भी जाति के हो सकते थे। यह मत आंशिक रूप से ही सत्य है। वस्तुतः सामंतवाद का भारतीय जातिवाद पर प्रभाव इतना सहज नहीं था जितना कॉलब्रुक ने माना है। यहाँ सामंतवाद का विकास चातुर्वर्ण की अवस्थित स्थिति से ही हुआ। इस काल में सामाजिक स्तरीकरण की दो प्रवृत्तियाँ साथ–साथ चलती हुई दिखती हैं। एक ओर समाज के उच्च तथा कुलीन वर्ग द्वारा वर्ण नियमों को कठोरतापूर्वक लागू करने का प्रयास किया गया, वहीं दूसरी ओर, इस युग के व्यवस्थाकारों ने विभिन्न जातियों एवं वर्गों के मिश्रण से बने हुये शासक एवं सामंत वर्ग को वर्णव्यवस्था में समाहित कर आदर्श तथा यथार्थ के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास भी किया।

सामंतवादी प्रवृत्तियों के विकास के साथ–साथ भूसम्पत्ति, सामरिक गुण, राज्याधिकार आदि सामाजिक स्थिति एवं प्रतिष्ठा के प्रमुख आधार बन गये। ब्राह्मण वर्ण भी इनकी ओर आकर्षित हुआ। समाज के प्रथम दो वर्ण (ब्राह्मण एवं क्षत्रिय) एक दूसरे के निकट आ गये। अंतिम दो वर्णों (वैश्य और शूद्र) में भी सन्निकटता आयी। इस प्रकार पूर्व–मध्यकालीन समाज दो भागों में विभाजित हो गया। प्रथम भाग में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय तथा द्वितीय में वैश्य एवं शूद्र समाहित हो गये। दोनों भागों का अंतर बढ़ गया। समाज का

1. शर्मा, आर. एस., भारतीय सामंतवाद, पृ. 39

द्विभागीकरण इस काल में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सुस्पष्ट हो गया।

सामंतों के रहन–सहन का समाज के कुलीन वर्ग पर प्रभाव पड़ा। सामंत वैभव एवं विलास का जीवन व्यतीत करते थे। कुलीन वर्ग ने इनका अनुकरण किया। परिणामस्वरूप श्रम को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। सामंतों की तरह ही ब्राह्मण भूस्वामी भी बहुसंख्यक दास–दासियों को अपनी सेवा में रखने लगे। कुलीन वर्ग दूसरे के श्रम पर निर्भर हो गया। इस प्रक्रिया और परिणाम का स्पष्ट निरूपण गणेश पुराण में मिलता है। इसमें लोगों को भूमिदान, गोदान आदि के लिये बार–बार प्रोत्साहित किया गया है।[1] ऐसा भी विवरण प्राप्त होता है कि गाँवों के साथ अनेक दास–दासियों का दान भी राजा ने किया।[2]

ब्रम्होवाच। इत्युक्त्वा पूजयामास तं कलाधरमादराह ददौ तस्मैदशग्रामान् गोवस्त्र भूषणानि च।

उस काल की एक अन्य महत्वपूर्ण विशिष्टता थी वर्ण–व्यवस्था की कठोरता तथा नवीन वर्गों का उदय। आठवीं शताब्दी से समाज पर इस्लाम धर्म का प्रभाव परिलक्षित होने लगा था। इसके सामाजिक समानता के सिद्धान्त ने परम्परागत चातुर्वर्ण व्यवस्था को गम्भीर चुनौती दी, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू समाज में रूढ़िवादिता बढ़ी। समाज में शुद्धता और सुरक्षा बनाये रखने के उद्देश्य से विवाह, खान–पान तथा स्पृश्यता के नियम अत्यंत कड़े कर दिये गये। किन्तु इस समय भी जाति प्रथा की रूढ़ियों को मान्यता देने से इनकार करने वाले कुछ लोग समाज में विद्यमान थे और वे थे – जैने आचार्य, शाक्त–तांत्रिक सम्प्रदाय तथा चार्वाक।

बारहवीं शताब्दी तक आते–आते समाज में जाति प्रथा के विरोध की भावना प्रबल हुई। अब तक निम्न वर्गों की आर्थिक स्थिति में भी सुधार होना शुरू हो चुका था। कृषि, उद्योग–धंधों, व्यापार तथा वाणिज्य आदि की उन्नति हुई। जिसके फलस्वरूप निम्न वर्ग के लोग सामाजिक दृष्टि से दलित होने के बावजूद आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो गये। उन्होंने जाति प्रथा के कड़े नियमों एवं प्रतिबंधों को मानने से इनकार कर दिया। वे पौराणिक हिन्दू धर्म त्याग कर नास्तिक धर्मों के अनुयायी होने लगे। इससे समाज के उच्च वर्णों को काफी निराशा हुई।

---

1. गणेश पुराण, 1.26.8; 1.26.22; 1.26.10
2. गणेश पुराण, 1.41.25

सामाजिक परिवेश में हुये परिवर्तन के कारण पूर्व मध्ययुग में परम्परागत वर्णों के कर्तव्यों को भी नये सिरे से निर्धारित किया गया। पहली बार 'पराशर स्मृति' (600–902 ई.) में कृषि को ब्राह्मण वर्ण की वृत्ति बताया गया है। जबकि शास्त्रकारों ने अभी तक मात्र आपत्तिग्रस्त ब्राह्मणों के लिये कृषि का विधान किया था। पूर्व मध्यकाल में अधिकांश ब्राह्मणों ने कृषि करना या कराना प्रारंभ कर दिया था। भूमिदानग्राही कुलीन ब्राह्मण शूद्रों से कृषि कराते थे। क्षत्रिय वर्ण इस समय दो भागों में बँट गया। पहला–शासक व जमींदार वर्ग, दूसरा–सामान्य क्षत्रिय। इस काल में वैश्य और शूद्र दोनों के कार्यों में समानता मिलती है। यह माना जा सकता है कि उस समय 'कृषि' को सभी वर्णों का सामान्य धर्म निर्धारित किया गया। यह समाज के बढ़ते हुये कृषिमूलक स्वरूप का सूचक है, जो सामंतवाद के प्रतिष्ठित होने के कारण पूर्व मध्यकाल में अत्यधिक स्पष्ट हो गया था।[1]

पूर्वमध्यकालीन समाज में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि वैश्य वर्ण की सामाजिक स्थिति पतनोन्मुख हुई। उन्हें शूद्रों के साथ समेट लिया गया। वैश्यों की स्थिति में गिरावट का कारण पूर्व मध्यकाल के प्रथम चरण में व्यापार–वाणिज्य का ह्रास है। इस काल में आतंरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार का ह्रास हुआ। अतः वैश्यों का आर्थिक पतन हुआ। दूसरी ओर शूद्रों का संबंध कृषि के साथ हो जाने से उनकी आर्थिक दशा पहले से अधिक अच्छी हो गयी। गणेश पुराण में इस तथ्य से संदर्भित अनेक उदाहरण प्रापत होते हैं। यह उस समय की सामाजिक संरचना की गतिशीलता को स्पष्टतया परिलक्षित करती है।[2] एक स्थल पर वर्णित है कि गणेश पुराण को सुनने वाला शूद्र क्रमशः उच्च वर्ण को प्राप्त करता है अर्थात् वैश्य, क्षत्रिय व द्विज बन जाता है।[3] शूद्रों को तीर्थयात्रा करने व पवित्र सरोवर में स्नान करने का भी अधिकार प्राप्त हो चुका था।

शुद्रोऽपि मध्ये संस्थाप्य ब्राह्मणान्शृणुयादिदम्।
क्रमेण लभते वर्णान्वैश्यक्षत्रिद्विजाह्याम्।।

उस काल की एक अन्य विभिन्न विशिष्टता है जातियों तथा उपजातियों की संख्या में वृद्धि।[4] परम्परागत चार वर्ण भी अनेकानेक जातियों में बिखर गये। नयी–नयी

1. शर्मा., आर. एस., पूर्व मध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (500–1200 ई.),
2. गणेश पुराण, 2.155.18; 2.147.9
3. वही, 2.155.17
4. गणेश पुराण, 1.32.11

जातियों को इनके अन्तर्गत समाहित कर लिया गया। परम्परागत वर्णों के विघटन का सर्वाधिक प्रभाव ब्राह्मणों पर पड़ा।[1]

चिंतामणिरितिख्याता सर्वेषां सर्वकामदा।

तस्याग्रतो महाकुंड गणेश पदपूर्वकम्।।

कश्चिच्छूद्रो महाकुष्टी जराजर्जरितो नृप।

तीर्थयात्रा प्रसंगेन कदम्बपुरमागतः।।

प्रारंभ से ही ब्राह्मण गोत्र, प्रवर तथा शाखा के आधार पर विभाजित थे। वृत्ति, शिक्षा, धर्म, शुचिता, क्षेत्र, स्थान आदि के आधार पर उनमें भेद किया जाता था। भूमि अनुदानों की अधिकता के कारण ब्राह्मणों में दृढ़ स्थानीयता की भावना विकसित हो गयी, जिसके परिणामस्वरूप पूर्व मध्यकाल में उनकी अनेक उपजातियाँ बनीं।[2]

क्षत्रिय वर्ण में जातियों का बाहुल्य मुख्य रूप से राजपूत कहे जाने वाले नये समुदाय के उदय के कारण हुआ। राजपूतों के विभिन्न कुलों की उत्पत्ति परम्परागत भारतीय वर्णों तथा विदेशी जातियों से हुई। हिन्दू समाज व्यवस्था में बैक्ट्रियायी, यूनानी, शकों और पर्थियाइयों को द्वितीय श्रेणी के क्षत्रियों के रूप में सम्मिलित किया गया। जब हूण, गुर्जर जैसे मध्य एशियाई लोग तथा सोलंकी (चालुक्य), परमार, चाहमान, तोमर, गहस्वाल आदि क्षत्रिय वर्ग में शामिल हुये। इससे क्षत्रियों की संख्या तेजी से बढ़ने लगी।

पूर्व मध्यकाल में शूद्र जातियों की संख्या सबसे अधिक हो गयी। विधिग्रन्थों अर्थात् धर्मसूत्रों में 10–15 वर्णसंकर जातियों की चर्चा है।[3] किन्तु मनुस्मृति में 61 जातियों का उल्लेख है।[4] यदि ब्रह्मवैवर्त पुराण में[5] दी गई अतिरिक्त जातियों की सूची भी मिला दें तो यही संख्या सौ से ऊपर चली जाती है। आठवीं शताब्दी की रचना विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार वैश्य स्त्रियों तथा निम्नस्तरीय जातियों के पुरुषों के समागम से हजारों वर्णसंकर जातियों का जन्म होता है। स्पष्ट है कि इस काल के सामाजिक परिवर्तनों से शूद्र वर्ग के लोग ही सबसे अधिक प्रभावित हुये। जंगलों, वनों आदि में रहने वाले पिछड़े लोगों

1. शर्मा, आर. एस., पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ. 173
2. ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्म खण्ड II पृ. 136
3. शर्मा, आर. एस., वही, पृ. 174
4. मनुस्मृति, X. 1–51
5. ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्म खण्ड, X.14.136

पर कृषि की दृष्टि से उन्नत इलाकों के ब्राह्मणीकृत राजाओं की विजय से शूद्र जाति की संख्या और प्रभेद में अपार वृद्धि हुई। ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा अन्य रचनाओं में उल्लिखित आभीर, आगरी, अम्बष्ठ, मित्तल, चण्डाल, कौच आदि वर्णसंकर जातियों के लोग मूलतः कबायली थे जिन्हें ब्राह्मण समाज व्यवस्था में स्पृश्य या अस्पृश्य शूद्रों के रूप में शामिल किया गया। मध्यकाल में अस्पृश्य शूद्रों की संख्या में भारी वृद्धि हुई। इस वृद्धि का प्रमुख कारण यह भी माना जाता है कि शिल्पियों ने जातियों का रूप धारण कर लिया। गुप्तोत्तर काल में वाणिज्य–व्यापार के ह्रास के कारण शिल्पियों की श्रेणियाँ रूढ़, गतिहीन, आधिकाधिक अनुवंशिक और स्थानीयकृत होती चली गयीं। अलग–अलग व्यवसायों व श्रेणियों से संबंद्ध लोगों ने स्वयं को धीरे धीरे संकीर्ण समूहों में बाँध लिया, जो जातियों के पर्याय बन चुके थे। गणेश पुराण में भी अनेकों जातियों व उपजातियों का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे पिलाक्ष, भील[1], शक, यवन[2] चाण्डाल[3]

प्रतिग्रहं करिष्यन्ति चाण्डालस्य द्विजातयः।

दारिद्राश्च भविष्यन्ति हाहाभूता विचेतसः।।

अंत्यज[4]। स्पष्ट है कि गणेश पुराण का रचना काल पूर्व मध्य काल होने से उस काल के समाज की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का निदर्शन होता है।

गणेश पुराण में वर्ण व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था हिन्दू वैदिक संस्कृति का वह मूल आधार है, जिसके द्वारा सामाजिक संगठन का विकास हुआ। धर्म को अत्यधिक महत्व देने के कारण वर्णों की व्युत्पत्ति को ईश्वर से जोड़ा गया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णों की रचना श्रष्टा के विभिन्न अंगों से मानी गयी है। शरीर के रूपक के माध्यम से भावनात्मक धार्मिक आधार बनाया गया है।[5]

ब्राह्मणोऽस्य मुखामासीत् बाहु राजन्यः कृतः।

उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्य शूद्रोऽजायतः।।

---

1. गणेश पुराण, 2.28.15
2. वही, 2.79.20
3. वही, 2.149.22
4. वही, 1.76.38
5. ऋग्वेद 10.90.12

प्रारंभ में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप कार्यशीलता पर ही आधारित था। ब्राह्मण का कर्त्तव्य अध्ययन–अध्यापन, यज्ञ करना, दान लेना तथा देना था। क्षत्रिय का कार्य जनरक्षा, युद्ध करना, वैश्य का मुख्य कर्त्तव्य पशुपालन, कृषि व्यापार तथा ऋण देना था। शूद्र का कर्त्तव्य तीनों उच्चतर वर्णों की सेवा करना था।

महाभारत में ब्रह्मा के विविध अंगों से चारों वर्णों की उत्पत्ति बताई गई है। शान्तिपर्व में कहा गया है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा तीनों वर्णों की सेवा के लिये पैर से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[1] भगवद्गीता में उल्लिखित है कि चारों वर्णों की उत्पत्ति गुण तथा कर्म के आधार पर हुई है।[2]

चातुर्वर्ण्य मया सृष्टा, गुणकर्म विभागशः।

तस्य कर्त्तारमपि कां विद्धयकर्त्तामत्यमम्।।

महाभारत में एक स्थान पर उल्लिखित है कि समाज में सर्वप्रथम ब्राह्मण ही थे। बाद में कर्म की विभिन्नता के कारण कई वर्ण हो गये।[3] वर्णगत समूहों का विभाजन कर्म के आधार पर हुआ। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर कर्म को महत्व प्रदान किया गया है। कर्त्तव्य के लिये कर्मों का संपादन अमृतत्व का साधन माना गया है।[4]

धीरे–धीरे विकास प्रक्रिया के साथ वर्णों की उत्पत्ति जन्मना मानी जाने लगी। ब्राह्मण परिवार में जन्मा व्यक्ति अयोग्य तथा अज्ञानी होकर भी पूजनीय माना जाता था तथा चारों वर्णों में जन्म के आधार पर श्रेष्ठ समझा जाता था।[5] इन्हीं आधारों पर वर्ण व्यवस्था का परिचालन होता रहा।

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणाक्षत्रिय वैश्य शूद्राः।

तेषाम् पूर्वापूर्वो जन्मतः श्रेयान्।।

गणेश पुराण के संदर्भ में तत्कालीन वर्ण व्यवस्था किस प्रकार पुराणकार को प्रभावित करती है तथा नयी व्याख्या के लिये प्रेरित करती है, यह उल्लेखनीय है। सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन के साथ ही नयी व्याख्याएँ उत्पन्न हो रही थीं। मनु तथा

1. महाभारत, शान्तिपर्व 184.12
2. गीता, 4.13
3. महाभारत, शांतिपर्व, 188.10
4. मण्डूकोपनिषद् 1.1.8 कर्मसु चामृतम्।
5. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.1.15

याज्ञवल्क्य द्वारा बनाई गयी व्यवस्था को नये सिरे से स्मृतिकारों द्वारा निरीक्षित तथा परिवर्तित किया गया। इन्होंने वर्ण व्यवस्था को जीवंतता को नये सामाजिक परिप्रेक्ष्य में बनाये रखा। बाण ने उल्लेख किया है कि हर्ष ऐसा शासक था जो मनु के समान वर्णों तथा आश्रमों के सभी नियमों का पालन करता था।[1]

यह ध्यातव्य है कि ईसा की छठीं शताब्दी से सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन मिलता है। विभिन्न वर्णों की स्थिति में उतार–चढ़ाव दिखाई देने लगा। ह्नेनसांग के अनुसार जातियों और श्रेणियों में ब्राह्मण सर्वाधिक सम्मानित और पवित्र थे। उनकी ख्याति और व्यापकता के कारण भारत के लिये 'ब्राह्मण देश' का संबोधन भी प्रचलित रहा। वे अपने सिद्धान्तों के पालन में संयम, शुचिता और सदाचार का सर्वदा ध्यान रखते थे।[2] समाज में ब्राह्मणों की स्थिति अत्यंत उत्कृष्ट और विशिष्ट थी। वे अपने उच्च कर्मों और संयमित जीवन के कारण समाज में वंदनीय थे।

क्षत्रिय समाज का पोषण तथा रक्षण करने वाला वर्ण था। देश की रक्षा का भार उसी पर था। ह्नेनसांग ने क्षत्रियों को राजन्य वर्ग का माना तथा पीढ़ियों से शासन कार्य करने वाला कहा।[3] विदेशी लेखकों के साक्ष्य भी इनकी विशेषता बताते है। इब्नखुदीज्का ने लिखा है कि क्षत्रियों के सम्मुख सभी सिर झुकाते हैं, लेकिन ये किसी को सिर नहीं झुकाते।[4] मध्यकालीन शास्त्रकार लक्ष्मीधर ने मनु, पराशर, हारित, बौधायन, आपस्तम्ब के अनुसार उल्लेख करते हुए कहा कि राजा के रूप में क्षत्रिय का विशेष कर्त्तव्य था–शस्त्र धारण करना, देश का निष्पक्ष शासन करना तथा वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना। शास्त्रकारों द्वारा वर्णानुकूल कर्म की प्रशंसा की गयी है। तथा इसी के माध्यम से व्यक्ति, परिवार एवं समाज का उत्कर्ष माना है। व्यावहारिकता को ध्यान में रखकर आपत्तिकाल में उसके लिए जीविकोपार्जन हेतु अन्य वर्णों के कर्म अनुपालित करने की सलाह दी गयी। लक्ष्मीधर ने लिखा है कि क्षत्रिय कृषि तथा व्यापार कर सकता था।

वैश्य वर्ण हेतु कृषि तथा व्यवसाय का संयोजन किया गया था। आर्थिक स्थिति

---

1. हर्षचरित, 2.36
2. मिश्रा, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1999, पृ. 149
3. वही, पृ. 168
4. मिश्रा, जे. एस.; ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. 112

के सुदृढ़ीकरण के लिए वैश्य वर्ण को नियोजित किया गया था। बाद में पूर्व मध्य काल तक आते–आते वैश्यों के कार्यो में कुछ कमी आ गयी। अनेक स्थलों पर वैश्यों को कला–कौशल में निपुण, कारीगर तथा मिस्त्री बताया है।

सामाजिक परिवर्तन के चलते समाज में वर्णगत परिवर्तन भी परिलक्षित हो रहे थे। अपने पूर्व निर्धारित कर्मों से उच्च वर्ग के लोग च्युत होते गये तथा धीरे–धीरे शूद्र वर्ण के निकट पहुँच गये। अलबरूनी लिखता है कि पिछले दो वर्णों में कोई अन्तर नहीं हैं। यद्यपि ये दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं तथापि एक ही साथ निवास करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वैश्यों की स्थिति में ह्रास हुआ।

शूद्र का व्यवहार क्रम में चौथा स्थान था। अन्य जातियों की सेवा का भार उन पर था। वे अधिकार तथा कर्त्तव्य की दृष्टि से समाज में अत्यन्त उपेक्षित तथा निम्न थे। पराशर तथा गौतम के अनुसार शूद्रों का प्रधान कार्य द्विज की सेवा करना था।[(1)] वैश्यों की जब कृषि से विमुखता हुई तो शूद्रों ने कृषि कार्य को ग्रहण कर लिया। पुराणों के अनुसार, शूद्र का प्रधान कर्म सेवावृत्ति था। दो अन्य कर्म माने गये–शिल्प तथा मृति।[(2)]

समसामयिक ग्रन्थों तथा काव्यों में शूद्रों को आदर की दृष्टि से देखा गया। मेधातिथि तथा विश्वरूप के अनुसार शूद्र न सेवक बनाये जा सकते हैं, न ब्राह्मण पर निर्भर किये जा सकते हैं। वे व्याकरण तथा अन्य विद्याओं के शिक्षक हो सकते हैं। स्मृतियों द्वारा निर्धारित उन सभी कृत्यों को कर सकते है जो अन्य वर्णों के लिए निर्दिष्ट थे।[(3)]

मुखतो ब्राम्हणाग्निमसृजत् कमलासनः।

बाहुरूपादतोऽन्यां स्त्रीन् वर्णाश्चन्द्रमसं नरः।।

धर्मशास्त्रों तथा ग्रन्थों में जब भी चतुर्वर्ण का उल्लेख हुआ है, सर्वदा ध्यान रखा गया है कि उनकी स्थितियों की ऐसी समायोजना हो जिससे वरिष्ठता क्रम में किसी प्रकार का व्यवधान न उत्पन्न हो। समाज की श्रेणियों के अनुसार सामाजिक जीवन तथा आचार

---

1. पराशर स्मृति 1.7.74; वृहत् गौतम स्मृति 22.6
2. वायु पुराण, 8.163, ब्रह्माण्ड पुराण, 2.7.163

   शिल्प जीवं भूतां चैव शूद्राणां व्यदधात्प्रभुः।
3. मेघातिथि, मनु. 3.67.121; 3.156.127
4. गणेश पुराण, 1.16.8–9

   मुखतो ब्राम्हणाग्निमसृजत्

को चलाने के लिए अनेक नियम–उपनियम बने थे। चारों वर्णों के अनुसार ही उनकी व्याख्या होती थी।

गणेश पुराण में पूर्व मध्यकाल की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियों, सम्प्रदायों तथा वातावरण की झलक दिखाई देती हैं। वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में इसमें कहा गया है कि प्रजापति ने अपने मुख से ब्राह्मण एवं अग्नि को जन्म दिया। बाहु, उरू (जंघा) व पद से क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को जन्म दिया। यह उल्लेख ऋग्वेद से मिलता–जुलता है। विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण आदि में भी वर्ण व्यवस्था की ऐसी ही व्याख्या की गयी है।[1]

तन्मुखात् बाह्मणास्त्तो बाहो क्षत्रमजायत।

वैश्यास्तवोरूजाः शूद्रास्तव पद्भ्यां समुद्गताः।।

यह वर्ण व्यवस्था जन्मना न होकर कर्म के आधार पर गणेश पुराण में उल्लिखित है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय शुद्ध श्वेत रंग की मिट्टी तथा वैश्य एवं शूद्र काले रंग की मिट्टी लेकर नदी के किनारे जायँ तथा हाथ साफ करें। जहाँ वाल्मीकि और ब्राह्मण का निवास न हो।[2] यहाँ वर्ण विभाजन का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है।

वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण रहा है। पृथ्वी पर सर्वप्रथम उन्हीं को उत्पन्न माना जाता है। उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे, जो आगे भी बने रहे। गणेश पुराण में ब्राह्मण के महत्व यत्र–तत्र दिखाई देते हैं। इसमें वर्णित है कि चौरासी लाख योनियों में मनुष्य योनि श्रेष्ठ है। इनमें भी तीन वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मण सर्वोत्तम हैं। ब्राह्मणों में भी ज्ञानी, ब्रह्मवेत्ता, अनुष्ठान परायण ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं।[3]

चतुरशोति लक्षासु योनिषु क्षेष्ठताषु च।

मनुष्याणां महाभाग वर्णास्तत्र महत्तराः।।

तत्रापि ब्राह्मणाः श्रेष्ठास्तमत्रापि ज्ञानिनः पराः।।

ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख किया गया है जो वेदों तथा शास्त्रों के ज्ञाता थे।[4] एक

---

1. विष्णु पुराण, 1.12.63–64
2. गणेश पुराण, 1.3.13–14
3. वही, 1.37.27–29
4. वही, 1.37.28

ज्ञानिष्वनुष्ठानपरास्तेषु च ब्रह्मवेदिनः।

स्थल पर कहा गया है कि ब्राह्मणों को दान देने से असाध्य रोग भी ठीक हो जाते हैं।[1] राजा भीम स्वस्तिवाचनपूर्वक ब्राह्मणों को दान देते हैं।[2]

एवं निश्चित्य स नृपः स्वस्ति वाचपूर्वकम्।
कृत्वा दानानि बहुशो ब्राह्मणेभ्यो ययौ पुरात्।।

पुत्र प्राप्ति के समय कल्याण द्वारा ब्राह्मण को दान देने का उल्लेख मिलता है। गणेश भक्त ब्राह्मण की महिमा का वर्णन मिलता है कि उसके वायु स्पर्श को पाकर स्वास्थ्य प्राप्ति संभव है।[3]

कस्यचित् द्विजवर्यस्य द्विरदानन चेतसः।
दैवात् स्पर्शेन भद्रे ते सम्यक्पुत्रो भविष्यति।।

गणेश पुराण में वर्ण नियम का भी उल्लेख है। यजन, अध्ययन, दान व शरणागत की रक्षा इनके कर्त्तव्य हैं। वे कोई निषिद्ध आचरण नहीं करते। ये नियम तो सभी वर्णों के लिये हैं। अध्ययन व यज्ञ ये दो कर्म विशेष कर ब्राह्मणों के हैं।[4]

अधीतिर्यजनं दानं शरणागत पालनम्।
निषिद्धाचरणं नैवं विध्यर्थ प्रतिपालनम्।।
एते धर्मास्त्रिवर्णानां याजनादि त्रयं द्विजे।

पूजा–विधि के अन्तर्गत ब्राह्मणों को भोजन कराने का उल्लेख है।[5]

निवेद्यं पूजनं नत्वा क्षमाप्य च ततः पुनः।
ब्राह्मणान्भोजये भुक्त्या शक्त्या वा चैकविंशतिम्।।

उन्हें दान में गाँव देने का भी उल्लेख है।[6]

कृत्याऽभ्युदायिकं श्राद्धं ददौ दानान्यनेकशः।
माल्यालंकार वासांसि गावो रत्नान्यनेकशः।।

बुद्ध नामक ब्राह्मण को अपराधी होने पर भी कोई दण्ड नहीं दिया गया।[7]

---

1. गणेश पुराण, 1.29.17
2. वही, 1.19.17
3. वही, 1.23.39
4. गणेश पुराण, 1, 53..26–27
5. वही, 1.59.31
6. वही, 1.73.22
7. वही, 1.76.31

गणेश के स्वरूप को ब्राह्मणों ने परमेश्वर के रूप में, क्षत्रियों ने वीर के रूप में, वैश्यों ने संहारकारी रुद्र के रूप में तथा शूद्रों ने हरि (विष्णु) और राजा के रूप में देखा।[1]

ब्राह्मणाः परमात्मानं पश्यन्ति स्म विनायकम्।

क्षत्रियास्तं महावीरं पश्यन्ति स्म रणोत्सुकम्।।

ईश्वर की भक्ति करके ब्राह्मण वेदांग का ज्ञाता हो जाता है, क्षत्रिय विजय प्राप्त करता है, वैश्य धन से पूर्ण हो जाता है तथा शूद्र को सद्गति की प्राप्ति होती है। ब्राह्मणों का महत्व स्पष्टतया इस पुराण में परिलक्षित होता है। लगभग ऐसी ही दशा का वर्णन अन्य स्थलों पर भी मिलता है। ब्राह्मण के अतिरिक्त वैश्य, शूद्र, अंत्यज आदि वर्णों का उल्लेख भी गणेश पुराण में है।[2] इसमें उल्लिखित है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इनके कर्म स्वभाव से ही भिन्न होते हैं। आंतरिक एवं बाह्य इन्द्रियों को वश में रखना, मृदुता, क्षमा एवं विभिन्न प्रकार के तप, शुचिता, दोनों प्रकार का ज्ञान, उनके अनुसार अनुष्ठान करते रहना—यह ब्राह्मण का कर्म है।

दृढ़ता, शूरता, दक्षता, युद्ध में पीठ न दिखाना, शरणागत की रक्षा, दान, धैर्य, तेज, प्रभुता, मन को उन्नत बनाये रखना, नीति व लोक का पालन करना क्षत्रिय के कार्य हैं।

नाना वस्तुओं को बेचना, खरीदना, भूमि का कर्षण (जोतना), गायों की रक्षा करना, तीनों प्रकार के कर्म के अधिकारी बने रहना वैश्यों का कर्म है। दान देना, द्विजों की सेवा, शिव की सेवा आदि शूद्रों के कर्म हैं।[3]

दानं द्विजानां शुश्रूषा सर्वदा शिवसेवमन्।

पूर्व मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था का उल्लेख भी गणेश पुराण में मिलता है। गणेश कहते हैं कि रजस, सत्व तथा तमस के आधार पर मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की है, जिसका आधार कर्म है। विद्वानों ने मुझे इसका कर्त्ता तथा अकर्त्ता माना है।[4]

चत्वारोहि मया वर्णा रजः सत्त्वतमों शतः।

कर्मांशतश्च संसृष्टा मृत्युलोके मयाऽनृपत।।

---

1. गणेश पुराण, 2.13.19—20
2. वही, 2.35.10
3. गणेश पुराण, 2.148.32
4. वही, 2.14.18—19

कर्तारमपि मां तेषामकर्तारं विदुर्बुधाः।

इसके साथ ही चारों वर्णों की उत्पत्ति यज्ञ से मानी गयी है।[1]

वर्णान्सृष्ट्वाऽवदं चाहं सयज्ञांस्तान्पुरा प्रिय।

पूर्व मध्यकाल में उत्पन्न सामाजिक परिवर्तन की झलक भी इस पुराण में मिलती हैं—शूद्र वेद पढ़ेंगे। ब्राह्मण शूद्रों का कर्म करेंगे। क्षत्रिय वैश्य का कर्म करेंगे तथा वैश्य शूद्रों का। द्विज लोग चाण्डाल से दान ग्रहण करेंगे। सब दरिद्र हो जायेंगे।[2]

प्रतिग्रहं करिष्यं वाण्डालस्य द्विजातयः।

दरिद्राश्व भविष्यन्ति हाहाभूता विचेतसः।।

आगे वर्णन मिलता है कि कुछ क्षत्रिय अपने कुलाचार के विरूद्ध भिक्षा लेंगे। इस तरह लोग विधि व नियमों का आचरण नहीं करेंगे। संकटकारी कर्म करेंगे।[3]

व्रतानि नियमांश्चापि नाचरिष्यन्ति कर्हिचित्।

वर्णसंकर कारीणि कर्ता कर्माणि भूजनः।।

एक अन्य स्थल पर गणेश कहते हैं कि वे वर्णसंकर के विधाता बनेंगे।[4]

हंता स्यामस्य लोकस्य विधाता संकरस्य च।

कामिनो हि सदा कामैरज्ञानात्कर्म कारिणः।।

गणेश पुराण में एक स्थल पर म्लेच्छों का भी उल्लेख मिलता है जो कि तत्कालीन विदेशी जातियों के लिये संकेतित है।[5]

म्लेच्छप्रायाः सर्वलोकाः परद्रव्यापहारिणः।

सामाजिक परिवर्तन का संकेत एक अन्य स्थल पर मिलता है जहाँ कहा गया है कि अपना धर्म गुणरहित हो तो भी दूसरे के सांगगुण युक्त धर्म से अच्छा है। अपने धर्म में मरण भी अच्छा होता है। दूसरे धर्म में भय ही मिलेगा।[6]

गणेश पुराण में एक स्थल पर उल्लिखित है कि इसके श्रवण से शूद्र वैश्य, वैश्य

---

1. गणेश पुराण, 2.139.10
2. वही, 2.149.22
3. गणेश पुराण, 2.149.29
4. वही, 2.139.24
5. वही, 2.149.30
6. वही, 2.139.35

क्षत्रिय तथा क्षत्रिय ब्राह्मण बन जाते हैं।[1]

वेदाध्यपनसंपन्नोमान्योऽपि द्विजपुंगव।

शूद्रो वैश्यत्वमाप्नोति वैश्यः क्षत्रियतामियात्।।

इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में वर्ण–व्यवस्था संबंधी नियम कठोर नहीं रह गये थे, उनमें परिवर्तन संभव था। किसी वर्ण–विशेष का व्यक्ति दूसरे वर्ण में सम्मिलित हो सकता था। दूसरा उदाहरण एक अन्य स्थल पर भी मिलता है जहाँ कहा गया है कि जो भक्ति से रहित होकर गणेश की उपासना करता है, वह चाण्डाल है। भक्ति से भजन करता हुआ चाण्डाल भी ब्राह्मणों से अच्छा है।[2]

भजन्भक्त्वा विहीनो यः स चाण्डालोऽमि धीयते।

चाण्डालोऽपि भजनभक्ता ब्राह्मणेभ्याऽधिको मम।।

स्पष्ट है कि उस काल में वर्ण को महत्व दिया जाने लगा था तथा निचले वर्ण को भी भक्ति, पूजा, उपासना का अधिकार मिला था। भक्ति का मार्ग उनके लिये वर्जित नहीं था।

इस पुराण में कहा गया है कि जो ज्ञान–विज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण के प्रति, गो तथा हाथी के प्रति समान भाव रखते हैं, वे पंडित और महात्मा हैं।[3]

सामाजिक परिवर्तन का उदाहरण एक अन्य स्थल पर भी दिखता है जहाँ बताया गया है कि दुर्धश नामक क्षत्रिय राजा की पत्नी एक केवट से प्रेम करती थी। इससे उसे जारज पुत्र उत्पन्न हुआ जिसे राजा की मृत्यु के पश्चात् शासक बनाया गया।[4]

तस्य पत्नया प्रमदया कैवर्तासक्त चित्तया।

जनितः सुमुहूर्ते सनज्ञातो जारजस्विति।

यावन्ति राजचिन्हानि तावन्ति ददतुश्चतौ

निवेदितं कोशसहितं सर्वराज्यं सराष्ट्रकम्।।

उसे राजा के सभी चिन्ह दे दिये गये। कोष, सोना सब पर उसका अधिकार हो

---

1. गणेश पुराण, 2.155.50
2. वही, 2.146.7
3. वही, 2.141.36
4. वही, 2.27.22–23

गया तथा वह साम्ब राजा बनकर शासन करने लगा।

गणेश पुराण में अन्य जातियों के उल्लेख से तत्कालीन समाज में उन जातियों के अस्तित्व का ज्ञान होता है। साम्ब राजा तथा उसके दुष्ट मंत्री ने अपने पापों के कारण राक्षस तथा भील योनि में जन्म लिया। वे पिलाक्ष तथा भील नाम से प्रसिद्ध हुये।[1]

राक्षसीभिल्लयोर्योनो ततश्चान्ते समीयतुः।

पिंगाक्षो दुर्बुद्धिरिति नाम्ना ख्यातौ च भूतले।।

इसमें अंत्यज जाति का भी उल्लेख है।[2] गणेश पुराण में शकों तथा यवनों आदि का भी उल्लेख किया गया है।[3]

शकाश्च बर्बरा आसस्तस्या केशसमुद्भवाः।

शूद्र जाति के बारे में कहा गया है कि इस जाति के लोग गणेश पूजन करने तथा गणेश कुण्ड में स्नान करने के कारण दिव्य देहधारी बन गये।[4]

गणेश कुंडे स्नात्वैव दिव्यहेदमवाप सः।

विनायकस्वरूपैस्तु गणैराननतितम्बरात्।।

इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक शूद्रों को भी पूजा तथा तीर्थ का अधि
ाकार मिल गया था।

गणेश पुराण के एक प्रसंग में बताया गया है कि ऋषि पत्नी मुकुंदा राजपुत्र रुक्मांगद पर मुग्ध हो गयी थी। यह जानकर इन्द्र रुक्मांगद का वेश धरकर मुकुंदा के पास गये। इनसे उत्पन्न पुत्र कृत्समद को शास्त्रार्थ से इसलिये निष्कासित कर दिया गया क्योंकि वह राजपुत्र रुक्मांगद से उत्पन्न था।[5]

तपस्वीति भवान्मान्यो न मुनिस्त्वं यतस्तव।

जन्म रूक्मांगदाज्जातं राजपुत्राद्विचारय।।

शूद्रों के विषय में कहा गया है कि नित्यकर्म के नियम को स्त्री एवं शूद्र आधा

---

1. गणेश पुराण, 2.28.35
2. वही, 1.76.18
3. वही, 1.79.16
4. वही, 1.29.14
5. वही, 1.36.29

कर सकते हैं।[1]

अर्द्ध पादं दिवारात्रौ शौच स्त्री शूद्र एवच।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गणेश पुराण में चतुर्वर्ण व्यवस्था के संदर्भ के कुछ वर्णों के लिये पारम्परिक विवरण ही प्राप्त होता है। जैसे, ब्राह्मण वर्ण, गणेश पुराण कालीन समाज में भी सर्वोच्च व विशेषाधिकार प्राप्त स्थिति में था। वह दण्ड से मुक्त था।[2]

ददहुस्ते जनाः सन्तो दंपती स्व स्वकाष्टतः।

न शास्ति राजा दंड्यत ब्राह्मणत्वाद् द्विजाधमम्।

स्वर्ण[3],

तत्तदृतु भतनीशे नारिकेलानि चानयेत्।

बहुप्रकार मार्तिक्यं कांचनीं दक्षिणां तथा।।

गाय[4], भूमि[5], ग्राम[6],

ततस्तस्मै ददौ ग्रामान् वासो रत्न धनादिकम्।

अन्येषां ब्राह्मणानां च गोधनान्यंशुकानि च।।

वस्त्र, आभूषण[7],

तेभ्यो भूषण वासांसि दद्याच्छक्त्या च दक्षिणाम्।

दद्यात् स्त्रीणामलंकारान् योषिद्भ्यश्च सकुंचुकान्।।

घर आदि दान में पाने का अधिकारी था। विप्रपूजा तत्कालीन समाज में भी प्रचलित थी। किन्तु वैश्यों व शूद्रों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हो गया था। समाज की चतुर्वर्ण उत्पत्ति पर ऋग्वेद[8]

ब्राह्मणोस्य मुखासीद् बाहु राजन्यः कृतः।

उरूतदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत्।।

---

1. गणेश पुराण, 1.3.20
2. वही, 1.76.31
3. वही, 1.49.17
4. गणेश पुराण, 1.26.8
5. वही, 1.51.40–41
6. वही, 1.26.22
7. वही, 1.50.29–30
8. ऋग्वेद, 10.90.12

या वैष्णव परम्परा[1]

चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।

तस्यकर्त्तारमपि मां विहयत्कर्तारमव्ययम्।।

में जो बात पुरुष या विष्णु या प्रजापति के लिये कही गयी है, इस पुराण में वही तथ्य उसी प्रकार से गणेश पर आरोपित कर दिया गया है। इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—पहली, गणेश को प्राचीन वैदिक परम्परा से जोड़ने का प्रयास और दूसरी, गणेश पुराण का साम्प्रदायिक स्वरूप। तत्कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में सामाजिक गतिशीलता, जड़ता तथा रूढ़िवादिता के तत्व प्राप्त होते हैं। वैश्यों का सामाजिक स्तर अपेक्षाकृत नीचे हुआ जबकि शूद्र उच्च स्थिति को प्राप्त कर चुके थे। लेकिन यह स्तर भेद मात्र भौतिक स्तर पर ही हो रहा था। आनुष्ठानिक स्तर पर समाज में वर्ण व्यवस्था में कोई अभूतपूर्व परिवर्तन नहीं दिखायी देता है और भौतिक गतिशीलता परिवर्तनशील होती है, स्थायी नहीं।

स्पष्ट है कि गणेश पुराण में वर्ण—व्यवस्था तथा तत्कालीन समाज के परिवर्तन का चित्रण है। साथ ही, उस काल में परिवर्तित विभिन्न परिस्थितियों पर भी इससे प्रकाश पड़ता है।

आश्रम व्यवस्था

प्राचीन हिन्दू समाज में आश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य के जीवन को सुव्यवस्थित ढंग से बाँटने के लिये समाज में आश्रम व्यवस्था जैसी संस्था की नियोजना की गई थी। पुरुषार्थ की अवधारणा आश्रम के माध्यम से ही विकसित हुई। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति विभिन्न आश्रमों के सहयोग से संभव मानी गयी। जीवन के चरम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुये ज्ञान, कर्त्तव्य, त्याग तथा आध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन चार आश्रमों में विभाजित किया गया। इनका अन्तिम लक्ष्य था—मोक्ष की प्राप्ति।

आश्रम व्यवस्था का उद्भव वैदिक काल के उत्तरार्द्ध से माना जा सकता है।[2]

---

1. गीता, 4.13
2. ऐतरेय ब्राह्मण, 35.2, तैत्तरीय संहिता, 6.2.75

पुराणों में भी ऐसी व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। यह माना गया है कि विभिन्न आश्रमों का परिपालन करने से विशिष्ट लोकों की प्राप्ति होती है।[1]

वर्णानाश्रमाणां च धर्मंधर्मभृतां।

लोकांश्च सर्ववर्णानां साम्याधर्मानुपालियम्।।

सूत्रकाल तथा आश्रम व्यवस्था भारतीय समाज में पूरी तरह प्रतिष्ठित और गठित हो चुकी थी। इसका परिपालन समाज में द्विज लोगों के लिये अत्यंत आवश्यक माना जाता था।

आश्रम व्यवस्था का मूल आधार सामाजिक व्यवस्था रही है। इसके साथ ही आश्रम की नियोजना में व्यवस्थित तथा नियमित जीवन का भी अत्यंत महत्व है। मनु, गौतम[2],

ब्रह्मचारी गृहस्थी भिक्षुर्वैखानसः चत्वार आश्रमा।

आपस्तम्ब, विष्णु आदि शास्त्रकारों ने चारों आश्रमों का उल्लेख किया है।

मनुष्य जीवन के लिये निर्धारित चार पुरुषार्थों–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का क्रियान्वयन आश्रमों के माध्यम से ही माना जाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम के माध्यम से व्यक्ति के धर्म–तत्व को समझने की चेष्टा होती थी। अर्थ और काम नामक पुरुषार्थ की पूर्ति गृहस्थ आश्रम के माध्यम से होती थी। वानप्रस्थ तथा संन्यास के द्वारा मोक्ष नामक पुरुषार्थ की प्राप्ति होती थी। आश्रम के अन्तर्गत संन्यासी मनुष्य अपना कर्म करता तथा वृत्तियों पर अंकुश लगाये रहता था। परिणामस्वरूप उसे चरम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति होती है।

गणेश पुराण में भी आश्रम व्यवस्था का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया गया है तथा उसे मान्यता प्रदान की गई है। इससे यह ज्ञात होता है कि पूर्व मध्यकाल में भी आश्रम व्यवस्था का स्वरूप रहा होगा। इसी काल में रचित अन्य पुराणों में भी आश्रम व्यवस्था की चर्चा की गयी। विष्णु पुराण में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और परिव्राज के विषय में चर्चा की गई है।[3]

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथा आश्रमी।

परिवाङ् वा चतुर्थोऽत्र पंचमो नोप्रपद्यते।।

---

1. विष्णु पुराण, 1.6.33
2. गौतम धर्मसूत्र, 3.2
3. विष्णु पुराण, 3.18.36

मत्स्य[1] तथा ब्रह्माण्ड[2] पुराणादि में उल्लिखित है कि गृहस्थ, भिक्षु, आचार्यकर्मा (ब्रह्मचारी) तथा वानप्रस्थ चार आश्रमजीवी हैं तथा वर्णों के धर्म को प्रतिष्ठित करने के उपरान्त ब्रह्मा ने चार आश्रमों को स्थापित किया।

गणेश पुराण में वर्णित है कि दिवोदास के राज्य में ब्राह्मण आश्रमों में अपने आचार के साथ रहते थे। शिष्य गुरुओं के सेवक थे व स्त्रियाँ पतिव्रता थीं। यानि लोग तीनों समय हवन करते थे। गृहस्थ लोग गृहस्थ धर्म का पालन करते थे। इस प्रकार वहाँ धर्म की वृद्धि हो रही थी। स्वर्ग में देवता प्रसन्न हो रहे थे तथा पितरों को अपना भाग मिलता था। कोई स्त्री न बन्ध्या थी, न विधवा। न ही किसी के सन्तान की मृत्यु होती। न अनावृष्टि। कृषि में शुक, टिड्डी व मूषक आदि की बाधा नहीं होती थी। इसलिये धनधान्य खूब उत्पन्न होते।[3] यहाँ समाज की झलक के साथ ही आश्रम व्यवस्था का संकेत भी स्पष्ट दिखायी देता है। एक अन्य स्थल पर लिखा है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी या संन्यासी, इनमें से एक की पूजा करने वाला सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।[4]

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिश्च यः।

एकां पूजां प्रकुर्वाणोप्यनो वा सिद्धिमृच्छति।।

आचार नियम के अंतर्गत गणेश पुराण में बताया गया है कि मूत्र का उत्सर्ग करने के बाद दो बार हाथ धोना चाहिये, पैरों को एक बार धोना चाहिये। यह गृहस्थों के लिये नियम है। ब्रह्मचारी को इससे दोगुना करना चाहिये। वानप्रस्थियों को तिगुना तथा यति को चौगुना करना चाहिये।[5]

व्रतवान् द्विगुणं कुर्यात् त्रिगुणं वनगोचरः।

यतिश्चतुर्गुणुं कुर्यादात्रा वर्धंतु यौनवान्।।

पूर्व मध्यकाल में आश्रम व्यवस्था कहाँ तक प्रचलित थी, यह विचारणीय प्रश्न है। गणेश पुराण में इसका उल्लेख व्यवस्था के रूप में करता है। यह परम्परावादिता है या यथार्थ के रूप में हैं, इसको व्यापक परिदृश्य से जोड़ कर ही समझा जा सकता है।

1. मत्स्य पुराण, 40.1
2. ब्रह्माण्ड पुराण, 2.7.869
3. गणेश पुराण, 2.45.15–18
4. वही, 2.144.11
5. वही, 1.3..19

संस्कार

संस्कारों का मानव जीवन में अत्यंत महत्व है। जीवन में संस्कारों द्वारा ही मनुष्य का वैयक्तिक तथा सामाजिक विकास संभव है। अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के जीवन पर अपना कुप्रभाव डालने वाले अदृश्य विघ्नों से निरापद होने के लिये संस्कारों का निर्धारण समाज में किया जाता है। हमारे समाज में संस्कारों का प्रचलन वैदिक युग से ही रहा है किन्तु सूत्रों और स्मृतियों में इसे विषय में विस्तार से विवेचन मिलता है। संस्कारों की संख्या के विषय में धर्मशास्त्रकारों में मतभेद है। गौतम[1]

इत्येते चत्वारिशत्संस्काराः।

इनकी संख्या चालीस मानते हैं तो वैखानस[2] अट्ठारह मानते हैं। किन्तु प्रायः सभी धर्मशास्त्रकार सोलह संस्कारों को मान्यता देते हैं–गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशांत, समावर्तन, विवाह तथा अंत्येष्टि।

गणेश पुराण में विभिन्न संस्कारों का उल्लेख है। तत्कालीन अन्य ग्रन्थों में भी संस्कारों का उल्लेख है। गणेश पुराण में वर्णित है कि गर्भवती स्त्री की इच्छा (दोहद) की पूर्ति अत्यंत आवश्यक है।[3]

दोहदान्पूरयत्येष यं यं सा कामयत्सति।

पुत्र जन्म के समय अर्ध्य आदि से ब्राह्मणों तथा गणेश पूजन का भी वर्णन है तथा षोडश मातृकाओं का पूजन स्वस्ति–वाचन द्वारा किया गया। जातक संस्कार भी संपन्न हुआ। ब्राह्मणों को दान दिया, परिजनों का सत्कार कर बाजे बजाये गये तथा घर–घर शर्करा बाँटी गयी।[4]

नानावादिन्न निर्घोषैः शर्कराः च गृहे–गृहे।

स्वस्तिवाच्यं चकराशु मातृपूजनपूर्वकम्।।

कश्यप तथा अदिति ने गजानन को पुत्र रूप में प्राप्त कर उसका जातकर्म

---

1. गौतम धर्मसूत्र, 1.822
2. बौधायन धर्मसूत्र, 14.6.1
3. गणेश पुराण, 2.1.88
4. यही, 2.1.34

संस्कार कराया गया तथा उसे घी व मधु का प्राशन कराया। मन्त्रपाठ के साथ माता ने उन्हें स्तनपान कराया। पाँचवें दिन गुड़ का बायना बाँटा गया तथा ग्यारहवें दिन नामकरण किया गया।[1]

चकारजातकर्मास्य कश्यपो ब्राह्मणैः सह।
प्राशयित्वा मधु घृतं पस्पर्श मन्त्रतश्च तम्।।
छित्वा नालं तु संक्षाल्य बालं प्रास्वापयच्च सा।
इक्षुसारं पंचमे तु वायनानि महामुदा।।
महोत्कटेति नामास्य चक्रे एकादशे पिता।

एक अन्य प्रसंग में लिखा गया है कि जातकर्म संस्कार के अंतर्गत ब्राह्मणों को दान दिया तथा उस दिन बाद नामकरण किया गया।[2]

तत्कालीन अन्य ग्रन्थों में भी जातकर्म संस्कार का वर्णन मिलता है। अनिष्टकारी शक्तियों से बालक को बचाने के लिये यह संस्कार संपन्न होता था। विष्णु पुराण में वर्णित है कि पिता सविधि स्नानादि कर नान्दीमुख–श्राद्ध तथा पूजन करता था।[3] मध्यकालीन लेखकों ने भी जातकर्म संस्कार पर प्रकाश डाला है।

ब्राह्मण ग्रन्थों[4], गृह्यसूत्रों[5], स्मृतियों[6] आदि में नामकरण संस्कार का विस्तृत उल्लेख मिलता है। मनु के अनुसार दसवें या बारहवें दिन शुभ तिथि, नक्षत्र तथा मुहूर्त्त में नामकरण संस्कार का आयोजन करना चाहिये।[7]

गणेश पुराण में बालक के पाँचवें वर्ष में चूड़ाकर्म तथा यज्ञोपवीत संस्कार का वर्णन किया गया है। शुभ मुहूर्त्त देखकर ब्राह्मणों को बुलाया गया तथा क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी उपहार लेकर उपस्थित हुये। षोडश मंत्रिकाओं का पूजन किया गया। अभ्युदय श्राद्ध

---

1. गणेश पुराण, 2.6.39—41
2. वही, 2.6.38
3. विष्णु पुराण, 3.13.6
4. शतपथ ब्राह्मण, 6.1; 3.9
5. आपस्तम्ब गृहसूत्र, 15.8.11
6. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.12
7. मनुस्मृति, 2.30

के पश्चात् ब्राह्मणों का अर्चन किया गया।[1]

ततस्तु पंचमे वर्षे सचौलं व्रतबंधनम्।

चकार कश्यपे धीमान् सूत्रोक्तविधिना शुभम्।।

गणेश के स्वरूप का वर्णन करते हुये बताया गया है कि उन्होंने साँपों का यज्ञोपवीत धारण किया था।[2]

मुक्ता दाम लसत् कंठ सर्प यज्ञोपवीतिनम्।

अनर्घ्य रत्न घटित बाहुः भूषण भूषितम्।।

रुक्मांगद का यज्ञोपवीत संस्कार पाँचवें साल सम्पन्न हुआ। एक अन्य प्रसंग में भी राजपुत्र का यज्ञोपवीत पाँचवें वर्ष में होने का वर्णन है।

दशाहे तु व्यतीते स नामकर्ता करोन्मुनिः।

ततस्तु पंचमऽदेऽस्य व्रतबन्ध चकारह।।

एक अन्य प्रसंग में यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार के अन्तर्गत बताया गया है कि इसमें बालक को वस्त्र तथा मेखला पहनाई गई तथा मंत्रपूर्वक उसे दण्ड (हाथ में लाठी) दिया गया। बालक की अंजलि में सामग्री भरकर सूर्यमंडल को देखने के बाद उसका होम हुआ। सर्वप्रथम माता ने उसे पाद अर्घ्य देने के बाद भिक्षा दी तत्पश्चात् अन्य लोगों ने भिक्षा दिया।[3]

उपनीते तत्र शिशौ वासश्च मेखलामपि।

उपवीताजिने दंडं ददुस्तस्मै स्वमंत्रतः।।

पादमर्घ ततः सर्वा भिक्षां माता पुरा ददौ।

मध्यकालीन शास्त्रकारों ने यज्ञोपवीत संस्कार के विषय में विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। इस संस्कार को हिन्दू समाज में सर्वाधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि इसका सम्बन्ध व्यक्ति के भौतिक उत्कर्ष से है। इसे संपन्न होने के पश्चात् बालक 'द्विज' कहलाता था। अनियमित तथा अनुत्तरदायी जीवन समाप्त होकर नियमित तथा अनुशासित जीवन प्रारंभ होता था।[4] उपनयन संस्कार का उद्देश्य होता था—वेदों का अध्ययन।

---

1. गणेश पुराण, 2.10 :1
2. गणेश पुराण, 1.14.22
3. वही, 1.36.15—16
4. वही, 2.10.18—20

गौतम तथा मनु के अनुसार ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें, क्षत्रिय बालक का ग्यारहवें तथा वैश्य बालक का बारहवें वर्ष में उपवीत होना चाहिये।[1]

उपनयनं ब्राह्मस्याष्टमे, एकादशद्वादशयो क्षत्रियवैश्वयोः।

पुराणों में ऐसे उदाहरण दिये गये हैं जिनसे स्पष्ट होता हे कि उपनयन के उपरान्त विद्याध्ययन प्रारंभ होता था। राजा सगर को उसके उपनयन संस्कार के बाद ही और्व ने वेदाध्ययन कराया था।[2] अन्य प्रसंग में वर्णित है कि जड़भरत का उपनयन संस्कार होने के पश्चात् ही उसे गुरु से शिक्षा ग्रहण करने का निर्देश दिया गया था।[3]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में उपनयन संस्कार का बहुत महत्व रहा, जिसकी झलक गणेश पुराण में भी दिखाई देती है।

प्रस्तुत पुराण में संस्कारों के अंतर्गत अंत्येष्टि संस्कार का भी वर्णन यत्र–तत्र मिलता है। श्राद्ध कर्म संस्कार के विषय में वर्णित है कि कौण्डिन्य नगर के राजा की मृत्यु पर ब्राह्मणों द्वारा प्रबोधन दिया गया। अंतिम संस्कार करने वाला व्यक्ति आप्त कहलाता है। अंतिम संस्कार उसके मंत्री ने किया तथा ईश्वर का स्मरण कर सबने नीम के पत्ते चबाये। तेरहवें दिन रानी को वस्त्र दिये गये तथा उन लोगों ने भोजन किया।[4]

त्रयोदशाहे निर्वृत्ते राज्ञयै दत्तवाम्बराणि ते।

चक्रेस्ते भोजनं प्रीत्यां प्रत्यहं बहुवासरम्।।

अंत्येष्टि संस्कार का विस्तृत विवेचन रेणुका तथा परशुराम के प्रसंग में दिखाई देता है। परशुराम से रेणुका कहती है कि उनका अग्नि संस्कार वहाँ होना चाहिये जहाँ किसी और का न हुआ हो। मुनि को बुलाकर तेरह दिन का शास्त्रों के अनुसार कर्म हो तभी गति मिलेगी।[5]

इत्युक्तवा रेणुका देहं त्यक्तवा धामाय दुर्गमम्।

रामस्तत् सर्व मकरो त्तयादिष्टं महामनाः।।

परशुराम ने उसकी मृत्यु होने पर मुंडन करके विधिपूर्वक स्नान किया। उठावनी

---

1. गोमिल धर्मसूत्र, 1.6.12 – मनुस्मृति 2.36
2. विष्णु पुराण, 4.3.37
3. वही, 3.13.39
4. गणेश पुराण, 1.25.29
5. वही, 1.80.27

का श्राद्ध किया तथा मंत्रपूर्वक अग्नि संस्कार हुआ। दत्तात्रेय के कहने पर रेणुका तथा जमदग्नि का उर्ध्वदैहिक संस्कार किया गया। तत्पश्चात् अंत्येष्टि कर्म संपन्न हुआ।[1] इसी प्रसंग में आगे वर्णित है कि अंत्येष्टि संस्कार के बाद प्रतिदिन भिक्षा करनी चाहिये तथा जिसके घर शुद्धि न हुई हो, उसके घर नहीं खाना चाहिये।[2]

पाँचवें दिन कर्म समाप्त करने के बाद परशुराम के समक्ष एक व्याघ्र आ गया। भय से वे माता का स्मरण करने लगे जिसके कारण माता रेणुका वहाँ उपस्थित हो गईं। किन्तु उस समय उनके शरीर के अंग सम्पूर्ण नहीं थे क्योंकि बारह दिन पूर्ण नहीं हुये थे। सपिण्डीकरण के पश्चात् यदि रेणुका आतीं तो सांगोपांग पूर्ण होकर आतीं।[3] इसके बाद परशुराम ने वृषोत्सर्ग किया तथा बारहवें दिन सपिण्डीकरण किया। तेरहवें दिन श्राद्ध हुआ तथा ब्राह्मणों को दान दिया गया।[4]

वृषोत्सर्ग च कृत्वा नेकादशदिने द्विजः।
सपिंडीकरणचैवं द्वादशे कृतवान द्वयो।।

अन्य साक्ष्यों से भी अंत्येष्टि संस्कार के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है। बौधायन के अनुसार, जन्म के बाद के संस्कारों द्वारा मनुष्य इस लोक को विजित करता है जबकि मृत्युपरान्त के संस्कारों से परलोक को विजित करता है।[5]

अन्य पुराणों में वर्णित है कि मृत शरीर को स्नान कराकर, पुष्पमाला से विभूषित कर गाँव के बाहर जलाशय में सवस्त्र स्नान कर जलांजलि अर्पित करनी चाहिये। अशौच के अन्त में विषम संख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये।[6]

मत्स्य पुराण में तीन प्रकार की अंत्येष्टि क्रिया का वर्णन है – 1. शव को जलाना, 2. शव को गाड़ना, 3. शव को फेंकना।[7]

अष्टक उवाच–यः संस्थितः पुरुषो दह्यते व निखन्यते वाऽपि कृष्यते वा।

---

1. गणेश पुराण, 1.81,12–13
2. वही, 1.81.2
3. गणेश पुराण, 1.81.25
4. वही, 1.81.30
5. बौधायन गृहसूत्र, 2.43
6. विष्णु पुराण, 3.13, 7.18
7. मत्स्य पुराण, 39.17

पिंडदान, श्राद्धकार्य तथा ब्राह्मण भोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता था।[1]

अयुजो भोजनेत्कामं द्विजानन्ते ततो दिने।

दधाद्धर्भेषु पिण्डं प्रेतायोच्छिष्टसशन्निधौ।।

गणेश पुराण में संस्कारों के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक रीति–रिवाजों, क्रिया–कलापों, परम्पराओं का स्पष्ट चित्रण दिखाई देता है जिसके माध्यम से तत्कालीन समाज के अध्ययन में सुगमता होती है। इसमें उस समय के नैतिक, बौद्धिक तथा सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमान स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

उपनयन संस्कार का उल्लेख भी यहाँ मिलता है। तरह–तरह के रत्नों का संचय कर उससे चौक बनाना, गणेश पूजन किया, पुण्यवाचन किया। उत्तम वस्त्रों से ढँके स्थान पर गणेश को बैठाया तथा उनकी आरती की।

गणेश पुराण में प्रसंगतः आये दैनिक रीति–रिवाजों तथा आचारों के वर्णन से तत्कालीन जीवनचर्या का ज्ञान होता है। एक स्थल पर कहा गया है कि जब रात्रि एक प्रहर शेष रह जाये तो पुरुष को जग जाना चाहिये। शैय्या का त्याग कर पवित्र स्थान पर बैठकर गुरु का स्मरण करो। अपने इष्टदेव का चिंतन कर प्रणाम करे फिर धरती पर पैर रखने से पूर्व प्रार्थना करे कि हे पृथ्वी माता, पाद स्पर्श करने के लिये मुझे क्षमा करो।[2]

इसके पश्चात् जल का पात्र लेकर गाँव के पश्चिम उत्तर दिशा के बीच जायें। ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय शुद्ध श्वेत रंग की मिट्टी हाथ में लें, वैश्य तथा शूद्र काली मिट्टी लेकर नदी के किनारे जायें। ऐसे स्थान पर मूत्र तथा मल का त्याग करें जहाँ बाल्मीकि न हो तथा उसे फूस से ढक दें। पहले घास, काठ आदि से गुदा भाग को पोछें, बाद में पाँच बार मिट्टी व पानी से धोयें। दस बार बायें हाथ को और सात बार दोनों हाथों को धोयें। मूत्र का उपसर्ग करने के बाद भी दो–दो बार हाथ धोयें तथा पैरों को एक बार ही धोयें। गृहस्थ के लिये ये नियम हैं। ब्रह्मचारी को इससे दुगुना करना चाहिये। वन में रहने वाले वानप्रस्थियों को तिगुना करना चाहिये। यति को चौगुना करना चाहिये। रात्रि में इसका आधा किया जा सकता है। इसके पश्चात् आचमन कर लकड़ी से जीभ साफ करें

---

1. विष्णु पुराण, 2.13.20
2. गणेश पुराण, 1.3.5–6

तथा दाँतों को शुद्ध करें। वनस्पति से प्रार्थना करें। ठंडे जल से स्नान करें। फिर गृहसूत्र में बताये गये अंगों से उपासना करें। पूजा कार्य सम्पन्न कर किसी ब्राह्मण की उपस्थिति में भोजन करें। पुराण का श्रवण करें। दान दें। मधुर वचन आदि से परोपकार करें। न अपनी प्रशंसा करें न दूसरे को हानि पहुँचायें। गुरुद्रोह, वेदनिन्दा, नास्तिकता, पाप कर्मों का सेवन, अभक्ष भक्षण तथा पराई स्त्री का सत्संग न करें। साथ ही अपनी स्त्री का कभी त्याग न करें तथा ऋतुगामी हों।[1]

इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि माता–पिता, गुरु तथा गाय की सेवा करनी चाहिये। दीन, अन्धे तथा कंजूसों को अन्नवस्त्र का दान देना चाहिये। सत्य का कभी त्याग न करें, भले ही प्राण का त्याग करना पड़े। जिस पर ईश्वर की कृपा है, जो साधुओं का पालन–पोषण करते हैं और धर्मशास्त्र के अनुसार अपराधियों को दण्ड देते हैं उन्हें नीतिपूर्वक विद्वानों से पूछकर अपना व्यवहार करना चाहिये। जिनके प्रति विश्वास न हो उस पर कभी विश्वास न करें। विश्वस्त व्यक्ति के प्रति भी अति विश्वास न करें। जिसके प्रति कभी बैर हो गया हो उस पर तो कभी विश्वास न करें। इस प्रकार के आचरण से अपने राष्ट्र की वृद्धि होती है। दान भी अपनी शक्ति के अनुसार करें अन्यथा क्षीणता आ जाती है।[2]

पुत्र धर्म का वर्णन करते हुये कहा गया है कि जो पुत्र पिता की बात श्रद्धा से सुने, उसका श्राद्ध करे, गया में पिण्ड का दान करे, वह पुत्र कहलाता है। जो धनुर्शास्त्र के तत्व को जानता हो, नीति–निपुण हो, सबको संतुष्ट रखे तथा पितरों का उद्धार करें, वही पुत्र कहलाता है।[3]

पुत्र धर्म के विषय में एक अन्य स्थल पर बल्लाल से उसकी माता कहती है कि पितृ धर्म के आधार भले ही अनर्थकारी हों, उसका कोई अपराध नहीं होता। श्रुति, स्मृति तथा पुराण ऐसा कहते हैं। तुम पुत्र धर्म के अनुसार पिता को निरोग बनाओ। तुम्हारे कारण पिता भी प्रशंसनीय बनेंगे। यशस्वी अच्छे पुत्र को पिता के वचन का पालन करना चाहिये।[4]

---

1. वही, 1.3.10–15
2. गणेश पुराण, 1.3.31–32
3. वही, 1.2.28
4. वही, 1.23.22–23

अन्यत्र लिखा है कि कुम्भीपाक नरक में पापी लोग उबलते हैं, असिपत्रों (तलवार की धार) से काटे जाते हैं, लोहे के घन से मारे जाते है। काँटे से छेदे जाते हैं। कृमिकुण्ड आदि नरक में पापात्माओं को डाल दिया जाता है।[1]

भुंजते प्राणिनः स्वस्वकर्म भोगाननेकशः।

कुम्भीपाके च पच्यंते छिद्यन्ते चासिपत्रकैः।।

स्वर्ग का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि जो ऊर्जा अर्थात् धूप में स्नान करे, मछली के सदृश जल में स्नान करे तथा वर्षा में स्नान करे, तिल व अन्न का दान दे, गायों का दान दे। जो गीता का अध्ययन करने वाला व प्राणियों का उपकार करने वाला है, वही इस लोक में आता है।[2]

मातृऋण के विषय में उल्लिखित है कि शिवा ने बालक द्वारा दैत्य के वध पर कहा कि उसने मातृऋण चुका दिया।[3]

मातृणामृणमुत्तीर्णो बाले ये जीवितप्रदः।

नीति के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि सभा में आये हुये व्यक्ति का, चाहे वह साधु हो या असाधु, बलवान हो या दुर्बल, उसका सम्मान करना चाहिये। यह सनातन नीति है। यहाँ के सब सभासद व्यर्थ हैं, मंत्री व नागरिक व्यर्थ हैं। यह राजा का ही धर्म नहीं है यह तो सभासदों का कार्य है।[4]

अन्यत्र वर्णित है कि गो, ब्राह्मण व देवताओं से जो लोग द्वेष रखते हैं, उन्हें यश नहीं मिलता है। उनके द्वेष से किसी का कल्याण नहीं होता है। जो सारे प्राणियों में समभाव रखता है, शुभ व अशुभ कर्मों का फल देता है। उसकी सेवा से लोगों को अभीष्ट सिद्धि होती है, जैसे कामदेव से होती है। जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही अंकुर निकलता है। अशुभ कर्म से दुःख व शुभ कर्म से सुख पैदा होता है। इसलिये तत्पुरुष आदर के साथ शुभ कर्म करते हैं। शरीर, मन व वाणी से सब प्राणियों का हित करते हैं। पुरुषार्थ तो वह है जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों का साधक होता है।

---

1. वही, 2.52.16–17
2. वही, 2.52.29
3. वही, 2.88.27
4. गणेश पुराण, 2.111.10

जिसका मन दूसरे की पत्नियों के प्रति लोलुप न बने, जो अनिन्द्य की निंदा न करे, शरणागत की रक्षा में जो दृढ़ बना रहे, धर्म परायण हो व सब प्राणियों के लिये समान हो, वही पुरुषार्थी माना जाता है।[1]

स एव पुरुषार्थ स्याद्यश्चापि न निन्दति,

शरणागत रक्षायां दृढ़ो धर्मपरायणः।

परोपकरणे सक्तः परपैशून्य वर्जितः।।

आगे कहा गया है कि आपकी वाणी दूषित न हो। सच्चा शील आपमें हो। अपने गुणों का आख्यान न करें, परोपकार में लगें व दूसरों की चुगली से दूर रहें।[2]

अदुष्ट वाक्सत्यशीलः स्वर्गुणानामकीर्तकः।

परोपकरणे सक्तः परपैशून्यवर्जितः।।

दैनिक रीति–रिवाजों तथा लोकाचारों के सन्दर्भ में भी गणेश पुराण के अनेक स्थलों पर जानकारी दी गयी है। इसमें उल्लिखित है कि ताम्बूल दान से सत्कार करने की परम्परा थी।[3] सत्कार के अन्तर्गत ही ब्राह्मण को गोदान देने की प्रथा का भी उल्लेख मिलता है।[4] अन्यत्र वर्णित है कि राजा ने अपने माता–पिता की कुश की प्रतिकृति बनाया तथा यह कहते हुये स्नान कराया कि माता का स्नान हो जाये।[5]

अन्यत्र वर्णित है कि ब्राह्मणों की पूजा कर उन्हें दान दिया, गाजे–बाजे बजवाये तथा घर–घर शर्करा भेजी गयी।[6] शर्करा बाँटने का कई स्थलों पर उल्लेख है।

वादयांमास वाद्यानि शर्करां च गृहे–गृहे।

प्रेषयामास च तदा हर्षादिन्दुमती शुभा।।

नज़र उतारने का भी जीवन्त तथा रोचक उल्लेख मिलता है कि अदिति ने दही–भात बालक के ऊपर उतार कर उसे बाहर फेंक दिया ताकि बालक के ऊपर शांति

---

1. गणेश पुराण, 2.117.20–21
2. वही, 2.117.20
3. वही, 1.26.8
4. वही, 1.26.22
5. वही, 1.35.37
6. गणेश पुराण, 1.54.20

बनी रहे, दुष्टों की दृष्टि न पड़े।[1]

ततोऽदितिस्तु दध्यन्नं भ्रामयित्वाऽत्यज छरिः।

दुष्टदृष्टिनिपातस्यंशान्तये बालकोपरि।।

नवजात शिशु के संदर्भ में उल्लिखित है कि सर्वप्रथम उसे घृत तथा मधु चटाया गया तत्पश्चात् स्तनपान कराया गया।[2] इसी संदर्भ में आगे वर्णन मिलता है कि बालक का चौथा मास आने पर मुनि पत्नियों ने उतारे के लिये अनेक दिव्य पदार्थ गौरी को दिये। वे हल्दी, रोली आदि से बालक की अर्चना कर रही थीं।[3]

नीति विषयक तथा लोकाचार विषयक तथ्य तत्कालीन सामाजिक जीवन का साक्षात् प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। नीति विषयक आचारों के माध्यम से जहाँ समाज में आदर्श स्थिति का विश्लेषण कर सकते हैं वहीं लोकाचारगत तथ्यों से तत्कालीन समाज में प्रचलित रीति–रिवाजों, परम्पराओं तथा रूढ़ियों आदि की झलक मिलती है। इस दृष्टि से गणेश पुराण की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है।

स्त्री–दशा

स्त्रियों की दशा में युग के अनुरूप परिवर्तन होता रहा। उनकी स्थिति में वैदिक काल से लेकर पूर्वमध्ययुग तक अनेक उतार–चढ़ाव आते रहे तथा उनके अधिकारों में यथानुरूप परिवर्तन भी होते रहे। राजनीतिक और आर्थिक घटक समाज में स्त्रियों की दशा निर्धारित करने में निर्णयात्मक भूमिका निभाते रहे है।

वैदिक काल में स्त्री शिक्षा, संस्कार एवं अनुष्ठान की दृष्टि से उच्चतर स्थिति पर विद्यमान थी। वैदिक काल में अध्ययन प्राप्त करने वाली स्त्रियों के दो वर्ग थे। एक 'सद्योवधू' और दूसरी 'ब्रह्मवादिनी'। 'सद्योवधू' वे थीं जो विवाह से पूर्व तक वेद–मंत्र और याज्ञिक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त करती थीं। 'ब्रह्मवादिनी' वे कहलाती थीं जो शिक्षा समाप्त करके विवाह करती थीं।[4] अनेक स्त्रियाँ अध्यापिकाओं का जीवन व्यतीत करती

---

1. गणेश पुराण, 2.72. 22.12
2. वही, 2.82.10
3. वही, 2.84.38
4. अथर्ववेद, 11.5.18

थीं। ऐसी स्त्रियाँ 'उपाध्याया' कही जाती थीं।[1]

पाणिनि ने स्त्री शिक्षणशाला का उल्लेख किया है।[2] सूत्रकाल तक स्त्रियाँ यज्ञ भी सम्पादित करने लगी थीं।[3] वैदिक युग में स्त्री और पुरुष दोनों यज्ञरूपी[4] रथ से जुड़े हुये दो बैल माने जाते थे। स्पष्टतः यज्ञ में उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी।[5] उस काल में स्त्रियाँ मंत्रविद् और विदुषी होती थीं। ब्रह्मचर्य[6] का अनुगमन करती हुई उपनयन संस्कार भी कराती थीं। कन्या के लिये उपनयन का विधान मनु ने भी किया।[7]

वैदिक काल में स्त्री आदर–सम्मान की पात्र तो थी किन्तु संपत्ति सम्बंधी उसके अधिकार सीमित थे। पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार उसे नहीं दिया गया था। वैदिक साहित्य में कतिपय ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कन्या को दायभाग का अधिकार नहीं था। पुरुष दायभागी थे, स्त्री दायभागिनी नहीं थीं। भाई अपनी बहन को धन न प्रदान करे।[8] ऋग्वेद के वर्णन अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति की सम्पत्ति पर पुत्री का अधिकार था।[9]

'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीचो गर्तारूगिव सनये धनानाम्।'

वह दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ समझी जाती थी।[10]

'नहि ग्रभाथारणः सुशेयोऽन्योदर्यो मनसा मन्त वा'

चौथी शताब्दी ई. पू. तक यह व्यवस्था समाज में प्रचलित रही। किन्तु दूसरी शताब्दी ई. पू. में आकर स्त्री–शिक्षा पर अनेक प्रतिबंध लग गये, जिनके कारण स्त्री का सम्पत्ति विषयक अधिकार बाधित हुआ। दूसरी शताब्दी ई. पू. तक स्त्री का उपनयन व्यवहारतः बन्द हो चुका था। विवाह के अवसर पर ही उसका उपनयन संस्कार सम्पन्न कर

---

1. पतंजलि, 3.822 'उपत्याधीते अस्याः सा उपाध्याया'
2. पाणिनि, अष्टाध्यायी, 6.2.46 'छात्र्यादयः शालायाम्'
3. पाराशर गृहसूत्र, 2.20; ऋग्वेद 1.72.5; 5.32
4. तैत्तरीय ब्राह्मण, 3.75
5. शतपथ ब्राह्मण, 1.19.2.14
6. अथर्ववेद, 11.5.18
7. मनुस्मृति, 2.66
8. निरुक्त, 9.4; ऋग्वेद, 3.31.2
9. ऋग्वेद, 1.124.7
10. वही, 7.4.8

दिया जाता था। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन संस्कार, पति की सेवा ही उसका आश्रम निवास और गृहस्थी के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान थे।[1]

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारों वैदिको मतः।

पतिंसेवा गुरौर्वासौ गृहार्थोग्नि परिक्रिया।।

स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था दी कि बालिकाओं के उपनयन में वैदिक मंत्र नहीं पढ़ना चाहिये।[2] इस युग में ऐसे अनुदार धर्मशास्त्रकारों के एक वर्ग का आगमन हुआ जिनके भाई के न रहने पर भी बहन के उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं किया। आपस्तंब ने यह व्यवस्था दी कि उत्तराधिकारी के अभाव में जब सपिण्ड या गुरू या शिष्य कोई न हो तब पुत्री उत्तराधिकारी हो सकती है। यद्यपि उसने पुत्री को उत्तराधिकारी न स्वीकार करके सारी सम्पत्ति धर्मकार्य में लगा देने का निर्देश दिया है।[3]

'पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तदभावे आचार्यः।

आचार्यभावे अन्तेवासी ह्त्वा धर्मकृत्येषु योजयेत्। दुहिता वा।

वशिष्ठ, गौतम और मनु ने भी उत्तराधिकारिणी के रूप में पुत्री का कहीं नाम नहीं लिया है।[4] कुछ अन्य शास्त्रकारों ने अपेक्षाकृत उदारता दिखायी है। कौटिल्य ने अभातृपुत्री को उत्तराधिकारिणी घोषित किया है, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले।[5] पिता की मृत्यु हो जाने पर कन्या का विवाह करना पुत्र का कर्त्तव्य था। वह अपने हिस्से का एक चौथाई विवाह–कार्य में व्यय कर सकता था।[6] इस काल तक वेदों के पठन–पाठन तथा यज्ञों में सम्मिलित होने के अधिकार से भी उन्हें वंचित कर दिया गया है। स्पष्ट है कि संस्कार, शिक्षा, अनुष्ठान के संदर्भ में स्त्री–दशा वैदिक काल की तुलना में निम्नतर थी। बालविवाह की कुप्रथा प्रारम्भ हो गयी। सम्पत्ति के पैतृक विभाजन में सीधे–सीधे कन्या का कोई अधिकार नहीं माना गया।

---

1. मनुस्मृति, 2.67
2. वही, 2.56, 9.18
3. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.14.2.4
4. वशिष्ठ धर्मसूत्र, 15.7, गौतम धर्मसूत्र, 28.21, मनुस्मृति, 9.185
5. अर्थशास्त्र, 3.5, द्रव्यम् पुत्रस्य सौदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः कन्याश्च।
6. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.135

गुप्तकाल की स्मृतियों व परवर्ती निबंधकारों को विवेचित करने पर यह तथ्य प्राप्त होते हैं कि वे सैद्धांतिक स्तर पर पैतृक सम्पत्ति में कन्या और पति की सम्पत्ति में पत्नी के अधिकारों की वकालत करते हैं। जैसे–वृहस्पति[1] और नारद[2] ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि क्या पुत्री अपने पिता की पुत्र के समान सन्तान नहीं है ? दायभाग और मिताक्षरा के अनुसार मृत पति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा प्राप्त करे।[3] विज्ञानेश्वर ने स्त्री धन छह प्रकार का बताया है।[4] धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री–धन के उपयोग पर प्रायः प्रतिबंध लगाया है तथा किन्हीं विशेष स्थितियों में ही पति द्वारा उसके उपयोग की अनुमति दी है।[5] उल्लेखनीय है कि शास्त्र के स्तर पर तथा सैद्धान्तिक स्तर पर उन्हें सम्पत्ति में अधिकार की बात की जा रही थी। दूसरी ओर व्यावहारिक स्तर पर विसंगतियाँ दिखाई दे रही थीं। सामाजिक और आनुष्ठानिक बंधनों में स्त्री को बाँध दिया गया। शिक्षा पाने का अधिकार समाप्त हो गया, बालविवाह, सतीप्रथा, विधवा की दुर्दशा जैसे तत्व समाज में पूर्णतया विकसित हो चुके थे।

पूर्वमध्यकाल वस्तुतः भारतीय समाज में संक्रमण का काल था। अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तनों के साथ स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। गुप्त–कालीन स्त्रियों की सम्माननीय दशा को गुप्तोत्तर युग में सामाजिक आघात–प्रतिघात सहने पड़े। उनका नैतिक एवं आध्यात्मिक महत्व क्षीण हो रहा था। उनका उपनयन संस्कार भी नहीं होता था। परन्तु दैवीशक्ति से समीकृत किये जाने के कारण तांत्रिक उपासना में उन्हें विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। तांत्रिक उपासना काफी सरल एवं लोकप्रिय थी। अतः स्त्रियों की प्रतिष्ठा को इसके द्वारा पर्याप्त बल मिला। गणेश पुराण में तत्कालीन समाज में स्त्री दशा से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों का निदर्शन हुआ है। एक स्थल पर आचार नियमों का निर्धारण करते समय स्त्री व शूद्रों को समान स्थिति में रखा गया है।[6]

उक्त पुराण में पत्नी के धर्म का उल्लेख करते हुये वर्णित है कि स्वामी के वचनों

---

1. वृहस्पति स्मृति, 15.35
2. नारद स्मृति, 13.50, पुत्राभावे तु दुहिता तुल्य संतान कारणात्।
3. दायभाग, खंड 13, मिताक्षरा याज्ञ. 2.136
4. मिताक्षरा, 2.143.44
5. नारद स्मृति
6. गणेश पुराण, 1.3.20, अर्धपादं दिवारात्रौ शौच स्त्री शूद्र एव च।

का पालन करना तथा दिन–रात उसकी सेवा करना पत्नी का धर्म है।[1] ऋषियों ने एक अन्य स्थल पर स्त्रियों के धर्म का उल्लेख करते हुये कहा है कि इहलोक तथा परलोक में पत्नी को पति के साथ रहना चाहिये। स्पष्ट है कि पुराणकार पूर्वमध्यकालीन उस सोच से प्रभावित था जिसमें स्त्रियों को पति की सेवा करने तथा उसकी छाया मात्र बनकर रहने की परम्परा उल्लिखित है।

इस काल में सामाजिक जीवन में नारी के आदर्श स्वरूप की कल्पना की गयी तथा उसके व्यवहार से परिवार और समाज का उत्कर्ष होना सम्भव माना गया। स्त्री द्वारा अनैतिक शारीरिक संबंध स्थापित करने को व्यभिचार माना गया। किन्तु इस विषय का सम्बन्ध व्यक्ति की प्राकृतिक यौन–उत्कंठा और तृष्णा से था। इससे सम्बंधित अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2]

न देवेषु न नागेषु यक्षागंधर्व पुंजयो।

पश्यामि चारु सर्वांगया मते मे हृदयं त्वयि।।

अत्यासक्तं त्वऽधरामृतपाने च देहि तत्।

गणेश पुराण में वर्णित है कि सतयुग और त्रेता में ब्रह्मा ने स्त्रियों की स्वतंत्रता की बात कही है।[3] यह प्रसंग भी उल्लेखनीय है कि बलात्कार द्वारा दूसरे की पत्नी से अनैतिक आचरण करने वाला नरक को जाता है। अपनी इच्छा से यदि स्त्री किसी पुरुष के पास आती है तो पुरुष नरकगामी नहीं होगा।[4]

बलात्कारेण योऽन्यस्य स्त्रियं धर्षितुमिच्छति।

स एव नरकं याति न स्वयं पातितामपि।।

यह भी संदर्भित है कि जिस स्त्री का मन पर–पुरुष के प्रति कामांध हो जाता है, वह नरकगामी होती है।[5] हिन्दू समाज में विवाहित स्त्री का पर–पुरुष के साथ गमन घोर पाप समझा गया है। शास्त्रकारों ने स्त्री के इस अनैतिक आचरण को बहुत बड़ी त्रुटि

---

1. गणेश पुराण, 1.1.31–33, 1.30.20
2. वही, 1.28. ,5–6
3. वही, 1.28.10
4. वही, 1.28.15
5. वही, 1.28.17

मानकर कठोर मार्ग पर चलने का परामर्श दिया है।[1] याज्ञवल्क्य ने ऐसी दुश्चरित्र स्त्री के सभी अधिकार छीन लेने तथा जीवन–निर्वाह हेतु केवल भोजन देने तथा अनादरपूर्वक मैले वस्त्र पहनाकर भूमि पर शयन कराने की व्यवस्था की है।[2]

हताधिकारा मलिना पिण्डमात्रोपजीविनाम्।
परिभूतामद्य शय्यां वासयेत् व्यभिचारिणीम्।।

गणेश पुराण में ऋषि–पत्नी अहिल्या का इन्द्र द्वारा छल से शील–भंग करने पर भी ऋषि उसे दोषयुक्त मानते हैं[3] तथा शाप देते हैं।

गणिकाओं की परम्परा प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में विद्यमान है। महाभारत में भी अनेक स्थलों पर इनका उल्लेख हुआ हैं।[4] परवर्ती साहित्य में गणिकायें विभिन्न नामों से उल्लेखित की गयी हैं। जैसे नर्तकी, रूपाजीवा, वेश्या, देवदासी आदि। पद्म पुराण में निर्देश है कि मंदिर सेवा के लिये अनेक सुन्दरियों को क्रय करके प्रदान करना चाहिये।[5]

क्रीता देवाय दातव्या धीरेणाक्लिष्ट कर्मणा।
कल्पकालं भवेत्स्वर्गो नृपौ वासौ महाधनी।।

भविष्य पुराण के अनुसार सूर्यलोक की प्राप्ति हेतु सूर्य मंदिर को वेश्याकदंब अर्पित करना चाहिये।[6]

वेश्याकदंबक यस्तु दद्यातनूर्याय भक्तितः।
स गच्छेत्परमं स्थानं यत्र तिष्ठति भानुनाम्।।

ह्वानच्यांग ने अपने यात्रा विवरण में मुल्तान के सूर्य मंदिर में देवदासियों की उपस्थिति का उल्लेख किया है।[7] अल्बरूनी सहित अनेक अरब यात्रियों ने देवदासियों के

---

1. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.72
2. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.70
3. गणेश पुराण, 1.32.19
4. महाभारत, आदिपर्व, 115.39, उद्योग पर्व, 30.38, 68.15, वनपर्व, 239.37 आदि
5. पद्म पुराण, 52.97
6. भविष्य पुराण, 1.93.67
7. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968, पृ. 159–61

विषय में लिखा है।[1] पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों में भी देवदासियों का यत्र–तत्र संदर्भ प्राप्त होता है। गणेश पुराण का समाज पूर्वमध्यकालीन ऐसा समाज था जो सामंतवादी विशिष्टताओं से घिरा था। समाज का एक वर्ग विलासिता व वैभव से युक्त था। ऐसे में वेश्या वर्ग की समाज में उपस्थिति स्वाभाविक ही थी। कई स्थलों पर पुरुषों का वेश्याओं के प्रति अनुराग प्रदर्शित हुआ है।

एकदा नगरे तस्मिन् वेश्या नर विमोहिनी।
माता पित्रोः समक्षं च पश्चात्चौर्य पुनश्च तान्।
वेश्यायै प्रतिपाद्यैतांश्विक्रीडं सुभृशं तथा।।

किन्तु उक्त पुराण में यह भी वर्णित है कि धर्मपत्नी को त्याग कर वेश्या के प्रति आसक्ति पुरुष को समाज में निन्दनीय बनाती है।[2] इससे प्रतीत होता है कि समाज में वेश्यावृत्ति की परंपरा प्रचलित होने के बावजूद नैतिक आचरण के स्तर पर इसे उचित नहीं माना जाता रहा होगा। गर्भवती स्त्री की हर इच्छा पूर्ण करने का उल्लेख है।[3] एक क्षत्रिय रानी[4] का केवट के प्रति प्रेम का वर्णन तथा उससे उत्पन्न पुत्र को राज्य का शासक बनाना भी समाज की परिवर्तित हो रही मूल्य–मान्यताओं का द्योतक है। पूर्वमध्यकालीन राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण स्त्री का जीवन पति पर पूर्णतया आश्रित था। पतिविहीन स्त्री का जीवन निरर्थक समझा जाता था। इसका दिग्दर्शन गणेश पुराण में भी है।[5] यहाँ कहा गया है कि विधाता ने पति–पत्नी के शरीर को एक बनाया है किन्तु प्राण एक नहीं बनाया। पति के सुख के बिना सभी सुख व्यर्थ हैं।[6]

स्त्री की दशा के सन्दर्भ में एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य गणेश पुराण में मिलता है और वह है–सतीप्रथा। यद्यपि भरतीय समाज में सती होने की परम्परा प्राचीन काल से है।[7] किन्तु पूर्वमध्यकाल में विदेशी आक्रमणकारियों के कारण यह परम्परा व्यापक हुई।

---

1. गणेश पुराण, 1.76.5–7
2. गणेश पुराण, 1.76.37
3. वही, 2.1.28
4. वही, 2.27.22
5. वही, 2.5.9, पतिं बिना न चान्यास्ति गतिं सद्योषितां प्रभो।
6. वही, 2.124.18–19, देहैक्यं कृतवान्धाता दम्पत्योर्वेददर्शनात् प्राणैक्यं नं कृतं तस्माद्ब्रह्मना।
7. महाभारत, आदि पर्व, 95.65, तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वाहरोह।

घटियाला (जोधपुर) अभिलेख (810 ई.) राजपूत सामंत राणुक का उल्लेख करता है, जिसके साथ उसकी पत्नी सम्पलदेवी सती हो गयी थी।[1] गणेश पुराण में भी उल्लिखित है कि चक्रपाणि ने बेल व चन्दन की लकड़ी से सिन्धु का संस्कार किया। उसकी पत्नी दुर्गा पतिव्रता होने के कारण उसके साथ ही चली गयी।[2]

ततस्ते संस्कृतिं चक्तुर्विल्वचन्दन दारुभिः।

दुर्गासहैव संयाता पातिव्रत्य गुणान्विता।।

मातृपूजन का उल्लेख भी उक्त पुराण में प्राप्त होता है। ऋषियों ने गणेश की अग्रपूजा तथा सावित्री (ब्रह्मा की पत्नी) की पूजा नहीं की तो सावित्री ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दिया।[3]

मुच्चन्ती मुखतो ज्वाला दग्धुकामा चराचरम्।

शशाप सा देवमुनीन्जडायूयं भविष्यथ।।

कई अन्य स्थलों पर भी मातृपूजन का उल्लेख है। यह समाज में प्राप्त तंत्र विधान के फलस्वरूप मातृपूजन के प्रभाव को दर्शाता है। तंत्रों से गाणपत्य सम्प्रदाय अत्यंत प्रभावित था। यह प्रभाव गणेश पुराण में भी परिलक्षित होता है। स्त्री–धन के सन्दर्भ में हिन्दू धर्मशास्त्रकारों तथा भाष्यकारों ने अपने–अपने तर्क दिये हैं। मनु का उल्लेख करें तो पाते हैं कि उन्होंने छह प्रकार के स्त्री–धन का विवरण प्रस्तुत किया है। वैवाहिक अग्नि के सम्मुख जो कन्या को दिया जाता है, जो कन्या को पति–गृह जाते समय मिलता है, जो स्नेहवश उसे दिया जाता है, जो माता–पिता और भाई द्वारा मिलता है।[4]

अध्यग्न्यध्वावाहनिक दत्तं च प्रति कर्मणि।

भातृ भातृपितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्।।

विवाह के समय कन्या को धन देने की प्रथा पूर्वमध्यकाल में भी विद्यमान थी। भाष्यकारों ने ग्रन्थों में इसका स्पष्ट विधान किया है। गणेश पुराण में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है। औरव नामक ब्राह्मण ने अपनी कन्या के विवाह का अवसर पर बहुत–सा धन

---

1. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ द आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टन सर्किल, 1906–7, पृ. 35
2. गणेश पुराण, 2.124.46
3. वही, 2.36.10
4. मनु, 9.194

दिया।[1]

इन साक्ष्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि गणेश पुराण में स्त्रियों से सम्बंधित तथ्य तत्कालीन समाज को प्रतिबिम्बित करते हैं। विदेशी आक्रमणों तथा राजनैतिक परिवर्तनों का प्रभाव स्त्रियों की दशा पर पड़ना स्वाभाविक ही था। स्त्रियों की दशा के सन्दर्भ में वे सभी तत्व इस पुराण में परिलक्षित होते हैं, जो पूर्वमध्यकालीन समाज की विशिष्टता थे।

खान–पान

मनुष्य का जीवन भौतिक तथा आध्यात्मिक इन दोनों पक्षों का संतुलित समन्वय है। भौतिक जीवन के अन्तर्गत प्रतिदिन का खान–पान, वस्त्राभूषण, गीत–नृत्य तथा मनोरंजन के अन्य साधन आते हैं। आध्यात्मिक जीवन के अन्तर्गत परमसत्ता के प्रति प्रेम का भाव प्रकट होता है। सांसारिक तथा आध्यात्मिक दोनों पक्षों का उचित समन्वय आवश्यक है। भौतिक जीवन के विविध पक्ष तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक पक्षों पर प्रकाश डालते हैं।

भारत में प्राचीनकाल से ही विविध प्रकार के भोज्य तथा पेय पदार्थ प्रचलित थे। शाकाहारी तथा मांसाहारी दो वर्ग प्रचलित थे। उत्तरवैदिक काल तक आते–आते खाद्य सामग्री से सम्बन्धित कई पकवान बनने लगे थे। जैसे क्षीरोदय, पिष्ट आदि। भोजन करने की प्रायः चार विधियाँ थीं – 1. भक्ष्य (जो चबाकर खाया जाता था), 2. चोष्य (जो चूसकर खाया जाता था), 3. लेह्य जो चाटकर खाया जाता था, 4. पेय (जिसे पिया जाता था)।

साधारणतया लोग निरामिष होते थे। यव, माष, मुद्ग, तिल, तेल, घृत, दुग्ध, दही, कन्द–मूल, फल, मसाले, लवण, गुड़ आदि खाते थे। पूरिका (पूड़ी), ओदन (चावल), गुड़ोदन (मीठा चावल), सूप (दाल) आदि का भी प्रचलन था।

पूर्वमध्यकाल में भी खान–पान की इसी परम्परा का पालन हो रहा था। अरब यात्री सुलेमान के अनुसार भारतीयों में चावल अधिक प्रचलित था, गेहूँ नहीं के बराबर था। अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि गेहूँ का प्रचलन था। दही, घी, शाक और दाल का उल्लेख भी मिलता है। अंगूर, बादाम, सन्तरा, अनार, आम, नीबू आदि विभिन्न फलों का

---

1. गणेश पुराण, 2.34.14, तां गृहस्य विधिना परिवर्ह ददौ बहु

उल्लेख भी मिलता है।

गणेश पुराण में भी अनेकशः विविध खाद्य पदार्थों का उल्लेख मिलता है, जिससे तत्कालीन समाज में प्रचलित खाद्य पदार्थों का ज्ञान होता है। उल्लेख है कि मोदक, पुआ, खांड, दूध, सुपारी का चूर्ण, कत्था, इलायची, लौंग, केसर मिश्रित ताम्बूल (पान), केला, आम, कटहल, द्राक्ष (किशमिश) का भोग गणेश को लगाया जाता था।[1]

प्रवाल मुक्ताफल पत्र रत्न तांबूल, जांबूनदमष्टगधम्।

पुष्पाक्षतायुक्त ममोघशक्ते दत्तं मयाऽर्घ्यं सफली कुरुष्व।।

इसी प्रसंग में आगे वर्णित है कि दूध, दही, घी, मधु, गन्ने (इच्छुदण्ड) से उत्पन्न शर्करा, गुड़, मधुपर्क, खीर, सादे चावल, दही, दूध, घृत से युक्त लौंग, इलायची, मिर्च के चूर्ण से युक्त चावल के आटे की बाटी, मोदक, पूआ (अपूप), पूड़ी, हल्दी, हींग, नमक से युक्त दाल आदि पदार्थ प्रचलित थे।[2]

अनार, नीबू, जामुन, आम, किशमिश (द्राक्षा), केला, खजूर (छुहारा), नारियल, संतरा तथा हाथ साफ करने के लिए चंदन का चूर्ण समर्पित है। कपूर, सुपारी का चूर्ण, कत्थे से मिला हुआ इलायची, लौंग पड़ा केसर युक्त तांबूल समर्पित है।[3] गणेश पुराण में अन्य स्थल पर वर्णित है कि बाटी, अपूप, लड्डू, खीर, पंचामृत आदि से गणेश को भोग लगायें।[4] गणेश पूजन के समय नैवेद्य में मोदक, पूआ, पूड़ी–कचौड़ी, लड्डू, बाटी, खीर, विविध प्रकार चटनी तथा चूसने वाले भोज्य, नाना प्रकार के फल एवं तांबूल (पान) भेंट करें।[5]

यदि वर्षापर्यन्त घी, लड्डू आदि खायें तो सिद्धि प्राप्त होगी।[6] श्रावण मास में सात लड्डू, भादों में दही, आश्विन मास में उपवास, कार्तिक मास में दुग्धपान, मार्गशीर्ष में निराहर, पौष मास में गोमूत्र का सेवन करें। माघ मास में तिलभक्षण, फागुन में घृत और शर्करा, चैत्य मास में पंचगव्य, वैशाख में शतपत्रिका, ज्येष्ठ मास में घृत का सेवन करें तथा

---

1. गणेश पुराण, 1.49.27
2. वही, 1.49.50—52
3. वही, 1.49.16
4. वही, 1.51.39
5. वही, 1.59.28
6. गणेश पुराण, 1.59.36

आषाढ़ में मधु का भक्षण करें।[1] इसी पुराण में उल्लेखित है कि 18 प्रकार के अनाज को पीसकर उसकी रोटी तथा टूटे तन्दुलों का भात बनाया। अक्षत, पुष्प आदि एकत्र कर फल तथा वल्कल रखा। सूखे आंवलों के टुकड़े मुख सुगंधित करने के लिए रखे।[2] अन्य प्रसंग में गणेश द्वारा दरिद्र ब्राह्मण के घर भात खाने का वर्णन मिलता है। जब भात का पानी निकल कर चारों ओर फैलने लगा तो बालक दस भुजाधारी बन गया, दसों भुजाओं से उन्होंने वह चावल खाया।[3] दुधेश के जारज पुत्र के मांसाहारी होने का उल्लेख भी गणेश पुराण में है।[4] इसमें दही भात से नजर उतारने का उल्लेख भी मिलता है।[5] तत्कालीन समाज में प्रचलित तथा वर्णित खान–पान, फलों, पकवानों आदि का बहुतायत से उल्लेख मिलता है।

वस्त्राभूषण

वस्त्र तथा परिधान भी मनुष्य के विकास तथा उसके इतिहास से जुड़े हैं। पूर्व वैदिक युग से ही लोग विभिन्न प्रकार के वस्त्र तथा परिधान धारण करते थे। बुनाई तथा सिलाई कला से भी लोग परिचित थे। वस्त्र के लिए 'वासस्', 'वसन', 'वस्त्र' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। प्रायः नीवी (अधोवस्त्र) तथा अधिवास (उत्तरीय) पहने जाते थे।[6] उत्तर वैदिक युग में भी अनेक नये प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता हैं। सूत काटने हेतु करघा के लिए 'वेमन' शब्द का उल्लेख है।[7] बौद्ध काल में वस्त्र उद्योग के विकास के साथ–साथ विभिन्न प्रकार के रंग–बिरंगे वस्त्रों का प्रचलन हुआ। कपास, रेशम, ऊन, सन आदि अनेक प्रकार के तन्तुओं से वस्त्रों का निर्माण होता था। बेसनगर से प्राप्त यक्षिणी की मूर्ति से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियाँ धोती, अधोवस्त्र और कटि भाग में नाभि के नीचे करधनी भी धारण करती थीं। पुरूष भी कमरबंध पहनते थे। कमरबंध बहुत कलात्मक तथा आकर्षक होते थे, जो स्त्री व पुरूष दोनों की शोभा बढ़ाते थे। पुरूष

1. गणेश पुराण, 1.59.39–40
2. वही, 2.22.51–52
3. वही, 2.23.46
4. वही, 2.27.25
5. वही, 2.72.11
6. ऋग्वेद, 1.140.9
7. तैत्तरीय ब्राह्मण, 2.1, 4.2

वर्ग के लिए पगड़ी सर्वाधिक प्रिय परिधान थी, जिसे विभिन्न प्रकार से, विविध रूपों से सजाकर बाँधा जाता था।

केश–सज्जा भी श्रृंगार का अत्यन्त प्राचीन साधन रहा है, जो पुरूषों के साथ ही स्त्रियों में अत्यन्त लोकप्रिय था। अजंता, बाघ आदि गुफाओं में दीवारों पर चित्रित नारी के विविध केश–विन्यास तत्कालीन युग की सौन्दर्यप्रियता को व्यक्त करते हैं। आभूषण सौन्दर्य को बढ़ाने के माध्यम समझे जाते है। यही कारण है कि स्त्री–पुरूषों में ये सदैव ही प्रिय रहे हैं। प्राचीन काल में तो स्त्री–पुरुष प्रारम्भ से ही अलंकारप्रिय थे। ऋग्वेद काल में भुज, केयूर, नूपुर, भुजबंध, कंकण, मुद्रिका आदि आभूषण प्रचलित थे।[1] अंगूठी, कुंडल, मेखला आदि का उल्लेख भी मिलता है। काल के अनुसार उनके नाम तथा स्वरूप में परिवर्तन होते गये।

गणेश पुराण में गणेश के तेजोमय स्वरूप का वर्णन करते हुए उल्लिखित है कि उन्होंने रक्तवर्ण का वस्त्र पहना था, जो सायंकाल के सूर्यमण्डल से भी अधिक दीप्तिमान था। कटिभाग में जो सूत्र (करधनी) थी, उसके प्रभाजाल से हिमाद्रि शिखर भी लज्जित थे। सिर पर मुकुट अनेक सूर्यो की शोभा से बढ़कर था। शरीर पर ओढ़ा उत्तरीय अनेक ताराओं से अंकित आकाश जैसा था।[2] अन्यत्र वर्णित है कि वे विचित्र रत्नों से जड़ा हुआ कटिसूत्र (करधनी) पहने हुए थे। सोने के तारों से चमकता हुआ लाल वस्त्र शरीर पर लिपटा था।[3] तत्कालीन वस्त्राभूषणों के विषय में गणेश पुराण में अन्य कई स्थलों पर भी उल्लेख मिलता है। इनमें गणेश रूपी शिशु का वर्णन किया गया है जो कि मुकुट पहने था। कानों में कुण्डल थे, कण्ठ में मणियों तथा मोतियों की माला थी। कटि में कटिसूत्र था।[4] एक अन्य स्थल पर पालकी, गाँव तथा मोतियों की माला के दान का वर्णन है।[5] स्त्रियों से सम्बन्धित आभूषणों का भी उल्लेख यहाँ मिलता है। वह सभी आभूषणों से भूषित है। उसके शरीर पर तांटक, कानों में कुण्डल, मस्तक पर अनेक रत्नों से जठित मुकुट तथा ललाट पर मुक्ता षोडश शोभित हैं। सुवर्ण व रत्नों से बनी करधनी लटक रही

1. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. 280
2. गणेश पुराण, 1.12.35–36
3. वही, 1.14.21–22
4. वही, 1.15.4–5
5. वही, 1.24.15

है। बाहुओं में अंगद, हाथों में वलय हैं और प्रत्येक अंगुली में सुवर्ण व रत्नों से बनी मुद्रिकाएँ हैं। मुक्ता फलों से बनी हुई माला वक्ष पर लटक रही है। सुवर्ण तथा रत्नों से बनी कांची कटि में है। गुल्फों (टखने) में सुवर्ण के नूपुर हैं।[1] विशेष अवसरों पर स्त्रियाँ स्वयं को वस्त्रों, अलंकारों से विभूषित करती थीं।[2] बालकों को भी उत्सव के अवसर पर मूल्यवान रत्न, आभूषणों तथा सुगन्धियों से अलंकृत करने का वर्णन है।[3] एक अन्य स्थल पर कुछ आभूषणों तथा वस्त्रों के साथ ही साफे का उल्लेख किया गया है, जो संभवतः उस समय पुरूषों का प्रिय पहनावा रहा होगा। सिंधु ने वस्त्र व आभूषाण धारण किये। बाँहों में केयूर, मस्तक पर मुकुट, रत्नयुक्त हार व कुण्डल पहने। खड्ग व तरकश लेकर प्रत्यंचा सहित धनुष–बाण लिए, रेशमी वस्त्रों (साफे) से दोनों कान ढँककर सिंहासन पर आ बैठे।[4] साफे के स्थान पर कहीं–कहीं शिरोवस्त्र का उल्लेख है।[5] साधकों तथा तपस्वियों के लिए मृगचर्म ही वस्त्र था। गणेश पुराण में उल्लिखित है कि शिव ने व्याघ्र का चर्म धारण किया है। अर्धचन्द्र भूषण है। शरीर पर भस्म है तथा गजचर्म का उत्तरीय पहना है।[6] इन अनेक उद्धरणों से स्पष्ट है कि तत्कालीन समय में प्रचलित वस्त्राभूषणों की झलक प्रस्तुत पुराण में मिलती है। स्त्रियों व पुरूषों के आभूषण लगभग समान थे। समाज में वर्ग के अनुसार आभूषण धारण किये जाते थे। प्रस्तुत पुराण में अनेक स्थलों पर अवसर के अनुकूल आभूषणों तथा वस्त्रों के धारण करने का उल्लेख है। प्रस्तुत पुराण की इस दृष्टि से विशेष सांस्कृतिक महत्ता है।

आमोद–प्रमोद और मनोरंजन के साधन

भारतीय समाज में प्राचीन काल में मनोरंजन तथा आमोद–प्रमोद का विशिष्ट व अनिवार्य महत्व था। मनुष्य के स्वस्थ शरीर तथा मन के लिये मनोरंजन अत्यंत आवश्यक था। विभिन्न प्रकार के खेल तथा आखेट आदि उस समय प्रचलित थे। पूर्व वैदिक युग में

---

1. गणेश पुराण, 1.48.19–21
2. वही, 1.55.19
3. वही, 3.13.46
4. वही, 2.117.38
5. वही, 2.18.5
6. वही, 2.128.25

लोगों के मनोरंजन का साधन उत्सव रहा। संगीत के प्रति भी उनकी अभिरुचि थी। नृत्य, गान तथा वाद्य के माध्यम से मनोरंजन होता था। संगीत के अनेक वाद्यों वेणु, नाड़ी, आघाट तथा मृदंग आदि का प्रयोग होता था। आखेट भी मनोरंजन का एक साधन ही था। घरेलू खैलों में चौपड़ अधिक प्रिय था। संगीत तथा नृत्य में स्त्री–पुरुष दोनों भाग लेते थे।

पूर्व मध्य काल में नृत्य, गान, संगीत तथा नाटक के आयोजन होते थे। वीणा, नगाड़ा आदि का वादन शास्त्रीय रूप में प्रचलित था। पूजा–अर्चना के समय भी इनका प्रयोग किया जाता था। जलक्रीड़ा भी मनोरंजन का माध्यम थी। तात्पर्य यह है कि समाज में विभिन्न प्रकार के मनोरंजन के साधन उपलब्ध थे, जिनका लोग अपनी रुचि के अनुसार चुनाव करते थे तथा मन एवं शरीर दोनों से स्वस्थ रहते थे। समाज में मनोरंजन अभिजात तथा धनिक वर्ग के अतिरिक्त सामान्य जनता के लिये भी था।

गणेश पुराण में भी तत्कालीन समय में प्रचलित विभिन्न खेलों, नृत्य, गीत, संगीत, उत्सव आदि के उल्लेख हैं जो उस समय के समाज का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसमें वर्णित है कि भगवान शिव को विष्णु ने गंधर्व रूप धारण अपने गायन से संतुष्ट किया। विविध प्रकार से वीणावादन किया तथा आलाप सुनाये। स्कंध, गाणेश्वर, देवी पार्वती व ऋषि–मुनियों को गायन से संतुष्ट किया।[1] राजा भीम के दो मंत्री मनोरंजन तथा सुमंत, आध्यात्म विद्या, वेदयत्री, वार्ता तथा सोलह कलाओं में निपुण थे।[2] एक अन्य स्थल पर उल्लिखित है कि देवता की स्तुति में गायन किया गया तथा कुछ लोग देवभक्ति में नाचने भी लगे।[3] एक अन्य प्रसंग में वर्णन है कि राजा और दक्ष के सत्कार के लिये नगर के लोग तथा अप्सरायें नृत्य करती थीं। गान विद्या में निपुण गंधर्व दौड़कर उस नगर में आये। चारों ओर से उठता हुआ जयघोष तथा वाद्य–स्वर आकाश में फैल गया।[4] रुक्मांगद के कौण्डिन्यपुर आने पर वाद्यघोष, ब्राह्मणों के आशीर्वचन तथा गंधर्व–अप्सराओं के संगीत से दिशाएँ गुंजायमान हो गयीं।[5] गीत, वाद्य, नृत्य तथा उत्सव कराने का भी उल्लेख

---

1. गणेश पुराण, 1.17.19–20
2. वही, 1.19.14
3. वही, 1.22.16
4. वही, 1.26.6
5. वही, 1.35.19

है।[1] यज्ञ आदि उत्सवों पर भी नृत्य का आयोजन होता था। उल्लिखित है कि एक ओर विद्वान् लोग परस्पर शास्त्रों पर विवाद करते थे। दूसरी ओर अप्सरायें नृत्य करती थीं।[2] इसमें यह वर्णित है कि गंधर्व व अप्सरायें ताल–मृदंग बजाते हुये तरह–तरह के गान व नृत्य कर रहे हैं। एक बाजे को गंधर्वअस्त्र से अभिमंत्रित किया गया जिनको सुनकर सभी मंत्रमुग्ध हो जाते थे।[3] ऐसे ही एक अन्य प्रसंग में उल्लिखित है कि नृत्योत्सव के आयोजन में शिव, गणेश तथा अन्य देवता नृत्य करने लगे। मनुष्य, पशु, वृक्ष, यक्ष, राक्षस, मुनि, चौदह भुवन के वासी, इक्कीसों सर्गों के देवतात्र, बालक के प्रभाव से नाचने लगे, जिससे दसों दिशाएँ निम्नादित हो गयीं।[4] सामाजिक दृष्टि से गणेश पुराण में पूर्व मध्यकाल की वर्ण–व्यवस्था, स्त्री–दशा, रहन–सहन, रीति–रिवाज, आचार–विचार, वस्त्राभूषण आदि का परिचय मिलता है। वर्ण–व्यवस्था तथा उसमें हो रहे परिवर्तन का उल्लेख तत्कालीन अन्य ग्रंथों में भी है।[5] निस्संदेह गणेश पुराण धार्मिक महत्व के साथ ही सामाजिक तथा सांस्कृतिक तथ्यों की दृष्टि से भी मूल्यवान है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना के मूलभूत तत्व

पूर्व मध्यकाल में नगरों के ह्रास के कारण ब्राह्मण परिवार वहाँ से विसर्जित होकर अन्यत्र जाकर बस रहे थे। 400–1100 ई. के बीच ब्राह्मणों ने कुल अड़तीस बार उत्प्रवास किया। कई ऐसे नये प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपने मूल नगरों या उनके आस–पास के स्थानों को छोड़कर ब्राह्मण परिवार सबसे पहले उस नये स्थानों पर में आ बसे जहाँ उन्हें वंशगत आश्रय मिलने की संभावनाएँ दिखायी दीं। कुछ अप्रवासी ब्राह्मण भूमिदान या ग्रामदान प्राप्त करने में सफल हुये। पूर्व मध्यकाल की यह सामाजिक व्यवस्था गणेश पुराण में परिलक्षित होती है। ब्राह्मणों को भूमिदान देने और महत्व की ओर बढ़ने की बात बार–बार कही गयी है। उड़ीसा से प्राप्त

---

1. गणेश पुराण, 1.54.34
2. वही, 2.30.18
3. वही, 2.68.3
4. गणेश पुराण, 2.90.8–10
5. हरिवंश पुराण, 116.6

   शूद्राश्च ब्रह्मणाचारा भविष्यन्ति युगक्षये।

सातवीं शताब्दी के एक दानपत्र में एक ब्राह्मण परिवार का उल्लेख है, जो मूलतः मथुरा का रहने वाला था। किन्तु तब उल्लेखट नगर में निवास कर रहा था। उसे वहाँ से बीस मील दूर का एक गाँव दान में दिया था। गुजरात क्षेत्र से प्राप्त सातवीं शताब्दी का एक अन्य अभिलेख बताता है कि पाँच अथर्ववेदी ब्राह्मण परिवार जो मूलतः मरुकच्छ नगर के रहने वाले थे, बाद में मुख्य नगर भेरज्जक (आधुनिक बोरजई) में आकर रहने लगे थे। जब उन्हें वहाँ से बारह मील की दूरी पर माफी की जमीन दान में मिली तो वे अंततः वहीं जाकर बस गये। गुजरात क्षेत्र से ही प्राप्त एक अन्य दानपत्र में ऐसे ब्राह्मण परिवार का उल्लेख है जो कर्नाटक के उत्तरी कनारा जिले के बनवासी नामक सुदूरवर्ती स्थान से चलकर पहले नवसारिका (नौसरी) में रहने लगा और फिर वहाँ से भी निकलकर चाल मील दूर के गाँव में जा बसा।[1] आठवीं शताब्दी के कलचुरी दानपत्र में पद्मनाथ नाम के एक ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है जो कन्नौज नगर के समीपवर्ती श्रवणभद्र से आकर कलचुरी राजाओं की राजधानी रत्नपुर में रहने लगा था। उसके ज्योतिष संबंधी ज्ञान से प्रभावित और प्रसन्न होकर कलचुरी राजा ने उसे छिछोली गाँव दान में दिया।[2] गुजरात के भरूच जिले से प्राप्त सातवीं शताब्दी के एक शिलालेख में दो ब्राह्मण दलों का उल्लेख मिलता है। एक पैंतीस ब्राह्मण परिवारों के मुखियों का था जो ऋग्वेदी, यजुर्वेदी और सामवेदी संप्रदायों में दीक्षित थे और जेबुसरस ने आकर शिरीषपद्रक गाँव में बस गये थे। यह गाँव उन्हें और भरुकच्छ (आधुनिक भरूच) से आकर वहाँ बसे पाँच अथर्ववेदी ब्राह्मण परिवारों को संयुक्त रूप से दान में प्राप्त हुआ था।[3] स्पष्ट है कि बड़े पैमाने पर दिये जाने वाले धार्मिक भूमिदानों के माध्यम से कबायली लोगों को ब्राह्मणीय व्यवस्था में शामिल किया गया। भारतीय आर्यों तथा कबायली लोगों के बीच व्यापक सांस्कृतिक सम्पर्क तथा आदान–प्रदान हुआ। परिणामतः मध्य देश के बाहर भी ब्राह्मणीय धर्म का प्रसार हुआ।[4] सातवीं शताब्दी में आंध्र, असम, बंगाल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान, तमिलनाडु आदि क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयों का रूप कुछ–कुछ उभरने लगा। देश के अन्य भागों में भी पृथक

---

1. नंदी रमेन्द्रनाथ, प्राचीन भारत में धर्म के सामाजिक आधार, पृ. 39
2. वही खण्ड II
3. वही
4. शर्मा, आर. एस., पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ. 30

क्षेत्रीय एवं सांस्कृतिक पहचान ने स्वरूप ग्रहण करना प्रारंभ कर दिया था। पूर्व मध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि इस काल की कतिपय नयी प्रवृत्तियों ने तैयार किया। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण भूमिदान की प्रवृत्ति थी। राजा और सामंत धर्म–कर्म से सम्बन्धित व्यक्तियों, समूहों और संस्थाओं तथा सरकारी अमलों को बड़े पैमाने पर भूमि और राजस्व के अधिकार दान करने लगे। इन दानों ने ब्राह्मणों के नगर से बाहर आकर बसने व उन स्थलों पर ब्राह्मणीय संस्कृति के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। गणेश पुराण में ब्राह्मणों को दान देने, उन्हें पूजनीय व महत्वपूर्ण मानने तथा उनके शाप से भयभीत होने के विभिन्न उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गणेश पुराण का रचना काल अस्थिरता व परिवर्तन का काल था, जिसके परिणामस्वरूप परिधीय क्षेत्रों में ब्राह्मण संस्कृति का प्रसार हो रहा था। उन क्षेत्रों में ब्राह्मण अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने के लिये स्वयं को धर्म के माध्यम से महिमामंडित कर रहे थे। स्वर्णदान व भूमिदान करने के लिये लोगों को अभिप्रेरित करते थे। इन सभी तत्वों का निरूपण गणेश पुराण में प्राप्त होता है, जिससे उसकी ऐतिहासिक महत्ता स्थापित होती है।

उपासना पद्धति के अर्न्तगत गणेशपुराण में यज्ञों आदि का उल्लेख नहीं है अपितु जप, तप, ध्यान, योग आदि पर बल दिया गया है, जो पूर्व मध्यकालीन धार्मिक तत्वों का ही निरूपण करता है।[1] वस्तुतः ईस्वी सन् की आरंभिक सदियों के दौरान और उसके पश्चात् भी, धार्मिक कर्मकाण्डों तथा आचार–व्यवहार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। लगभग पाँचवी शताब्दी से छोटी–छोटी निजी गृहस्थियों की स्थापना, सुरक्षित पारिवारिक भूसंपत्ति के उदय तथा मुद्रा के प्रयोग के साथ घरेलू पूजा–अर्चना और महायज्ञों का जो चलन प्रारंभ हुआ था, दूसरी शताब्दी के बाद लोकप्रिय नहीं रह गया था। यद्यपि सातवाहन शासन इन यज्ञों में दक्षिणा देने के लिये हजारों कार्षापण व्यय करते थे किन्तु परवर्ती काल में बहुत कम राजा इस तरह के यज्ञ करते थे। सामान्य लोगों के बीच तो इस प्रथा का अस्तित्व ही मिट गया था। गुप्तोत्तर काल के पुराणों में तीर्थयात्रा तथा दान की महिमा का बखान किया गया है। यज्ञों का स्थान इन पौराणिक धर्माचरणों ने ले लिया। दूसरी ओर, अपनी सेवाएँ अपने सामंती प्रभु को समर्पित करके उसके प्रसाद या कृपा के रूप में इससे

---

1. पाठक, पी. एन., डेवलपमेंट ऑफ द रिचुअल ऑफ श्राद्ध इन अर्ली स्मृतीज एण्ड पुराणाज, 1978 में हैदराबाद में हिस्ट्री कांग्रेस में प्रस्तुत पत्र

राजस्विक अधिकार, भूमि तथा सुरक्षा प्राप्त करने के बढ़ते रिवाज के अनुरूप धार्मिक क्षेत्र में भी पूजा की प्रथा तेजी से विकसित हुई। पूजा के साथ भक्ति का सिद्धांत भी जुड़ा।[1] इन तत्वों का निरूपण गणेश पुराण में विस्तार से है।

स्त्री–दशा के संदर्भ में गणेश पुराण में दो तथ्य स्पष्ट रूप से उभरकर दिखायी देते हैं। 1. स्त्रियों का नैतिक पतन, 2. स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा निम्न स्थान मिलना।

इसकी पृष्ठभूमि में पूर्णतया तत्कालीन सामाजिक व राजनैतिक स्थितियाँ कार्य करती हैं। सामंती युग में लड़ाई–भिड़ाई का काम चलता रहता था जिसमें स्वभावतः पुरुष ही भाग लेते थे। इसलिये उस काल में स्त्रियों को उत्तरोत्तर निम्न स्थान देने और उन्हें सम्पत्ति मानने की बढ़ती प्रवृत्ति दिखायी देती है। सामंती दौर में पुरुषों के प्रभुत्व में अपूर्व वृद्धि हुई और उनकी सम्पूर्ण श्रेष्ठता के परिणामस्वरूप स्त्रियों पर तरह–तरह की बंदिशें लगायी गयीं। यहाँ तक कि सती होना उनके लिये धर्म बना दिया। सामाजिक परिवर्तन के इस काल में स्वभावतः पुत्र का महत्व बढ़ गया। गणेश पुराण में भी बलशाली और सामर्थ्यवान पुत्र की प्राप्ति हेतु अनेक व्रत व जप–तप का विधान बताया गया है।

प्रस्तुत पुराण में बहुतायत से गणेश–तीर्थों का उल्लेख है। जिन स्थानों को तीर्थ घोषित किया गया है उनमें नदियों के घाट, नदी तट, जंगलों में स्थित ऋषि–मुनियों के आश्रम, पर्वत–घाटियाँ, महत्वपूर्ण नगर आदि सभी सम्मिलित है। किसी स्थान विशेष को कभी किसी देवता ने तीर्थ घोषित किया है तो कभी किसी देवभक्त ने। पुराणों में तीर्थों की उद्घोषणा को भी[2] हाजरा एवं रमेन्द्र[3] ने सामाजिक व आर्थिक संदर्भों में व्याखापित किया है। 'तीर्थ' (धार्मिक स्थल) शब्द की अवधारणा धर्मनिष्ठा के रूप में हैं। आम जनता द्वारा तीर्थयात्रा करने का सर्वप्रथम उल्लेख विष्णु स्मृति (तीसरी शताब्दी) में हुआ है। इसके बाद के लगभग सभी पुराणकारों ने इसका उल्लेख किया है। तीर्थ स्थलों की संख्या भी लगातार बढ़ती गयी। एक नयी पुराण विद्या या मिथक शास्त्र की रचना हुई। तीर्थों के साथ धार्मिक भावनाएँ जुड़ती गयीं। तीर्थ स्थल पर दान–पुण्य करने का विधान किया गया।[4] बाद के अन्य पुराणों में जिन स्थानों को तीर्थस्थलों की सूची में रखा गया है उनमें

1. वही 98
2. हाजरा, आर. सी., स्टडीज इन द पौराणिक रिकार्डस, अध्याय–V
3. नंदी, रमेन्द्रनाथ, प्राचीन भारत में धर्म के सामाजिक आधार, पृ. 96
4. वही, पृ. 44

से कई महत्वपूर्ण प्राचीन नगर हैं जो पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर आरंभिक मध्यकाल के दौरान ही अवसानोन्मुख हो चुके थे। इन्हीं में से कई ध्वस्त नगरों को पुराणकारों ने बड़े चातुर्य से गुणगान करते हुये उन्हें तीर्थ घोषित कर दिया। पुराणों में तीर्थस्थानों से सम्बन्धित जो अध्याय सम्मिलित हैं, और जिन्हें हाजरा बहुत बाद के अर्थात् 700–1400 ई. के बीच के क्षेपक मानते हैं, उनमें भी उपर्युक्त प्रवृत्ति का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। पुराणों में तीर्थ स्थानों की संख्या लगातार बढ़ती गयी है। किसी–किसी पुराण में तो किसी तीर्थ विशेष का माहात्म्य बताने के लिये कई अध्याय रचे गये। हाल में हुये अनुसंधान कार्यों से तीर्थ स्थानों की संख्या के बारे में यह स्पष्ट हो गया है कि हर पुराण की रचना के साथ उनकी संख्या लगातार बढ़ती ही गयी। अर्थात् तीर्थस्थलों की सूची में प्राचीन ध्वस्त नगरों के नाम जुड़ते चले गये। कालान्तर में ऐसे नगरों के नाम भी सम्मिलित हो गये जो परम्परागत संस्कृत–आधारित ब्राह्मण संस्कृति की परिधि से बाहर के थे। नगरों के क्षय और कालान्तर में उनमें से बहुतों के तीर्थ घोषित हो जाने तथा दान–पुण्य के लिये उन्हें उपयक्त स्थान मान लिये जाने की इन दोनों घटनाओं को अलग–अलग करके नहीं समझा जा सकता। 'नगर' और 'तीर्थ' शब्द दो भिन्न प्रकार की बस्तियों के वाचक हैं। इन दोनों का सामाजिक अर्थशास्त्र अलग–अलग तो है, किन्तु दोनों में कार्य–कारण सम्बन्ध अवश्य दृष्टिगत होता है। तत्कालीन नगर उन्नतिशील बाजार–अर्थव्यवस्था के प्रतीक थे। वहाँ संस्कार आधारित उपहार–विनिमय व्यवस्था प्रचलित थी। इन दोनों व्यवस्थाओं के पनपने का मुख्य आधार नगरवासी गृहस्थों का सुसम्पन्न होना था। इसलिये जब इन नगरों का क्षय हुआ तो नगर आधारित यजमानों की समृद्धि भी प्रभावित हुये बिना नहीं रही। यजमानों का वैभव कम होना ही नगरों में संस्कार प्रधान धार्मिकता के क्षय का कारण बना। तीर्थ स्थापना के मूल में जो अवधारणा काम कर रही थी, वह यह थी कि सामान्यतः सभी बस्तियों में और विशेषतः क्षतिग्रस्त नगरों में उपहार–विनिमय की संभावनाओं को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया जाये। तीर्थों के स्थापित हो जाने पर मध्यकालीन दानोन्मुखी और कृषि आधारित उपहार–विनिमय व्यवस्था के सांच में ढली इन तीर्थ यात्राओं से पूर्व प्रचलित संस्कार–प्रधान उपहार–विनिमय व्यवस्था अपने सीमित उद्देश्य की प्राप्ति में सफल सिद्ध हुई, क्योंकि इसने उन यजमानी ब्राह्मणों को जीवकोपार्जन का वैकल्पिक कर्मकाण्ड

विषयक आधार प्रदान किया, जो क्षयग्रस्त नगरों में रह रहे थे और वंशगत संरक्षण प्राप्त किये हुये थे। तीर्थों के महत्व तथा वहाँ ब्राह्मणों के संरक्षण का उल्लेख अनेक पुराणों जैसे, वराह[1]

ब्राह्मणान् स्थापयित्वा तु मया तुल्यान् महौजसः।
षड्विंशति सहस्त्राणि वेद वेदांगपारगान्।।

कूर्म[2] मत्स्य[3] आदि में प्राप्त होता है। नंदी महोदय के अनुसार जिन अधिकांश नगरों के पुरातत्वविदों ने तीसरी और चौथी शताब्दी में पूरी तरह से उजड़े, या काफी बिगड़ी स्थिति वाले, नगर कहा है, वे वही नगर थे जहाँ से ब्राह्मण परिवार पाँचवीं–ग्यारहवीं शताब्दी के बीच पलायन कर गये थे। इस कालखण्ड के उपलब्ध पुरालेखों में इन प्रवास घटनाओं का उल्लेख मिलता है। वे वही नगर हैं जिन्हें स्मृतियों और पुराणों में तीर्थ कहा गया है। कुछ नगरों में क्षय, प्रवास और पवित्रीकरण ये तीनों प्रक्रियायें साथ–साथ दृष्टिगोचर होती हैं। गणेश पुराण में भी यह प्रवृत्ति स्पष्टतः देखी जा सकती है। पुराणों में तीर्थयात्रा से संबंधित अंशों का अंतिम कालानुक्रम हाजरा ने प्रस्तावित किया है। उनका मानना है कि क्षयमाण नगरों को तीर्थ घोषित करने का विचार आठवीं शताब्दी से पहले का नहीं है। गणेश पुराण में बहुतायत से उल्लिखित तीर्थस्थलों की पृष्ठभूमि में भी संभवतः यही मानसिकता सक्रिय रही होगी। एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य गणेश पुराण में दिखायी देता है और वह है दान–दक्षिणा के बढ़ते प्रचलन का। स्थान–स्थान पर ब्राह्मणों को दान–दक्षिणा देने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया गया है। इतिहास को सामाजिक, आर्थिक दृष्टिकोण से व्याख्यायित करने वाले इतिहासकारों ने पुराणों में उपलब्ध इस विवरण की सामाजिक, आर्थिक व्याख्या की। इस संदर्भ ने विद्वानों का मत है कि पूर्व मध्यकाल में तथा मध्यकाल में, यजमानी सम्बन्धों के बदलते सामाजिक संदर्भ को समझने के लिये हमें इसे नगरों के क्षय और उसके परिणामस्वरूप नगरवासी यजमानों की पूरी पीढ़ी के समाप्त हो जाने से जोड़कर देखना होगा। नगरों के कष्ट हो जाने पर जब आरंभिक मध्यकाल में ग्राम आधारित सामाजिक अर्थव्यवस्था का विकास हुआ तो ब्राह्मणों

---

1. वराह पुराण, 163.51
2. कूर्म पुराण, II 36.26
3. मत्स्य पुराण, 183.72

के लिये यह भी आवश्यक हो गया कि वे इस नयी व्यवस्था के अनुरूप अपने लिये दान ग्रहण करने जैसे रोजगार के नये साधनों की तलाश करें। इस तरह से तत्कालीन हिन्दू शास्त्रों और धर्मग्रंथों में, विशेषकर पुराणों में, इससे सम्बन्धित जो विधि–विधान आये हैं वे एक तरह से परम्परागत यजमानी ब्राह्मणों के हितों का ध्यान रखते हुये ही बनाये गये हैं। इनमें दान सम्बन्धी कई नये–नये अनुष्ठानों का विधान हुआ है।[1] ब्राह्मणों–पुरोहितों में जो नयी जागरूकता पैदा हुई, उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति मत्स्यपुराण करता है। इसमें कुल 291 अध्यायों में से 135 अध्यायों का सम्बन्ध अनुष्ठानों की विशिष्ट कोटियों से हैं, जिनका केन्द्रीय विषय या तो कोई दान–कर्म रहा है या जो किसी अन्य अनुष्ठान का अनिवार्य अंग बनकर उभरा है। पूर्व मध्यकाल में 'पुण्य' की प्राप्ति एक सामाजिक बाध्यता बनती जा रही थी, क्योंकि ऐसा माना जाता था कि इससे यजमान को अपने लिये विधिसम्मत अधिकारों को प्राप्त करने और सामाजिक वस्तुओं का उपभोग करने के निमित्त 'अपवित्र' स्थिति से बचने में सहायता मिलेगी। बड़े नगरों में उपहार–विनिमय अर्थव्यवस्था समाप्ति की ओर अग्रसर थी और उसके स्थान पर क्रमशः 'वाणिज्यगत निर्वेयक्तिक बाजार–अर्थव्यवस्था' से सन्निकटता बढ़ती जा रही थी। 'दान करो और पुण्य कमाओ' इस उपदेश को उपर्युक्त क्षतिपूर्ति के एक साधन के रूप में ग्रहण किया गया। दान और पुण्य के बीच का यह आदान–प्रदान तीसरी और चौथी शताब्दी से ही यजमानी संबंधों पर छाना शुरू हो गया था। ठीक उसी समय वाणिज्यगत निर्वेयक्तिक बाजार–अर्थव्यवस्था अवनति की ओर अग्रसर हो चुकी थी। इस रूप में उपहार–विनिमय के मूल्यों के पुनर्जन्म की जो बात कही गयी है, उसे बाजार व्यवस्था के मूल्यों 'क्रम–विपर्यय' का कारण मानकर केवल कार्य–कारण सम्बन्धों की कसौटी पर कार्य के रूप में ही ग्रहण करना चाहिये। इस पुनर्जन्म का सीधा सम्बन्ध नगरों के क्षय और वहाँ प्रचलित संस्कार आधारित उपहार–विनिमय अर्थव्यवस्था के क्रमशः क्षरण से है। पूर्व मध्यकालीन स्मृति ग्रंथों और पुराणों के ग्राम और कृषि आधारित तथा दानोन्मुखी यजमानी सम्बन्धों को विशेष महत्व प्राप्त हुआ। यजमानी सम्बन्धों में अनुष्ठानपरक पूर्वग्रह में भी अनुकूल परिवर्तन दिखते हैं। पहले जो यज्ञपरक धार्मिकता प्रचलित थी, वह एक आम नागरिक गृहस्थ की समझ से परे का कर्मकाण्ड था। उसमें परिवर्तन हुआ और अब अधिक नियमित और अनिवार्य संस्कारों ने उसका स्थान

1. नंदी, रमेन्द्रनाथ, वही, पृ. 57

ग्रहण किया। गृह सूत्रों में ऐसे चालीस संस्कारों का उल्लेख मिलता है।

एक अन्य बात और ध्यान देने योग्य है कि पूर्व मध्यकाल में जो संस्कार–कर्म किये जाते थे या कि उन्हें सम्पन्न हो जाने पर जो धर्मार्थ दान दिया जाता था, उसके पीछे यह भावना निहित थी कि उनके या उसके बदले में यजमान का शरीर और आत्मा दोनों ही पवित्र हो जायेंगे। यही नहीं, यह भी पूरी तरह से प्रचारित किया गया कि संस्कार–कर्म के निर्वाह और उसके बाद दान देने से यजमान अपनी मृत्यु के बाद आवागमन के चक्र से मुक्त हो जायेगा और उसकी आत्मा परमात्मा में जा मिलेगी। ब्राह्मणों के हित की दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट होता है कि इन नये दान सम्बन्धी अनुष्ठानों से उन्हें जीविकोपार्जन का एक विश्वसनीय साधन तथा सामाजिक प्राधिकार का एक प्रभावी स्रोत मिल गया। यजमानों के हित की दृष्टि से विचार करें तो पायेंगे कि इन अनुष्ठानों का पालन करते रहने से वे अशुद्धि स्थितियों से बचे रह सके अन्यथा उन्हें अपनी शुद्ध स्थिति से और परिणामस्वरूप अपने वर्ण जाति से हाथ धोना पड़ता। वर्ण–जाति च्युत होने का मतलब था कि उन सभी हित–लाभों और विशेषाधिकारों से वंचित हो जाना जो संबंधित वर्ण के लोगों को सामान्यतः उपलब्ध थे। शुद्धता का यही समष्टि चरित्र दो अन्य बातों का भी आधार बना। पहला उन वर्गों को रिझाना जो अपने से कम शुद्ध होने के बावजूद अधिक शक्तिशाली थे और जिनके हाथ में सामाजिक वस्तुओं के वितरण का नियंत्रण था। दूसरा, उन तिरस्कृत और अशुद्ध वर्गों को प्रभावी रूप से अपने अधीन करना जो उनसे अधिक शुद्ध वर्णों के हित–लाभ के लिये समाजोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करते थे। उच्च कुलोत्पन्न मध्यकालीन यजमानों को एक अन्य लालच यह भी दिया गया कि यदि वे दान–पुण्य करते रहेंगे तो उनकी वर्तमान सामाजिक स्थिति के निर्धारण में पूर्वजन्म के कर्मों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उन्हें यह बताया गया कि महादान और तीर्थयात्रा करने से उनकी वर्तमान निम्न स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आ सकता है। जैसे, यदि वे क्षत्रिय नहीं है तो क्षत्रिय के स्तर को प्राप्त कर सकते हैं तथा कोई क्षत्रिय ब्राह्मण का स्तर भी प्राप्त कर सकता है। सामान्यतः इसी प्रकार का स्तरारोहण केवल पुनर्जन्म से ही प्राप्त किया जा सकता था और वह भी पूर्वजन्म में शास्त्रीय तरीके से आचरण करने के आधार पर ही।

स्पष्ट है कि 'दान' को विभिन्न सामाजिक और आर्थिक कारणों से महिमामंडित

किया गया। दान को एक ऐसा शस्त्र बताया गया जिसके प्रयोग से यजमान के सभी पाप कट जाते हैं।[1] पूर्व मध्यकालीन पुराणों में विभिन्न महादानों से सम्बन्धित अनुष्ठानों वाले प्रकरण में पुण्य कमाने, पाप नष्ट करने और पवित्रता प्राप्त करने के साधन के रूप में दान की विस्तृत महिमा बखानी गयी है। इस सन्दर्भ में प्रिचर्ड महोदय का मत उल्लेखनीय है। दान सम्बन्धी अनुष्ठानों या कर्मकाण्डों के प्रत्यक्षतः तीन चरण पुराणों में स्पष्ट होते हैं। पहला पापनाशन, दूसरा पुण्य प्राप्ति और तीसरा पवित्र हो जाना। किन्तु इनके पीछे जो प्रच्छन्न कारण दिखायी पड़ता है वह था, सामाजिक असंतुलन को मिटने न देना तथा जो वर्ग पवित्र माना जाता था उसकी शक्ति को बढ़ाते जाना। पुराणों में वर्णित है कि अपवित्रता मूल पाप है और इस पाप को 'पवित्र' के साथ शारीरिक स्पर्श से धोया जा सकता है। अर्थात् तीर्थयात्रा करके[2] या पवित्र जल में स्नान करके या[3] पुण्यतोया नदी की मिट्टी से शरीर को रगड़कर[4] या पुण्यवान पुरुषों के दर्शन लाभ से पाप नष्ट हो जाते हैं।[5] पहले तीन प्रकारों में शरीर स्पर्श प्रधान है किन्तु चौथे प्रकार में अर्थात् पुण्यवान पुरुषों के दर्शन लाभ वाले प्रसंग में शारीरिक स्पर्श अनिवार्य नहीं माना गया। कहा गया है कि इन पुण्य पुरुषों के शरीर से पवित्रता वायु में प्रवाहित होकर अपवित्र लोगों को पवित्र कर देती है। इसका उल्लेख गणेश पुराण में भी प्राप्त होता है कि मुद्गल ऋषि के वायुस्पर्श से दक्ष स्वस्थ हो गये।[6] ऐसे पवित्र सरोवरों का भी उल्लेख मिलता है जिनमें स्नान करने से व्यक्ति रोग व पाप से मुक्त हो सकता है।[7] तीर्थ यात्रा करने से भी कुष्ठरोग से ग्रस्त शूद्र दिव्यदेहधारी हो गया।[8] पुराणकार यह भी मानते हैं कि योग्य व्यक्तियों को दान देकर पापी पाप से मुक्त हो सकता है।[9] इस प्रसंग में पाप मुक्ति का माध्यम वे वस्तुएँ बनती हैं

---

1. मत्स्य पुराण, 275.14 'दानशस्त्राहतपातकानाम्'
2. मत्स्य पुराण, 103.25
3. वही, 102.1
4. वही, 102.11
5. वही, 103.17
6. गणेश पुराण, 1.20.10–12
7. वही, 1.20.12–13, 1.35.11–12, 1.35–16, 1.35.22–23
8. वही, 29.11
9. मत्स्य पुराण, 82.17

जो दान में दी जा रही हैं। इन प्रसंगों से स्पष्ट हो जाता है कि पवित्रता और अपवित्रता दोनों को ही संसर्गजनित माना गया है किन्तु पवित्रता का संसर्ग अपेक्षाकृत प्रबल है, क्योंकि वह पापी के शरीर से पाप का नाश करने में सक्षम है।[1] ध्यान देने योग्य बात यह है कि किसी भी शुद्ध पदार्थ से निकलने वाली वस्तु विशेषतः शुद्धिकारक ही होती है। उदाहरण के लिये 'पंचगव्य'। पवित्रता और अपवित्रता वाले इन प्रसंगों में प्रस्तुत तर्क–वितर्क का यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण–व्यवस्था वाले समाज में व्यक्ति की पवित्रता और उसकी शक्ति, दोनों ही तत्व एक दूसरे से जुड़े हुये थे। गणेश पुराण में वर्णित दान सम्बन्धी अनुष्ठानों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्राह्मणों में यह जागरूकता बढ़ती जा रही थी कि कृषि अधिशेष ही उनकी जीविका का प्रधान साधन है। इसीलिये वे अनुष्ठान कर्म के बाद यजमानों से अधिकाधिक खाद्यसामग्री प्राप्त करने को लालायित रहते थे। इन विवरणों में यजमानों के लिये यह सुझाव आया है कि वे ब्राह्मणों की भूमि और गाँव दान में दें। गणेश पुराण में ऐसा कोई अनुष्ठान नहीं मिलेगा जिसके पूरा होने पर दान के रूप में खाद्य सामग्री देने का विधान न हो। इसमें उल्लिखित दान संबंधी अनुष्ठानों को तीन कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहली कोटि में धान, शर्करा, घी, तिल, दही, मधु और खीर आदि का दान कराने का विधान है।[2] दूसरी कोटि में स्वर्ण, रजत, रत्न और घरेलू उपयोग की कई अन्य वस्तुयें जैसे, सूती वस्त्र, अच्छे किस्म के ऊनी वस्त्र तथा गोदान आदि सम्मिलित हैं।[3] तीसरी कोटि अचल सम्पत्ति की बनायी जा सकती है जिसमें भूदान व ग्रामदान सम्मिलित हैं।[4] मत्स्य पुराण में तो ब्राह्मणों को दिये जाने वाले दोनों में भूमिदान को सर्वश्रेष्ठ माना गया हैं यदि अन्य सभी प्रकार के दानों को एक साथ रखकर उनका मूल्य निर्धारित किया जाये तो वह ब्राह्मण को दिये गये भूमिदान के धार्मिक महत्व के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं होगा।[5] स्पष्ट है कि गणेश पुराण में तीर्थ, व्रत, त्यौहार, दान, व्रिप पूजन आदि के वो सभी तत्व विद्यमान हैं जो तत्कालीन समाज की महत्वपूर्ण विशेषताएँ थीं।

1. गणेश पुराण, 1.29.17
2. गणेश पुराण, 1.23.10, 1.40.23, 1.29.42, 1.26.22
3. वही, 1.26.8, 1.26.22, 1.49.17, 1.50.29, 1.51.40
4. वही, 1.41.25, 1.26त्र22
5. मत्स्य पुराण, 283.13–14

राजनीतिक स्थिति

किसी भी काल की राजनीतिक व्यवस्था तत्कालीन समाज की धुरी होती है। राजशासन में राजा की स्थिति, उसकी भूमिका, मंत्रिमण्डल का सहयोग, सेनापति–गुप्तचर व्यवस्था, ये सब शासन के अंग हैं। समय–समय पर इनमें परिवर्तन होता रहता है। राजा के कर्तव्य, उसके धर्म आदि के विषय में जगह–जगह उल्लेख होता रहा है।

इस दृष्टि से कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र' का उल्लेख आवश्यक हो जाता है जिसमें राजशासन के सभी पक्षों का तर्कपूर्ण विश्लेषण किया गया है तथा जो आगे की शासन व्यवस्था में भी आधार स्वरूप माना गया है। अर्थशास्त्र में चार आधारों की चर्चा की गयी है जिसके अन्तर्गत धर्म, व्यवहार, चरित और राजशासन आते हैं। धर्म से तात्पर्य शास्त्रों के विधान या सत्य से है, व्यवहार में क्रय–विक्रय, ऋण–धरोहर, वेतन, मजदूरी आदि से सम्बन्धित सौदों के समादेश हैं। चरित का अर्थ है देशकाल, परिवार श्रेणी आदि से जुड़े पारम्परिक नियम तथा राजशासन से राजा के आदेश तथा शाही सनद का अर्थ लिया जाता है। अर्थशास्त्र में यह भी उल्लिखित है कि यदि इन चारों में परम्पर असंगति हो तो व्यवहार, धर्म, चरित तथा राजशासन–तीनों को निरस्त कर देता है।[1] पूर्व मध्यकालीन रचनाओं–नारदस्मृति, कात्यायन स्मृति, हरित स्मृति तथा अग्निपुराण[2] में भी ऐसे कथन हैं।

गणेश पुराण के रचनाकाल में भारतीय राजनीति, सामंतवाद तथा उसे उत्पन्न विशिष्टताओं और समस्याओं से पूर्णतया घिर चुकी थी। सामंतवादी राजनीति का प्रमुख तत्व था देश का छोटे राज्यों में विघटन, सत्ता व शक्ति का विकेन्द्रीकरण तथा शक्तिशाली केन्द्रीय शक्ति का अभाव। इसका परिणाम विदेशी शक्तियों के भारत पर सफल आक्रमण के रूप में सामने आया। इन सबके मूल में 'भूमिदान' की परम्परा को आरोपित कर सकते हैं, क्योंकि भूमिदान की प्रवृत्ति ने ही सामंतवाद को जन्म दिया। गुप्तकाल से ही ब्राह्मणों व अधिकारियों को भूमिदान देने की प्रवृत्ति उभरने लगी थी। जो भूमि ब्राह्मणों को दान में दी जाती थी उसे 'ब्रह्मदेय' कहा गया। भूमिदान सम्बन्धी सर्वप्रथम उल्लेख शक–सातवाहन

---

1. अर्थशास्त्र, III.1.38
2. अग्नि पुराण, 253.3–4

के लेखों में मिलता है। गुप्तकाल से दान में दी गयी भूमि में स्थित चरागाहों, खानों, निधियों, विष्टि (बेगार) आदि राजस्व के समस्त साधनों को दानग्राही को सौंप देने की प्रथा आरंभ हुई। वाकाटक नरेश प्रवरसेन (5वीं शताब्दी) की चमक प्रशस्ति से इसकी सूचना मिलती है। प्रो. शर्मा का विचार है कि भारत में सामंतवाद का उदय, राजाओं द्वारा ब्राह्मणों और प्रशासनिक तथा सैनिक अधिकारियों को भूमि तथा ग्राम दान में दिये जाने के कारण हुआ।[1] गणेश पुराण में उल्लिखित तथ्यों पर गौर करें तो स्पष्ट होता है कि उसमें भूमिदान व ग्राम दान के प्रसंग बहुतायत से हैं।[2] किसी गणतांत्रिक शासन व्यवस्था का उल्लेख तो नहीं है लेकिन शासन की विशिष्टता में राजतंत्रात्मक प्रणाली के साक्ष्य प्राप्त होते हैं।[3] राजा, मंत्री[4] शासन की आनुवांशिक परम्परा[5] आदि राजतंत्रीय शासन व्यवस्था को ही सिद्ध करते हैं। गणेश पुराण में सोमकान्त के पुत्र हेमकण के संदर्भ में उल्लेख मिलता है कि वह धर्म में संलग्न, यज्ञ करने वाला, दान देने वाला तथा त्यागी राजा था।[6]

इत्युक्त्वा पूजयामास तं कलाधर मादरात्।

ददौतस्मै दश ग्रामान् गोवस्त्र भूषणानि च।।

इसके अतिरिक्त राजा के गुणों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[7]

सौराष्ट्रे देवनगरे सोमकांतोऽभवन्नृपः।

देवशास्त्रार्थ तत्वज्ञो धर्मशास्त्रार्थ तत्परः।।

एक स्थल पर कहा गया है कि कुशा का आसन न रुद्राक्ष की माला धारण करना राजधर्म नहीं है। राजा को अपने शत्रु पर कभी दया नहीं करनी चाहिये। जैसे रोग का विनाश अनिवार्य है, उसी प्रकार शत्रु पर भी निर्दयता दिखानी चाहिये।[8]

राजा पुत्रं प्रोवान्न धर्मतः, अमात्यानां सुधर्मायाः पुत्रस्य वचनामृतम्।

---

1. शर्मा, आर. एस., पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ. 4
2. गणेश पुराण, 1.6.5, 'दुर्गमत्व' गतो दैवात् पुत्रे राज्यं निवेश्य सः।' – 1.3.48, – 'कारथित्वा मंत्र घोषैराभिषेकं सुतस्य सः।'
3. गणेश पुराण, 1.1.37 गजायुत बलो धीमान विक्रमी शत्रुतापनः।
4. वही, 1.3.38 एवमासीत्सोमकांतः पृथिव्यां राजसत्तमः।।
5. वही, 2.119.12
6. वही, 1.4.25, 1.26.22, 1.51.40–41 आदि
7. वही, 1.1.23
8. वही, 1.1.27

सभा में आने वाले हर व्यक्ति का, चाहे वह साधु हो या असाधु, सुन्दर हो या असुन्दर, बलवान हो या दुर्बल सम्मान करना चाहिये। यही सनातन नीति है। जिस सभा में ऐसा नहीं है, वह सभा व्यर्थ है। यह राजा का धर्म ही नहीं है, अपितु सभासदों का भी धर्म है।[1] राजा के रूप में स्वयं के संदर्भ में सोमकान्त कहता है कि उसने साधुओं को, दीनों को, श्रुतियों को पुत्रवत पाला। राज्य की प्रजा को पुत्रवत रखा और इस तरह सारी पृथ्वी को वश में कर लिया।[2]

इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि जैसे तेल के बिना दीपक और प्राण के बिना शरीर मृत होता है, धर्म का पालन करने वाले राजा के बिना राज्य की भी वही अवस्था होती है।[3] अन्यत्र उल्लिखित है कि जिससे कभी बैर हो गया हो, उस पर विश्वास न करें। तभी राष्ट्र की वृद्धि होती है। शत्रु अगर आपद्ग्रस्त है तो उस पर आक्रमण करना अधर्म है। गुप्तचर राजा की आँख होते हैं, दूत मुख होता है। गणेश पुराण में उल्लेख प्राप्त होता है कि शासक का दण्ड सदैव तैयार रहना चाहिये। दण्ड के भय से ही लोग अपने कर्तव्य में स्थिर रहते हैं। इसके बिना अपने–पराये का निर्णय नहीं हो सकता।[4]

दंडस्यैव मया लोकाः स्वे–स्वे धर्मे व्यवस्थिताः।

अन्यथा नियमो नस्या त्पारक्य स्वीय मित्यदः।।

इस तथ्य से अनुमान किया जा सकता है कि राज की प्रमुख न्यायाधीश रहा होगा तथा राज्य कार्य में दण्ड विधान की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी। अधार्मिक व्यक्ति की निन्दा–प्रशंसा का कोई अर्थ नहीं है।[5] यदि किसी से अपराध हो गया तो और वह शरण में आये तो उसकी रक्षा करनी चाहिये।[6] गणेश पुराण में 'मंत्रगुप्ति' शब्द का उल्लेख हुआ है। राजा को सदैव मंत्रगुप्ति करनी चाहिये, क्योंकि राजा व शासन उसी से

---

1. गणेश पुराण, 2.111.8–10
2. वही, 1.2.8
3. वही, 1.2.13
4. गणेश पुराण, 1.3.32., 1.3.34
5. वही, 1.3.35
6. वही, 1.3.36

दीर्घकाल तक चलता है।[1]

मंत्रगुप्तिः सदा कार्यातन्मूलं राज्यमुच्यते।

मंत्रगुप्ति से तात्पर्य–किसी निर्णय के संदर्भ में मंत्रियों से की जाने वाली मंत्रणा या मशविरे से है। राजा के लिये काम के अतिरिक्त अन्य पाँच शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य बताया गया है।[2]

कामादि षड्रिपून् हित्वा ततोऽन्यान् विजयीत च।

राजा के गुणों का वर्णन करते हुये गणेश पुराण में उसे किसी के वृत्तिच्छेद, प्रजाच्छेद, देवच्छेद, आराम चैत्यछेद से रोका गया है।[3]

वृन्तिच्छेद प्रजोच्छेदं देवाच्छेदमेव च।

आराम चैत्योच्छेदं न कुर्या त्रृपसत्तमः।।

ब्राह्मण को ऋण से तथा गाय को कीचड़ से मुक्त करना राजा का धर्म बताया गया है।[4] राजा को यह निर्देश दिया गया है कि उसे अपने व्यवहार से मंत्रियों, प्रजा तथा द्वारसेवकों का मन प्रसन्न रखना चाहिये।[5] राजा के महत्व का प्रतिपादन भी हुआ है। 'प्रजावत्सल' राजा के बिना नगर वैसे ही शोभाविहीन रहता है जैसे तारों के रहने पर भी चन्द्रमा के बिना आकाश अंधकार में रहता है।[6] राजा के चुनाव के संदर्भ में गणेश पुराण में एक उल्लेख प्राप्त होता है कि कौण्डिन्यनगर के शासक चन्द्रसेन की मृत्यु होने पर उसके निःसंतान होने के कारण उसके विशिष्ट हाथी द्वारा रत्नों की माला जिसके गले में डाली गयी वही राजा बनाया गया।[7]

योगे चारूफले जने च नगरे नानाविधे मेलिते।

मालां रत्नमयी ददौ नरपते राज्ञी करेणो।।

संप्रार्थ्य द्विरदं कुरूष्व नृपतिं लोकेषु यस्ते मतः।

---

1. गणेश पुराण, 1.3.37
2. वही, 1.3.37
3. वही, 1.3.37
4. वही, 1.3.40
5. वही, 1.3.41
6. वही, 1.2.17
7. गणेश पुराण, 1.26.1–2

उपर्युक्त विवरण का ऐतिहासिक अनुशीलन दो दृष्टियों से किया जा सकता है। प्रथमतः यह विवरण तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था का यथार्थ चित्रण माना जा सकता है, द्वितीयतः यह पारम्परिक विवरण अर्थात् पुरातन परम्पराओं की पौराणिक पुनरावृत्ति मात्र हो सकती है। हाथी द्वारा माल्यार्पण की पद्धति से राजा के चुनाव की कथा लोक विश्वास एवं लोक मान्यताओं को प्रतिबिम्बित करती हैं, न कि वास्तविक राजनीतिक यथार्थ को। राजनीतिक दृष्टि से यह नितांत अव्यवहारिक लगता है।

राज्याभिषेक के अवसर पर भव्य आयोजन किया जाता था। पताका तथा ध्वज लगाये जाते थे। नगर को सजाया जाता था। राजा के रथ के आगे मंत्री चलते थे तथा नगरवासी व अप्सरायें नृत्य करते हुये मंत्रियों के आगे चलते थे।[1]

वंशपरम्परा का उल्लेख भी गणेश पुराण में है जो कि पुराणों व उपपुराणों के पंचलक्ष्यों में प्रमुख है। इसमें राजा दक्ष की वंश परम्परा का आंशिक उल्लेख है। दक्ष के वृहद्भानु नामक पुत्र हुआ। वृहद्भानु से खड्गधर तथा सुलभ दो पुत्र हुये। सुलीा से पद्माकर, पद्माकर से वपुर्दीप्ति तथा उससे चित्रसेन, चित्रसेन से भीम उत्पन्न हुये।[2] भीम को राजा के रूप में पाकर प्रजा वैसे ही प्रसन्न हुई जैसे पति पाकर पत्नी या दृष्टि प्राप्त कर दृष्टिहीन प्रसन्न होता है।[3]

गणेश पुराण में विभिन्न स्थलों पर 'अमात्य' शब्द का उल्लेख आता है। साथ ही मंत्रियों व श्रेणी मुख्यों के सहयोग से राज्य चलाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

अमात्ययुक्तः शाधित्वं पुत्रवत्याखिलाः प्रजाः।

इसमें मात्र ब्राह्मण ही नहीं अपितु मंत्रियों को भी भूमि दान देने की परम्परा का उल्लेख है जो निश्चयताः पूर्व मध्यकालीन प्रवृत्ति की ओर इंगित करता है।[5]

अमात्येभ्यो ददा वन्यान्ग्रामान्बहु धनान्यपि।

ब्राह्मणों को भूमिदान देने की प्रथा का बहुतायत में उल्लेख प्राप्त होता है।[6] इस

---

1. वही, 1.26.10–11
2. वही, 1.26.27–28
3. वही, 1.27.6–7
4. वही, 1.2.29
5. वही, 1.4.4
6. वही, 1.41.25

भूमिदान की प्रथा ने पूर्व मध्यकाल के सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक स्थिति को महत्वपूर्ण स्तर पर प्रभावित किया। क्योंकि कालान्तर में यही दानग्राही सामंत स्वतंत्र शासक बन गये। फलतः केन्द्रीय शक्ति कमजोर हो गयी व बाह्य आक्रमणकारियों ने इसका लाभ उठाते हुये भारत पर आक्रमण किया। पूर्व मध्यकाल में राजनैतिक दशा बहुत कुछ राज्यों के आपसी सम्बन्ध पर निर्भर थी। राजाओं में परस्पर युद्ध तो होते ही थे, विदेशी जातियों से भी उन्हें युद्ध करना पड़ता था। राजनैतिक दृष्टि से यह संक्रमण का काल था। विदेशी जातियों के शासन की स्थापना के फलस्वरूप देश के सामाजिक तथा राजनैतिक स्वरूप में बदलाव आया। राज्यों की सुरक्षा की नींव युद्धों पर ही टिक गयी थी। राजाओं के बीच आंतरिक युद्ध से देश की स्थिति प्रभावित थी। गणेश पुराण युद्धों तथा हथियारों से सम्बद्ध अनेक विवरणों का उल्लेख करता है।

यहाँ वर्णित है कि दैत्य ने चतुंरगिणी सेना को युद्ध के लिये आज्ञा दी।[1]

आजान्पयच्च युद्धाय स्वसेनां चतुरंगिणीम्।

इस सेना का जैसा उल्लेख है उससे ऐसा अनुमानित होता है कि उस समय सेना के अन्तर्गत रथ, हाथी, अश्व तथा पैदल सैनिक–ये चार अंग थे।[2]

युद्ध का भी इसमें जीवन्त चित्रण किया गया है। जैसे कि जब दोनों सेनायें मिलीं तो पृथ्वी पर धूल का अंधड़ छा गया। अपने–पराये का ज्ञान नहीं रहा। सैनिक एक–दूसरे पर प्रहार करने लगे। योद्धा, हाथी–घोड़े आदि की नदी बहने लगी। उनके केश शैवाल की भाँति थे। खड्ग मछली जैसे लगते थे। योद्धाओं के सिर कमल की तरह काँप रहे थे। छत्र आवर्त जैसे बन गये थे तथा कबन्ध टूटे हुये वृक्षों के समान बह रहे थे।[3] एक अन्य वर्णन में कहा गया है कि रथारूढ़ रथियों के साथ, गजारूढ़, गजारूढ़ों के साथ, अश्वारोही अपने सदस्यों के साथ व पदाति पदातियों के साथ उस घोर संग्राम में रत हो गये।[4]

एक स्थल पर वर्णित है कि युद्ध के समय कामधेनु के शरीर पर प्रहार होने से

---

1. गणेश पुराण, 1.42.16
2. वही, 1.42.28, 1.43.6
3. वही, 1.42.31–32
4. वही, 1.43.6

सैनिक उत्पन्न होने लगे। उसके केशों से शक जातियों तथा कुछ यवन जातियों के वीर उत्पन्न हुये। ज्ञातव्य है कि कल्पना पर आधारित प्रसंग होने के बावजूद शक तथा यवन जातियों का उल्लेख विदेशी जातियों के रूप में हुआ है।[1]

सन्नद्धाः सर्व शस्त्राद्या नानावीराः विनिः सृताः।

शकाच्च बर्बरा आसस्तस्या केशानमुद्रभवाः।।

पटच्चराः पाददेशा देवं सर्वे प्रजज्ञिरे।

नानायवन जातीया नावीरां स्तथाऽपरे।।

गणेश पुराण में अन्यत्र युद्ध का वर्णन करते हुये चतुरंगिणी सेना के विस्तार का अत्यंत सजीव चित्र खींचा गया है तथा हथियारों में खड्ग, कवच, पाषाण, पाश, मुसल, परशु, गदा, चक्र का वर्णन किया गया है।[2]

शत्रु विजय के वर्णन से पता चलता है कि राजा को जीत लेने पर सेना को जीता जा सकता है। दुर्ग को जीतने पर नगर स्वयं विजित हो जाता है।[3] युद्ध के अन्तर्गत चक्रव्यूह रचना का भी वर्णन मिलता है जिसे गणेश की आठ सिद्धियों ने बनाया था।[4] युद्ध के ही अन्तर्गत देवांतक द्वारा प्रयुक्त दो बाणों का उल्लेख मिलता है—निद्रास्त्र तथा गंधर्वास्त्र। इनसे शत्रुपक्ष निद्रालीन हो जाता था तथा संगीत से मंत्रमुग्ध हो जाता था।[5] इसी प्रकार घटास्त्र तथा खगास्त्र का भी उल्लेख मिलता है।[6]

युद्ध तथा हथियारों के संदर्भ में कल्पना का मिश्रण होने के बावजूद उस काल में व्याप्त राजनैतिक अस्थिरता तथा आंतरिक संघर्ष का बोध होता है।

गणेश पुराण और तत्कालीन अर्थव्यवस्था

गुप्तकाल के पश्चात् राजनैतिक उथल—पुथल के कारण व्यापार—वाणिज्य का पतन हुआ। 600—1000 ई. के मध्य व्यापारिक संघों की मुहरें नहीं मिलतीं। सिक्के मिश्रित

---

1. गणेश पुराण, 1.79.16—17
2. वही, अध्याय, 56, 79
3. वही, 2.57,46 जितेप्रजौ जिता सेन जिते दुर्गे जितपुरम्
4. वही, 2.63.11
5. वही, 2.68.1
6. वही, 2.68.63

धातु के एवं भद्दे आकार के मिलते हैं। स्पष्ट है कि इस समय तक वाणिज्य पर आधारित अर्थव्यवस्था का पतन हो गया था। अहिछत्र तथा कौशाम्बी जैसे नगरों की खुदाई और ह्वेनसांग के विवरण से प्रमाणित होता है कि उत्तर भारत के अनेक नगर वीरान हो चुके थे। नगरीय जीवन के ह्रास के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था मुख्यतः भूमि और कृषि पर निर्भर हो गयी। कृषि के प्रति समाज का दृष्टिकोण बदलने लगा। भूमि तथा कृषि के प्रति इस परिवर्तित दृष्टिकोण के फलस्वरूप विभिन्न वर्गों के लोगों ने अधिकाधिक भूमि प्राप्त करने का प्रयास किया। फलतः समाज में भूसम्पन्न कुलीन वर्ग का उदय हुआ। इस अर्थव्यवस्था का विवरण हमें गणेश पुराण में स्थान–स्थान पर प्राप्त होता है। इसमें मंत्रियों,[1] ब्राह्मणों[2] व आचार्यों[3] को भूमिदान करने के लिये प्रोत्साहित किया गया है।

भूदान के कारण भूस्वामियों को अपने खेतों पर कार्य करने के लिये श्रमिकों की आवश्यकता हुई तथा बहुसंख्यक शूद्र तथा श्रमिक जीविका हेतु उनकी ओर उन्मुख हुये। इस प्रकार शूद्रों का खेती से सम्बन्ध जुड़ा। आर्थिक क्षेत्र में इन भूमि अनुदानों के कारण पनपे सामंतवाद ने अन्य प्रभाव भी डाला। विभिन्न सामंती इकाइयाँ आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों में परिवर्तित हो गयीं। जिससे स्थानीयता की प्रबल भावना ने जन्म लिया। इस कारण व्यापार–वाणिज्य का ह्रास हुआ। किन्तु 1000–1200 ई. के कालखण्ड में नगरीकरण दिखायी देता है। व्यापार तथा वाणिज्य का प्रचलन पुनः बढ़ गया। सर्वप्रथम भू स्वामित्व व सामंतवाद पर आधारित तत्वों का गणेश पुराण में कहाँ–कहाँ निदर्शन प्राप्त होता है, यह द्रष्टव्य है। राजा तथा सामंत सरदार धर्म–कर्म से संबंधित व्यक्तियों, समूहों, संस्थाओं तथा सरकारी अमलों को बड़े पैमाने पर भूमि तथा राजस्व के अधिकार दान करने लगे थे तथा उनके प्रशासनिक अधिकार भी दानभोगियों को ही सौंप देते थे। दानभोगियों को राजस्विक तथा प्रशासनिक अधिकार देने का परिणाम यह हुआ कि उन पर केन्द्रीय सत्ता का दबाव नाममात्र ही रहा। भूमिदान तथा उपसामंतीकरण के फलस्वरूप व्यापक स्तर पर भूमि तथा सत्ता का असमान वितरण हुआ तथा ऐसे सामाजिक समूहों तथा स्तरों का जन्म हुआ जो

---

1. गणेश पुराण, 1.4.4
2. वही, 1.26.22
3. वही, 1.51.40–41

तदयुगीन व्यवस्था से अलग थे। गणेश पुराण में भूमिदानों[1] व ग्रामदानों[2]

प्रवालगणपश्चेति तस्य नाम दधुद्विजाः।

ददौ ग्रामान् ब्राह्मणेभ्यः पूजायै स्थापिताश्च ये।।

के बहुतायत में उल्लिखित साक्ष्य यह सिद्ध करते हैं कि उस काल में अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान रही होग। एक स्थल पर उल्लिखित है कि पूजन करके दस गाँव तथा भूषण प्रदान किये। अनेक मुक्तामणि, मूल्यवान वस्तुएँ, दास–दासी, घोड़े वाले रथ तथा सोने–चाँदी से मढ़े यान दान में दिया।[3]

कर व अर्थव्यवस्था के संदर्भ में एक अन्य तथ्य उल्लेखनीय है। एक कुशल राजा के विभिन्न गुणों व विशिष्टताओं का वर्णन करने के पश्चात् यह उल्लेख हुआ है कि वह प्रजा से षष्टांग कर लेता था।[4]

यज्वा दानप्रदो नित्यं स्वाध्याय परमोरिहा।

आख्याता सर्वधर्माणां प्रजानां पालने रतः।।

षष्ठांश भागी लोकानां मान्या; प्रियतरोपि च।

अतः उस काल में षष्टांग कर प्राप्ति की स्थिति आदर्श मानी जाती रही होगी। यह तथ्य पारम्परिक कर विधान को ही प्रतिम्बित कर रहा है। एक प्रसंग में ब्राह्मण को ग्राम दान करके उसे मंदिर की पूजा हेतु नियुक्त करने का भी वर्णन हुआ है जो पारिश्रमिक के रूप में ग्रामदान की प्रवृत्ति को इंगित करता है।[5]

तत्रैक ब्राह्मण स्थाप्य ग्रामं दत्वा धनानि च।

त्रिकालं पूजनै तस्य कारयामास तेनसः।।

पूर्व मध्यकालीन अनेक अभिलेखों में 'सर्वोपरि करादान', 'सर्वकर समेतः' तथा 'सर्वाय समेत' आदि शब्दों का प्रयोग है जिससे यह ज्ञात होता है कि पूर्व मध्यकाल में दान भोगी सभी प्रकार के उपभोग का अधिकारी बन गया था। उसे उचित–अनुचित तथा नियत–अनियत कर वसूलने का अधिकार प्राप्त हो गया था। गुप्तोत्तर काल के कतिपय

1. गणेश पुराण, 1.26.22
2. वही, 1.50.40–41, 1.73.22
3. गणेश पुराण, 1.41.25–27
4. वही, 2.155.34
5. वही, 2.31.24

अभिलेखों में दान प्राप्त करने वाले को दान से प्राप्त भूमि पर से पुराने किसानों को हटाकर नये किसानों को बसाने का अधिकार उल्लिखित है। इसी प्रकार के उल्लेख चोल राजवंश के दानपत्रों में भी हैं। इन अधिकारों के कारण दानभोगी न केवल आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहता था बल्कि प्रशासनिक स्तर पर भी उसकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी।

आर्थिक व्यवस्था से ही जुड़ा एक अन्य अन्य क्षेत्र श्रेणी व्यवस्था का है, जिसका उल्लेख प्राचीन काल से ही मिलता है। गुप्तकाल तक समाज, अर्थव्यवस्था व राजनीति के क्षेत्र में श्रेणियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। पूर्व मध्यकाल तक आते–आते जब व्यापार–वाणिज्य का ह्रास हुआ तथा गतिहीन अर्थव्यवस्था का स्वरूप उभरा तो ऐसे में श्रेणियों की स्थिति भी कमजोर हुयी। किन्तु ग्राम आत्मनिर्भर थे, वहाँ उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं के लिये ही होता था। फलतः अभी भी श्रेणियों का महत्व कम नहीं हुआ होगा। क्योंकि शिल्प और उद्योग अब भी उन्नत थे। किन्तु मात्र स्थानीय स्तर पर श्रेणियाँ एक ही व्यवसाय करने वाले लोगों का संगठन होती थीं।

10वीं शताब्दी के कमन शिला अभिलेख में काम्यक में रहने वाले कुंभकार, मालाकार तथा शिल्पियों की पृथक–पृथक श्रेणियों का उल्लेख है। गाहरवाल नरेश गोविंदचन्द्र के वेल्का अभिलेख में पान उगाने वालों के गाँव का उल्लेख है। कलचुरी सोढ़देव के काहला अभिलेख से पता चलता है कि विभिन्न व्यवसाय करने वाले लोगों की बस्तियाँ नगर के विभिन्न भागों में थीं। श्रेणियों के मुखिया को अभिलेखों में 'महत्तक' या 'माहर' कहा गया है। जातकों में उन्हें 'श्रेणीमुख' या प्रमुख कहा गया है। ग्वालियर के वैटलभट्ट स्वामिन् अभिलेख में तीन तेलिक श्रेणियों का उल्लेख है। उसमें मुख्यों की संख्या चार, दो और पाँच है। ये मुख्य ही इन श्रेणियों में कार्य चिंतक थे, जो श्रेणी के सदस्यों का समय–समय पर मार्ग निर्देशन करते रहते थे।

माना जाता है कि पूर्व मध्यकाल में श्रेणियों का देश की आर्थिक व्यवस्था में उतना महत्व नहीं था जितना कि पूर्व काल में था। अब उनके पास स्थायी पूँजी धार्मिक कार्यों के लिये जमा नहीं की जाती थी, क्योंकि उन्हें स्थायी संस्था नहीं समझा जाता था। इसके कई कारण माने जा सकते हैं। सामंतीय सुद्धों से उत्पन्न उपद्रवों के कारण श्रेणियों के स्थिर होने या स्थायी संस्था बनने हेतु कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। दानियों द्वारा स्थायी

पूँजी के लिये मंदिर प्रतिद्वन्द्वी संस्था के रूप में आ गये। मंदिर संस्थाओं को अधिक विश्वासजनक माना गया। सामंती पद्धति की वृद्धि के कारण आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का भी विपरीत असर पड़ा। संभव है, सामंत प्रथा की वृद्धि के कारण श्रेणियों की अर्थव्यवस्था पर कुछ प्रभाव पड़ा हो।

गणेश पुराण में विभिन्न स्थलों पर श्रेणी का प्रमुख उल्लेख आता है।[1]

रुरुदुः सुस्वरं सर्वे पतिता भुवि केचन।

श्रेणी मुख्यास्ततः प्रोचुः सोमकान्तः कृपानिधानम्।।

श्रेणी प्रमुखों को राजा द्वारा पुत्र के अभिषेक के आयोजन में बुलाया गया है। उस समारोह में वेदविज्ञ ब्राह्मण, दूसरे राजा व उनकी पत्नी व मित्रों को भी बुलाया गया है। निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि श्रेणी प्रमुख सामाजिक स्तर पर अच्छी स्थिति में होंगे।[2]

आव्हयामास नृपति श्रेणी मुख्याश्चनागरान्।

जबकि एक अन्य स्थल पर श्रेणी प्रमुख द्वारा लोगों के साथ राज्य का शासन चलाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

ममानु शासनं यद्कृतं नीति विशारदैः।

तथाऽस्य शासनं कार्य श्रेणी मुख्य समन्वितैः।।

संभवतः व्यापार और वाणिज्य की दृष्टि से भी यह काल परिपुष्ट होने लगा रहा होगा, तथी श्रेणियों का महत्व भी बढ़ा होगा।

आर्थिक पक्ष के अन्तर्गत ही उत्पादन तथा व्यापार–वाणिज्य का भी उल्लेख आवश्यक है। गणेश पुराण में अनेक ऐसी वस्तुओं का उल्लेख है जिन्हें शुभ अवसरों पर प्रयोग किया जाता था। ताम्बूल तथा शर्करा बाँटने का उल्लेख कई जगह मिलता है।[4] इस तथ्य से अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय ताम्बूल (पान) तथा गन्ने का उत्पादन प्रचुर मात्रा में होता रहा होगा। सर्वसहज उपलब्धता के कारण जनता में इनका प्रयोग

---

1. गणेश पुराण, 2.153.11
2. वही, 1.30.50
3. वही, 1.3.45
4. वही, 1.26.8; 1.72.29

बहुतायत में होता था।

गणेश पुराण में एक अन्य स्थल पर उल्लिखित है कि गणेश की पूजा के समय किन–किन वस्तुओं का प्रसाद चढ़ाना चाहिये। कहा गया है कि सुपारी का चूर्ण, कत्था, इलायची, लौंग तथा केसर से मिला ताम्बूल (पान), आम, कटहल, दाख (किशमिश), केला आदि लाना चाहिये।[1] गन्ने (इच्छुदण्ड) से उत्पन्न शर्करा, गुड़ समर्पित करना चाहिये।[2]

अनार, नींबू, जामुन, आम, किशमिश, केला, खजूर (छुहारा), नारियल, नारंगी आदि फल समर्पित हैं।[3]

दाडिमं मधुरं निम्बु जंबूवाम्रपनसादिकम्।

द्राक्षारंभा फलं पक्क कर्कन्धूः खार्जुरः फलम्।।

नारिकेलं च नारिंग मांजिर जम्बिरं तथा।

हाथ साफ करने के लिये चंदन का चूर्ण समर्पित है।[4]

इन वस्तुओं के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि उस क्षेत्र विशेष में इनकी उपलब्धता रही होगी। क्षेत्र विशेष में उत्पादन की दृष्टि से इन सभी फसलों की प्रचुरता रही होगी। गणेश पुराण में उल्लिखित वस्तुओं की उपलब्धि से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्थिक अवस्था में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

एक अन्य स्थल पर विचार करना अनिवार्य है और वह है, मुद्रा से सन्दर्भित प्रसंग। गणेश पुराण में कहीं भी दान, दक्षिणा, व्यापार या अनुष्ठान के प्रसंग में किसी भी प्रकार की मुद्रा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। यद्यपि स्वर्ण दान, भूदान, गोदान, अन्न दान आदि का उल्लेख मिलता है। डा. राम शरण शर्मा तथा अन्य विद्वानों ने 600–1000 ई. तक का काल व्यापार–वाणिज्य के ह्रास का काल माना है।[5] जिसमें मुद्रा का अभाव था। गणेश पुराण में एक मात्र स्थान पर मुद्रा का उल्लेख प्राप्त होना।[6] उपर्युक्त विचारधारा को पुष्ट करता होता है। किन्तु हाजरा महोदय ने गणेश पुराण की तिथि 1100–1400 ई. के

---

1. गणेश पुराण, 1.49.16
2. वही, 1.49.34–35
3. गणेश पुराण, 1.49.54–55
4. वही, 1.49.60
5. शर्मा, आर. एस., पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ. 48
6. गणेश पुराण, 1.87.7

मध्य स्वीकार की है।[1] डॉ. शर्मा आदि विद्वानों ने माना है कि 1000–1300 ई. के मध्य व्यापार–वाणिज्य का विकास हुआ, नगरीकरण की प्रक्रिया प्रबल हुयी तथा सामन्तवादी प्रवृत्तियों में शैथिल्य आया।[2] इन तथ्यों के आलोक में गणेश पुराण में मुद्राओं का उल्लेख न मिलना, इसकी तिथि निर्धारण में कुछ सहायक हो सकता है। जे. एन. फर्क्युहर ने गणेश पुराण की तिथि 900–1350 ई. बतायी थी।[3]

किंतु तिथि निर्धारण के लिये एकांगी पक्ष को आधार नहीं बनाया जा सकता। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि गणेश पुराण में मिश्रित अर्थव्यवस्था का स्वरूप प्राप्त होता है जिसमें कृषि, उद्योग, व्यापार, श्रेणी आदि का प्रसंगतः उल्लेख है।

पौराणिक देव समुदाय में गणपति का बढ़ता हुआ प्रभाव उस कालखण्ड में दिखायी पड़ता है, जिसे ऐतिहासिक विवेचनों में विनगरीकरण, सामंतवाद तथा व्यापार–वाणिज्य में अधःपतन के साथ जोड़ा जाता है। यह उल्लेखनीय है कि ब्राह्मणवादी परम्परा में गणेश की गणना शिव के परिवार देवता के रूप में सीमित रही। इसके विपरीत वणिक समुदाय में गणपति प्रधान देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुये। यह परम्परा केवल तथाकथित ब्राह्मण धर्मों को मानने वाले वणिक समुदाय तक सीमित नहीं रही अपितु जैन समुदाय में भी गणेश की पूजा का प्रचलन प्रधान परम्परा के रूप में दिखायी देता है।[4] जैन धर्म का प्रभाव पूर्व मध्यकाल में गुजरात, राजस्थान तथा समीपवर्ती क्षेत्रों में व्याप्त था। पूर्व मध्यकाल में गणेश का जो विकास हो रहा था वह वस्तुतः कुबेर व मणिभद्र की ही परम्परा की निरंतरता है। विद्वानों के अनुसार 1000 ई. के बाद उत्तर भारत में व्यापार वाणिज्य का विकास, श्रेणियों, तथा निगमों की महत्ता, सिक्कों के बाहुल्य आदि अनेक नवीन आर्थिक तत्व दिखायी देते हैं। दक्षिण भारत में चोलों के नेतृत्व में व्यापार–वाणिज्य का बहुत विकास हुआ। इस पृष्ठभूमि में यदि गणेश पुराण में संपादित गाणपत्य सम्प्रदाय की विवेचना की जाये तो यह स्पष्ट होता है कि व्यापार एवं वाणिज्य के संरक्षक देवता के रूप में गणपति की प्रतिष्ठा 1000–1300 ई. के बीच हुयी। इस बात की पुष्टि गाणपत्य सम्प्रदाय के क्षेत्रीय विस्तार से

---

1. हाज़रा, आर. सी., द गणेश पुराण, वही, पृ. 97
2. शर्मा, आर. एस., वही. पृ. 52
3. हाज़रा, आर. सी., वही, पृ. 97
4. नंदी, आर. एस., सोशल रूट्स एण्ड रिलिजन इन इंडिया, पृ. 24

भी होती है। महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक, चोलों के अधीन दक्षिण भारत के क्षेत्र, गंगा की घाटी में काशी गाणपत्य सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्रों के रूप में सामने आये। इन क्षेत्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध व्यापार–वाणिज्य से है।

गणेश पुराण में एक प्रसंग ऐसा है जिससे गणेश के व्यापार से सम्बद्ध होने की परम्परा का साक्ष्य मिलता है। राजा सोमकांत कुष्ठ रोग से ग्रस्त था। भृगु ऋषि ने उसे बताया कि इस रोग का कारण उसके पूर्व जन्म का कर्म है, जिसमें वह वैश्य था तथा कालान्तर में वह लुटेरा बन गया था। विभिन्न प्रकार के पापों के अतिरिक्त वह ब्राह्मणों की हत्या भी कर देता था। वृद्धावस्था में, जब वह बीमार और अकेला रह गया तब उसने अपना धन ब्राह्मणों को देना चाहा, जिसे लेने से ब्राह्मणों ने इनकार कर दिया। तब ब्राह्मणों के ही मशविरे पर उसने अपने धन का उपयोग एक पुराने गणपति मंदिर के जीर्णोद्धार में किया। तत्पश्चात् उसकी मुत्यृ हो गयी।[1] इस आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्पन्न वणिक गणेश मंदिरों के जीर्णोद्धार में धन का उपयोग करते रहे होंगे, जिससे गणेश का वैश्य वर्ग व अपरोक्षतः व्यापार से सम्बन्ध बना होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गणेश पुराण में पूर्व मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था की विशिष्टताओं का संकेत स्थान–स्थान पर प्रस्तुत किया गया है।

---

1. गणेश पुराण, 1.8.21

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

गणेश पुराण में धार्मिक एवं दार्शनिक तत्व

धार्मिक–तत्व

भारतीय संस्कृति में धर्म अतिव्यापक एवं महत्त्वपूर्ण विषय है। किसी वस्तु की विधायिका आन्तरिक वृत्ति को ही उसका धर्म कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व जिस वृत्ति पर निर्भर है, वही उस पदार्थ का धर्म है। धर्म की कमी से उस पदार्थ का क्षरण होता है तथा वृद्धि से विकास[1] धर्म ही समाज को संयमित तथा अनुशासित कर विकास के मार्ग पर अग्रसर करता है। देश तथा समाज, धर्म के विशाल आयाम में क्रियाशील रहते हैं। धर्म का व्यावहारिक महत्व कर्त्तव्य के समुचित पालन में है, जिसके माध्यम से व्यक्ति लौकिक उत्कर्ष के साथ–साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष भी प्राप्त करता है।

भारत की विशिष्टता यह रही है कि धर्म के मौलिक स्वरूप एक होने पर भी उसमें वाह्य स्तर पर परिवर्तन होते रहे हैं।[2] वैदिक देवता पुराण काल तक आते–आते अपने मौलिक स्वरूप को यथावत न रख सके। कुछ के मूल स्वरूप का लोप हो गया तथा कुछ अपने उदात्त स्वरूप से च्युत होकर सामान्य रूप में आ गये।

यह इतिहास का तथ्य है कि सामाजिक परिवर्तन धर्म को भी प्रभावित करता है। मध्यकालीन धार्मिक व्यवस्था भी सामाजिक परिवर्तनों से प्रभावित थी। सामंती व्यवस्था सम्पूर्ण क्षेत्र में फैली हुई थी जिसके फलस्वरूप धार्मिक रीति–रिवाजों में भी परिवर्तन दिखते रहे हैं। भूमि के प्रत्यर्पण तथा सामंती भाव के उदय ने पूजा तथा भक्ति को नवीन दिशा दी। पूजा तथा भक्ति ही धर्म के अभिन्न तत्व बन गये।[3] पूर्वमध्यकालीन समाज में एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता थी कि पुरोहितों तथा मंदिरों को बड़े पैमाने पर भूमिदान देना। नये क्षेत्रों में कृषि तथा बस्तियाँ आबाद करने के लिए धार्मिक प्रयोजनों से दिये गये भूमिदान महत्वपूर्ण थे। भूमिदान से मध्य प्रदेश की ब्राह्मण संस्कृति के विस्तार में नया

1. मैक्सवेवर, रिलिजन्स ऑफ इण्डिया, पृ. 52–54
2. शर्मा, आर. एस., पूर्वमध्यकालीन सामंती समाज एवं संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 1998, पृ. 78
3. नंदी, रमेन्द्र नाथ, प्राचीन भारत में धर्म के सामाजिक आधार, पृ. 11

आयाम जुड़ गया। राजनैतिक सत्ता को प्रतिष्ठित करने के लिये धार्मिक तथा वैचारिक समर्थन की आवश्यकता थी। यह समर्थन मुख्य रूप से ब्राह्मणों से मिल सकता था। जो भौगोलिक सर्वेक्षण उपलब्ध हैं उनसे धार्मिक रूप से भी प्रभुत्व स्थापित करने का यह सुगम तरीका हो सकता था। ब्राह्मणों को दिये भूमिदानों के संदर्भ में जो भौगोलिक सर्वेक्षण उपलब्ध हैं उनसे स्पष्ट होता है कि सुदूर दक्षिण के अतिरिक्त देश के अन्य भागों जैसे, असम, बंगाल, उड़ीसा, मध्य भारत, दक्षिण भारत में भी बड़े पैमाने पर भूमिदान किये गये। इस कारण समाज में ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। ऐसे समय में ही ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म का नयी दिशा में विस्तार हुआ। उसमें नवीन सिद्धान्तों तथा धार्मिक क्रियाओं का समावेश हुआ। इन धर्मों के स्वरूप में परिवर्तन आया। धार्मिक विचारों में परिवर्तन का एक प्रबल कारण तांत्रिक विचारों ने ब्राह्मण धर्म के भी विभिन्न संप्रदायों में प्रवेश किया। उनके आधारभूत विचारों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। विभिन्न धार्मिक संप्रदाय इससे एक–दूसरे से प्रभावित होने लगे। लगभग पाँचवी शताब्दी से पूजा–अर्चना तथा महायज्ञों का प्रचलन बढ़ा। पौराणिक धर्माचरण इसी समय से प्रचलित हुए। इसके साथ ही अपनी सेवाएँ सामंती प्रभु को समर्पित कर उनके प्रसाद और कृपा के रूप में राजस्विक अधिकार, भूमि तथा सुरक्षा, प्राप्त करने के बढ़ते रिवाज के अनुरूप धार्मिक क्षेत्र में पूजा की प्रथा विकसित हुई। पूजा के साथ ही भक्ति का सिद्धान्त भी सम्बन्धित था। प्रारम्भिक काल की भक्ति ऐसे स्वरूप में विकसित थी जिसमें राजा नहीं था। इस स्थिति में अधिकारियों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था। देवताओं की संख्या कम थी। तत्कालीन भक्ति का अर्थ था अपने आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण। यह एक तरह से मध्यकालीन धर्म की विशेषता बन गयी थी। पूर्व मध्यकालीन भक्ति भूस्वामियों पर रैयतों की सम्पूर्ण निर्भरता की प्रतिच्छाया थी।[1]

धीरे–धीरे पूजा तथा भक्ति, तंत्र सम्प्रदाय के अभिन्न अंग बन गये।[2] इस नये संप्रदाय का जन्म मध्य प्रदेश के बाहर आदिवासी तथा सीमावर्ती क्षेत्रों में हुआ था, जिसके मूल में ब्राह्मणों तथा कबायली लोगों के बीच होने वाला वह संपर्क तथा आदान–प्रदान था

---

1. शर्मा, हरिश्चन्द्र, मध्यकालीन भारत, 1, दिल्ली विश्वविद्यालय 1987, पृ. 45
2. झा, श्रीमाल, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय 1997, पृ. 394

जो इन प्रदेशों में बड़े पैमाने पर दिये गये धार्मिक भूमिदानों के फलस्वरूप हुआ। नये क्षेत्रों में ब्राह्मणीय प्रभुत्व को कायम रखने का उपाय यही था कि कबायली कर्मकाण्डों तथा देवी–देवताओं, विशेष रूप से मातृदेवी की, पूजा को अपना लिया जाय। इस समय नेपाल, असम, बंगाल, उड़ीसा, मध्य भारत आदि में बहुत से ब्राह्मणों को भूमिदान किये गये। इसके साथ ही इन क्षेत्रों में तांत्रिक ग्रन्थों, मंदिरों तथा रीति–रिवाजों का भी उदय हुआ। तंत्र सम्प्रदाय के धार्मिक तत्वों का समावेश जैन तथा बौद्ध धर्मों, शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में हुआ। सातवीं शताब्दी से लेकर मध्यकाल के पूरे दौर में इसका प्रभुत्व रहा।[1]

भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति, सामान्य रोगों के उपचार, मनुष्य, पशु एवं सांसारिक संपदाओं पर आने वाले संकट के निवारण हेतु जादू–टोने से सम्बन्धित कर्मकाण्डों का प्रयोग अथर्ववेद में मिलता है। किन्तु शिक्षित ब्राह्मणों तथा यजमानों द्वारा अब उनका विधिवत आयोजन किया जाने लगा। इसके फलस्वरूप कर्मकाण्ड को बढ़ावा मिला। उसका रूप विकृत हुआ।[2] वस्तुतः पूर्वमध्यकाल धार्मिक स्थिति संक्रमण की स्थिति थी, जहाँ पर अनेक विचार धाराओं का मिला–जुला रूप दिखाई देता है। अनेक संप्रदायों का उदय भी धीरे–धीरे हुआ, जिनमें अवतारवाद का विशेष स्थान है। इसका मूल प्रयोजन धर्मस्थापन तथा अधर्म का विनाश था। विभिन्न संप्रदायों के अंतर्गत वैष्णव, शैव, कापालिक, शाक्त, नाथ, गाणपत्य आदि का अभ्युदय हुआ।

गाणपत्य सम्प्रदाय के अंतर्गत गणेश की पूजा का विधान प्रचलित था। इसकी छह शाखाएँ थीं:

1. महागणपति के आराधक, जो गणपति को आदि व सृष्टिकर्त्ता मानते हैं।

2. हरिद्रागणपति के उपासक, जो गणपति के मुख और दंत की मुद्रा अपनी बाँहो पर तपाये हुए लोहे से अंकित कराते थे। इस शाखा में पीतवस्त्रधारी, यज्ञोपवीत पहने, चतुर्भुज, त्रिनेत्र, हाथ में पाश, कुश तथा दंडधारी गणेश की पूजा करते हैं।

3. उच्छिष्ठ गणपति के आराधक, तामसी और असत् कार्य करने वाले होते

---

1. बैनर्जी, जे. एन., पुराणिक एण्ड तांत्रिक रिलिजन, कलकत्ता, 1966, पृ. 7–9
2. वही, पृ. 16

हैं। जो मदिरा, मांस आदि का सेवन करते हैं तथा अपने ललाट पर लाल मुद्रा अंकित करते हैं।

4. नवनीत गणपति।

5. स्वर्ण गणपति।

6. सन्तान गणपति। अन्तिम तीन शाखाओं में आराधक गणपति की मूर्ति की प्रतिष्ठा कर, पूजन करते हैं।

गणेशोपासना का उल्लेख तत्कालीन ग्रन्थों में मिलता है। तैत्तरीय संहिता[1] में गणेश की उपासना–विधि का वर्णन है। किसी कार्य आरम्भ से पहले गणेश का आवाहन तथा स्तुतियों का उल्लेख शुक्ल यजुर्वेद, मध्यन्दिन संहिता[2] कृष्ण यजुर्वेद–मैत्रायणी संहिता[3], अथर्ववेद, गणेश पूर्वतापिनी उपनिषद्,[4] मानवगृह–सूत्र[5] आदि में मिलता है। गणेश के आह्वान के लिए शुक्ल यजुर्वेद[6] में कुछ मंत्रों का वर्णन है जिसमें विद्याविशारदों को सर्वोत्तम बताया गया है। इसमें गणेश के अग्रपूजक स्वरूप का उल्लेख किया गया है। इसमें वर्णित है कि उनकी आराधना के बिना कोई भी कार्य प्रारम्भ नहीं किया जाता। श्रीमद्भागवत पुराण में कृष्ण उद्धव को क्रियायोग का परिचय देते हुए कहते हैं कि मेरी पूजा के समय दुर्गा, विनायक, व्यास, विश्वक्सेन, गुरूदेव तथा अन्यान्य देवताओं की पूजा करनी चाहिए।[7]

दुर्गा विनायकं व्यासं विश्वक्सेनं गुरुन् सुरा।
स्वे–स्वे स्थाने त्वभि मुखान् पूज्ये प्रोक्षवादिभिः।।

गणेश पुराण में गणेश से सम्बद्ध विभिन्न मान्यताओं, तंत्रोपासना, विभिन्न संप्रदायों का प्रभाव, गणेश की उपासना विधि, व्रत, पूजा/तीर्थों आदि का विस्तृत विवेचन हुआ है। इसमें गणेश के अग्रपूजक स्वरूप को स्थापित किया गया है। हर कार्य आरम्भ

1. तैत्तरीय संहिता, 2.34.3
2. शुक्ल यजुर्वेद माध्यंदिन संहिता, 23.9
3. कृष्ण यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता, 23.9
4. अथर्ववेद–गणेशपूर्वतापिनी उपनिषद्, 1.5
5. मानव गृहसूत्र, 2.14
6. शुक्ल यजुर्वेद, 23.19
7. श्रीमद्भागवत, 11.27.29

करने से पूर्व गणेश की पूजा की जाती है।[1]

ॐकाररूपी भगवानुक्तऽसे गणनायकः।

यथा सर्वेषु कार्येषु पूज्यते ऽसौ विनायकः।।

उन्हें विघ्नकर्त्ता तथा विघ्नहर्त्ता दोनों ही रूपों में देखा जाता है।[2]

युद्धाय गन्तु कामेन गर्वितो गणपत्यस्त्वा।

अतः पराभवं प्राप्तो वह्नि नेत्रपिवाक् घृक्।।

गणेशोपासना में मंत्रों की महत्वपूर्ण भूमिका है। प्रस्तुत पुराण में वर्णित है कि आगम में गणेश के सात करोड़ मंत्र है जिनमें षडाक्षर तथा एकाक्षर मंत्र सर्वश्रेष्ठ है। इनके स्मरण मात्र से सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[3]

गणेशपूजन से पूर्व उपासक को स्नान करना चाहिए, धुले हुए दो वस्त्र पहनना चाहिए। पहले कुशा फिर मृगचर्म उसके बाद धुले हुए वस्त्र को रखकर आसन बनाना चाहिए। इस पर बैठ कर सर्वप्रथम भूमि शुद्धि, उसके बाद प्राणायाम करना चाहिए। बाहर–भीतर षोड़श मातृकाओं का सावधानीपूर्वक न्यास करना चाहिए। फिर मंत्र की उपासना करनी चाहिए। स्थिर चित्त से आपादमस्तक देवताओं का ध्यान करना चाहिए। हर भाँति के मानसिक उपचारों से समाहित होकर गणेश की पूजा का विधान है।[4] गणेश के एकाक्षर मंत्र को महामंत्रों में सर्वोच्च बताया गया है। षडाक्षर मंत्र भी यद्यपि कम महत्व के नहीं हैं।[5] सिद्धारि चक्र के योग से सिद्ध करने पर वह सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करता है।[6] इस मंत्र को सिद्ध करने की विधि का गणेश पुराण में वह वर्णन मिलता है कि सर्वप्रथम बाणाग्र से दिगबन्ध करना चाहिए, फिर भूशुद्धि और प्राणियों की शुद्धि करनी चाहिए। तत्पश्चात् प्राणों की शुद्धि (प्राणायाम) करना चाहिए।[7] षोड़श मातृकाओं का न्यास

---

1. गणेश पुराण, 1,12,6
2. वही, 1,44,14
3. वही, 1,11.3–4
4. वही, 1.11.15. वही, 1.14.39–41
5. वही, 1, 44, 21
   षडाक्षरैकाक्षरौ सर्वसंकट हारकौ।
6. वही, 1,17,34,41
7. वही, 1.18.4

और मस्तिकादि का न्यास[1]

कृत्वांतर्मातृका न्यासमाधारादि क्रमेण तु।

बह्हिश्च मातृका न्यासं मस्तकादि क्रमेण च।।

करने के उपरांत गजानन का ध्यान करना चाहिए। मन में आवाहन कर मुद्राओं का विधान करना चाहिए[2] और नाना प्रकार के द्रव्यों से षोड़शोपचार सम्पन्न हो।[3]

दैव्यै नाना विधैश्चैव षोडशेश्चौपचारकै।

उपरोक्त पुराण में प्राप्त वर्णन के आधार पर कह सकते हैं कि तत्कालीन समाज में जप, तप व देवपूजा के अतिरिक्त मंत्रों द्वारा रोग निषेध का प्रचलन भी रहा होगा। देव–यात्रा (तीर्थ यात्रा) का भी प्रचलन था।[4]

वयं च प्रयतिष्यामो मणि मंत्र महौषधौ।

तपोभिश्च जपै देवैर्पूजा यात्रा विधानतः।।

जप–तप की भी कठोर विधियों का उल्लेख गणेश पूजा के प्रसंग में मिलता है।[5]

ततः सा कमला दक्षो निर्वाण परमास्थितौ।

एकांगुलेन तपरता गणेशाराधाने रतौ।।

जैसे दक्ष व उनकी माता कमला के संदर्भ में उल्लिखित है कि दोनों ने एक अंगूठे पर खड़े होकर गणेश की आराधना की। ओंकार का पल्लव लगा और चतुर्थ छन्द लगाकर अष्ठाक्षर मंत्र का भक्ति तत्पर जप किया।[6]

देवनाम् चतुर्भ्यन्त मोंकार पल्वान्तितम्।

अष्टाक्षरं परं मंत्र जपन्तौ भक्तितत्परौ।।

---

1. गणेश पुराण, 1.18.5
2. वही, 1.18.6
3. वही, 1.18.7
4. गणेश पुराण, 1.19.4.9
5. वही, 1 20.27
6. वही, 1.20.29

वे निराहार रहते थे। उनका शरीर सूख गया।[1]

वायु भक्षौ शुष्कतनू निरिक्ष्य भगवांस्तदा।

आविरासीत्तयोरग्रे करूणाब्धि विनायकः।।

अत्यन्त कठोर तप से गजानन प्रसन्न हुए। सुवर्णों व रत्नों से बनी चार भुजाओं व तीन नेत्रों वाली अनेक अलंकारों से शोभायमान गणेश की मूर्ति की षोड़शोपचारों से पूजा करने[2] के विधान का भी उल्लेख है।

वैनायकी महामूर्ति रत्न कांचन निर्मिताम्।

चतुर्भुजां त्रिनयनां नानालंकार शोमिनीम्।

उपचारै षोडशभिः पूजयंतं विधानतः।।

तत्कालीन समाज में संभवतः नगर या ग्राम के बाहर गणेश की पूजा व मंदिर आदि बनाने का विधान भी रहा होगा।[3]

स च कालेन महता वयश्पैश्च समन्वितः।

देवपूजा रतो नित्यं ग्रामाद् बहिरयान्मदः।।

देवभक्ति में तल्लीन हो, देवस्तुति, नृत्य व गायन का भी प्रचलन था।[4]

केचिच्च ननृतुस्त्रय यथेष्टं देवभक्तितः।

केचिच्च गानकुशला जगुर्देवस्य तुष्टये।।

लकड़ी एवं पत्तों से मंडप तथा दीवार से घेरा बनाकर, गणेश मंदिर के निर्माण का उल्लेख है।[5]

केचित्काष्टैः पल्लवैश्च मंडप चक्ररोजसा।

केचिद्भिन्ति परीवेषं केचित्प्रासाद मुत्तमम्।।

गणेश पूजन में मानस पूजा के अतिरिक्त पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, फल, तांबूल,

---

1. गणेश पुराण, 1.20.30
2. वही, 1.20.10–11
3. गणेश पुराण, 1.22.13
4. वही, 1.22.16
5. वही, 1.22.17

दक्षिणा[1]

निवेद्य पुपुजस्तमै मुद्रा परमं युतः।

केचिच्च पंडिता भूत्वा पुराणान्य ब्रूयंस्तथा।।

आदि से उनके पूजन का विधान है। इस उपासना में कठोर तप का अनेक स्थलों पर वर्णन मिलता है। पैर के अंगूठे मात्र पर खड़ा होकर, नासिकाग्र पर दृष्टि टिकाकर, इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर, प्राणायाम परायण वायु मात्र का भक्षण[2]

तत्र स्नात्वा जपं चक्रे पादांगुष्टाग्राधिष्ठितः।

स्थिरेण मनसा ध्यायन्देवं विघ्नेश्वर विभूम्।

नासाग्र न्यस्तदृष्टिः सन्निरीक्षन्न दिशोदिशा।

जितेन्द्रियो जितश्वासो जितात्मा मारुताशनः।।

करना पूजन विधि का अंग था। वृक्ष से गिरे एक पत्ते मात्र का भक्षण करते हुए गृत्समद ने गणेश की उपासना की।[3]

अपरं गलितं भक्षन्नैकमेव च।

यत्नं मास्याय परम स्थातु भुक्तेऽपि निश्चलः।।

इस पुराण में यह भी उल्लिखित है कि गणेश के वैदिक मंत्र 'गणानांत्वा' के तप से न केवल सिद्धि व वरदान प्राप्त होता है, बल्कि मनुष्य का वर्ण परिवर्तन भी संभव है।[4]

त्वया यत्प्रार्थितं विप्रं तन्ते सर्व भविष्यति।

विप्रत्वं दुर्लभतरं प्रसन्नेन मयार्पितम्।।

यह उल्लेख है कि गृत्समद क्षत्रिय पुत्र थे किन्तु इस मंत्र 'गणानांत्वा' के जप से गणेश ने प्रसन्न होकर उन्हें ब्राह्मणत्व प्रदान किया। वर प्राप्त करके गृत्समद ऋषि

---

1. गणेश पुराण, 1.22.19
2. वही, 1.37.3–4
3. वही, 1.37.7
4. वही, 1.37.37

कहलाये। उनकी ब्रह्मादि देवताओं व वशिष्ठ आदि मुनियों में ख्याति हुयी।[1]

ब्रम्हादिसु च देवेषु वसिष्ठादि मुनिस्वापि।

ख्यातिं यास्यसि सर्वत्रा परं श्रेष्ठमुपागतः।।

इसी प्रकार केवट तुन्तुवान का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जो गणेश मंत्र के जप से और गणेश की तपस्या से पूजनीय हो गया। देवताओं व गंधर्वों द्वारा वंदनीय पद प्राप्त किया।[2]

वरानस्मै ददौ पश्चाद्भ त्वं मुनिसत्तमः।

इन्द्रादि देवगंधर्वैः सिद्धैर्चोर्यतमो भवः।।

त्वमेव गणनाथोऽसि पूजनीयोऽसि नोमुने।

स तु संपूज्य वान्सर्वान् प्रणम्य च विसृज्य च।।

गणेश उपासना से तत्कालीन समाज में वर्णस्थिति पर प्रभाव पड़ सकता है, ऐसा यह पुराण सिद्ध करने का प्रयास करता है। गणेश के एकाक्षर व षडाक्षर मंत्रों के अतिरिक्त उनका दशाक्षर मंत्र भी महत्वपूर्ण माना गया है। इसे सिद्धिदायक भी कहा गया है।[3]

दशाक्षरेण मंत्रेण ध्यायता बहु वासरम्।

दत्वा तस्मै वरान् देवो विधते वांछितानपि।।

विवेच्य पुराण यज्ञादि के विधि–विधान और उस युग में धर्म के अन्तर्गत यज्ञ की महत्वपूर्ण स्थिति को भी प्रतिबिम्बित करता है। कथा है कि सर्वप्रथम यज्ञकुण्ड बनाये गये। भूमि शोधन[4] के बाद देवी मण्डप बनाया गया।

यज्ञं महासमारम्भं सर्वानन्दकरं परम्।

सर्वे ते यज्ञ कुण्डानि प्राची साधन पूर्वकम्।

चक्रुश्च कारयामासूर्यज्ञ सम्भारकम्।

वेदिकामण्डपादिंश्च भूमिशोधनपूर्वकम्।।

---

1. गणेश पुराण, 1.37.38
2. वही, 1.57.45, वही, 1.57.50
3. वही, 2.28.12
4. वही, 2.30.11, वही, 2.30.12

अभ्युदय व स्वस्तिवाचन के अनंतर षोड़श मातृकाओं का पूजन किया गया।[1]

कृत्वाऽभ्युदयिकं श्राद्धं स्वस्ति वाचनपूर्वकम्।

मातृणां पूजन कृत्वा स्थापयामासरादरात्।

मंत्रैर्नानाविधै विप्राः सर्वा मण्डपदेवता।

यज्ञ आरम्भ होने पर वेद का कल्पग्रन्थों के अनुसार पशुओं का आलोघन (बलि) दी गयी। भिन्न–भिन्न मंत्रों से देवताओं की आहुति दी गयी।[2]

आलभन्त पशुं वेदकल्प वाक्यानुसारतः।

ततदेवायम् तन्मंत्रैर्जुहृति स्म विधानतः।।

यज्ञस्थल के चार द्वार थे।[3]

यज्ञवाटे चतुर्द्धारं सर्वोषामनिवारिते।

एक ओर विद्वतगण परस्पर शास्त्रों पर विवाद करते थे। कहीं अप्सरायें नृत्य करती थीं। वेदपाठी वेदपाठ करते थे। ब्राह्मणों का भोजन होता था। पौराणिक लोग पुराणों की कथा कहते थे।[4]

विवदन्ते महावादैरेकतो विदुषां जनाः।

नृत्यंत्यप्सरोऽन्यत्र पठन्ते वैदिकाः कृतः।।

गायंति वैष्णवाः शैवाः मृदंगतालबादनैः।

भुंजते ब्राह्मणः स्वेच्छा भोजनं पऽरसै क्वचित्।

वसोधरा अग्नि में डाली गयी।[5]

वसोर्धारा सुमहतीं पातयामासुरग्निषु।

यज्ञ कराने वाले दम्पत्ति और अन्य सभी औवृत्त इसके बाद स्नान हेतु गये। उस समय तरह–तरह के बाजे बज रहे थे, स्तुतिगान हो रहा था। बलि स्थान से यज्ञ स्थान

---

1. गणेश पुराण, 2.30.13
2. वही, 2.30.16
3. वही, 2.30.17
4. वही, 2.30.18–19
5. वही, 2.30.20

पर सभी आये और ब्राह्मणों को रथ, वस्त्र, गो, गज आदि का दान देकर सम्मानित किया।[1]

अनेकरत्ननिचयैधनैर्वस्त्रैरनेकशः।

गोभिरश्वैर्गजैर्गन्धैरिक्षाविषयपूरणैः।।

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि यज्ञ में बलि, स्नान, षोडशमातृका, षोडशोपचार आदि का विधान रहा होगा।

इस पुराण में मंदार के मूल से गणेश मूर्ति बनाकर उसकी स्तुति करने और षोडशोपचारपूर्वक पूजा करने का विधान है।[2]

उपासना कलेशहन्त्री सर्वकामफलप्रदाम्।

सा तदैव प्रपद्याशु मूर्ति मन्दार निर्मिताम्।।

ऐसा कहा गया है कि मंदार के मूल में गणेश का बास है। गणेश ने स्वयं ही कहा है कि मंदार के मूल से जो मेरी मूर्ति बनाकर पूजा करेगा तथा शमी पत्र व दूर्वा चढ़ायेगा, वह किसी विघ्न–बाधा एवं दरिद्रता से ग्रसित नहीं होगा।[3]

अध्प्रभृति मन्दारमूलं स्थास्यायि निश्चलः।

मृत्युर्लोके स्वर्गलोके मान्योऽयं च भविष्यति।।

मन्दार मूलैर्मे मूर्ति कृत्वा यः पूजयेन्नरः।

समीपत्रैश्च दूर्वाभिसितयं दुर्लभं भुवि।।

अनेक यज्ञों, तीर्थों, व्रतों, दान तथा नियमों से भी वह पुण्य नहीं प्राप्त होता, जो शमी के पत्र पूजन से होता है। यही पुण्य मंदार के पूजन से भी मिलता है।[4]

उभयो सा फलंदद्यान्नात्र कार्या विचारणा।

नानायाज्ञैर्न तत्पुण्यं नानातीर्थव्रतंरपि।।

दानैश्च नियमश्चैव पुण्यं तत्प्राप्नुयान्नरः।

यत्सान्मम शमीपत्रै पूजनेन द्विजोत्तमो।।

शमी के संदर्भ में एक अन्य प्रसंग है कि अग्निहोत्री लोग अग्नि प्राप्त करने के

---

1. गणेश पुराण, 2.30.24
2. वही, 2.32.30.35.34
3. वही, 2.35.18, वही, 2.35.19
4. वही, 2.35.22, वही, 2.35.23

लिये शमी काष्ठ का मंथन करते हैं।[1]

इदमेव फलं प्रोक्तं मन्दारैरपि पूजने।

मन्दार मूर्तिपूजाभिरहं गृहगतोऽभवम्।।

गणेश के ही स्वरूप ढुढिं के संदर्भ में मान्यता है कि मंदार की जड़ से ढुढिं[2] की मूर्ति बनाकर कंठ में पहनना चाहिए।

अत एव शमी काण्ठं मध्यन्ती हाग्निहोत्रिणं।

शमी व दूर्वा के बिना कभी पूजा नहीं करनी चाहिए।[3]

मन्दार मूर्ति दुण्ढैः स कृत्वा कंठे दधार ह।

शमी दूर्वा बिना पूजां न करोति कदाचन।।

गणेश को प्रसन्न करने हेतु पूजा की एक अन्य सहज विधि भी दी गयी है वह यह कि पंचामृत, सुगंधित मालायें, शमी तथा दूर्वा के पत्ते, वन में उत्पन्न हुये फल,[4]

पञ्चामृतं गन्धमल्यं शमीदूर्वाश्च पल्लवान्।

फलान्यरण्यजातानि विविधानि च मृत्तिवः।।

उत्तम मिट्टी जिसमें कंकड़ी न हो, उसे लेकर गंडकी नदी के पास बहुत बड़ा मण्डप बनाया।[5]

अशर्कराः समादाय गण्डकी तां नदी ययौः।

मण्डपं विपुलं कृत्वा भक्त्वा वृक्षाननेकशः।।

केले के खम्भों व लताओं से उसे छायादार बनाया। नदी मे स्नान करके सुन्दर मूर्ति वहाँ बनायी।[6]

लतादि कदलीस्तम्भैः सुच्छायं च सुशीतलम्।

स्नात्वा नित्यक्रियाः कृत्वा मूर्तिश्चक्रु सुशोमना।।

---

1. गणेश पुराण, 2.35.27
2. वही, 2.35.33
3. वही, 2.49.16
4. वही, 2.78.16
5. वही, 2.78.17
6. वही, 2.78.18

मूर्ति में गणेश सिंह पर आरूढ़ दसभुजाधारी व शस्त्र धारण किये हुये थे। सिद्धि–बुद्धि साथ थी। पीले वस्त्र धारी[1]

सिंहारूढ़ा दशभुजा दशायुध विराजिताः।

सिद्धिबुद्धियुतः पार्श्वे किरीटकुण्डलोज्जवलाः।।

सर्पयज्ञोपवीत से सुशोभित उनकी मूर्ति उस मण्डप के मध्य स्थापित किया। भक्तिपूर्वक षोडशोपचार से उनकी पूजा की।[2]

तस्मिन्नण्डपमध्ये ताः स्थापयित्वा यथाविधि।

पुपूजुः परया भक्त्या षोडशैरुपचारकैः।।

पंचामृत, शुद्ध जल, नैवेद्य, दीपक गंध व आरतियों से उनकी आराधना की।[3]

पञ्चामृतैः शुद्ध जवैर्यस्त्रगन्ध दीपकैः।

नैवेद्यै विविधैश्चैव फलैर्रादिकैः शुभैः।।

पूजा के बाद सूर्य की संतुष्टि हेतु जप किया।[4]

एवं संपूज्य ते मंत्रं जेपुः सवित्रतृष्टये।

अस्तं याते सवितरि सन्ध्यां कृत्वाऽस्तुवान्विभुम्।।

इस विधि से पूजन करने पर गणेश प्रसन्न हो सभी कामनायें पूरी करते है। यह पूजा अर्चना माघ मास के कृष्णपक्ष के मंगलवार की चतुर्थी को सम्पन्न करनी चाहिए। क्योंकि यह गणेश की प्रिय तिथि है।[5]

माघस्य कृष्णपक्षोऽय संप्रवृत्तो ऽधुना सुराः।।

चतुर्थी भौमयुक्ताऽस्य प्रिया विघ्न हरस्य ह।

स एव प्रकटीभूय दास्यते स्वंपदानि वः।।

इसी प्रकार की एक अन्य तिथि का भी उल्लेख मिलता है–भाद्रपद की शुक्ल

---

1. गणेश पुराण, 2.78.19–20
2. वही, 2.78.20
3. वही, 2.78.21
4. वही, 2.78.22
5. वही, 2.78.11–12

चतुर्थी का। इस तिथि को महोत्सव करना चाहिए।[1]

देवी पुपुजे देवताः स्वयम्।

तदादि सा तिथिः ख्याता गणेशस्य वरंप्रदा।।

मिट्टी की प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा करनी चाहिए। मण्डप बनाकर मोदक, अपूप आदि पकवानों से गणेश की पूजा व उपवास करनी चाहिए।[2]

तस्या महोत्सवः कार्यश्चतुर्थ्यां स्वशुभाप्ते।

रात्रि जागरण करना चाहिए।[3]

कृत्वा मण्डपिकां चारूंमुपोष्य जागृयान्निशि।

मोदकापूपलडूडकैः पायसैः पूज्येद्विियम्।।

दूसरे दिन 21 ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। यथाशक्ति दान देकर[4]

अपरस्मिन्दिने विप्रान्भोजयेच्च यथाविधि।

एकंविशति संख्याकान्यथाशक्ति च दक्षिणाम्।।

उन्हें विदा देने के बाद स्वयं भोजन करना चाहिए। जो व्यक्ति चतुर्थी को गणेश की मूर्ति बनाकर पूजा नहीं करता[5]

दत्वातेथ्यो नमस्कृत्य पश्वाद् भोजनमाचरेत्।

यो न पूजयते चास्पां गणेश मृन्मयं नरः।।

उसे अनके विघ्नों का सामना करना पड़ता है। अनेक रोगों से वह पीड़ित भी होता है। ऐसे व्यक्ति का दर्शन भी नहीं करना चाहिए।[6]

स विघ्नैरभिभूतः सन्नानारोगैः प्रपीऽयते।

न तस्य दर्शनं कुर्यात्पतितस्येव कर्हिचित्।।

---

1. गणेश पुराण, 2.82.28
2. वही, 2.82.29
3. वही, 2.82.30
4. वही, 2.82.31
5. वही, 2.82.3.2
6. वही, 2.82.33

यदि दर्शन हो जाये तो गणेश का नाम लेना चाहिए।[1]

जाते तु दर्शने तस्य गणेशं नाम संस्मरेत्।

चतुर्थ्यां महिमानं नो न शक्यं सुनिरुपितुम्।।

इस पुराण में 'गणेश कवच' की चर्चा की गयी है। इसके अंतर्गत वर्णित है कि जो भोजपत्र पर इसे लिखकर गले में पहनेगा, वह जादू–टोने व पिशाच के भय से मुक्त हो जायेगा।[2]

भूर्जपत्रे लिखित्वेयं यः कण्ठे धारयेत्सुधीयं।

न भयं जायते तस्य यक्षरक्षः पिशाचतः।।

संभवतः तत्कालीन समाज में जादू–टोने का भूतप्रेत संबंधी विचारधारा विकसित स्थिति में रही होगी। दिन में तीन बार इस स्त्रोत का पाठ करने वाला निर्विघ्न यात्रा करेगा, युद्ध में विजय का भागी होगा।[3]

त्रिसन्ध्यं जपते यस्तु वज्ररसारतनुर्भवेत्।

यात्राकाले पठेद्यस्तु निर्विघ्नेन फलं लभेत्।।

युद्धकाले पठेद्यस्तु वियजं प्राप्नुयाद् ध्रुवम्।

मारण, उच्चारण, सम्मोहन आदि अभिचारी कर्मों में सात बार इसके पाठ से वांछित फल मिलता है।[4]

मारणोच्चाटनाकर्ष स्तम्भ मोहनकर्मणि।

सप्तवारं पठेद्यस्तु दिननामेकविंशतिम्।।

तत्तत्फलमाप्नोति साधको नात्रसंशयः।।

इक्कीस दिन तक जो इसका पाठ करेगा वह कारागार से मुक्त हो जायेगा।[5]

एकविंशतिवारं च पठेत्तावद्दिनानि यः।

कारागृहगतं सद्यो राज्ञा वध्यं च मोच्चयेत्।।

---

1. गणेश पुराण, 2.82.34
2. वही, 2.85.34
3. वही, 2.85.35–36
4. वही, 2.85.36–37
5. वही, 2.85.38

तीन बार जो इसका वाचन करेगा, राजा उसके वश में होगा, वह राजा का सभासद हो जायेगा।[1]

राजदर्शनेवे लाभ्यां पठेतेतत् त्रिवारतः।

स राजानं वशं नीत्वा प्रकृतिं च सभां जयेत्।।

इसी प्रकार के विभिन्न व्रत–उपवासों पूजा–पद्धतियों का इस पुराण में उल्लेख है। जो तत्कालीन धार्मिक अवस्था को विशद रूप में व्याख्यापित करते हैं।

पूर्वमध्यकालीन की यह विशिष्टिता मानी जा सकती है कि इस काल में व्रत–उत्सवों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुयी। ऋग्वेद में 'व्रत' शब्द का बार–बार उल्लेख किया गया है। वहाँ यह शब्द जन–जातीय रीति–रिवाजों के संदर्भ में प्रयोग किया है।[2] किन्तु उत्तर वैदिक काल में 'व्रत' का अर्थ हो गया, धार्मिक शपथ या प्रतिज्ञा जो या तो अनिवार्यता के रूप में थी अथवा प्रायश्वित के रूप में हुई। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों से व्रत और प्रायश्वित के बीच की सीमारेखा इतनी पतली हो गई कि एक का दूसरे में विलय हो गया। गुप्त–पूर्व ग्रन्थों में व्रतों की संख्या सीमित थी। गुप्त और गुप्तोत्तर काल में स्थिति बदल गयी। तीर्थ व व्रतों का वर्णन तत्कालीन पुराणों में अत्यन्त प्रभावी और व्यापक स्तर पर किया गया।[3] अनुमानतः पुराणों में व्रतों से संदर्भित लगभग पच्चीस हजार पद्य होंगे।[4] ईसा की छठीं शताब्दी से धर्म की संरचना तथा कर्मकाण्ड में महत्वपूर्ण बदलाव आया। इस समय अनेक रूपों में जातियों तथा गोत्रों के साथ ही तीर्थों तथा व्रतों की संख्या में वृद्धि हुई। उनका अतिरंजनापूर्ण वर्णन किया गया। ऋग्वेद में 'व्रत' शब्द का विशिष्ट अर्थ है, जो लोग युद्ध, शिकार, पशुपालन, खेती द्वारा भोजन जुठाने के लिए एकत्र होते थे, 'व्रा' कहलाते थे। उत्तरवैदिक काल में 'व्रा' का अर्थ भारी मात्रा में खाद्य संग्रह जुटाना दिया गया।[5] आगे चलकर 'व्रत' का प्रयोग धार्मिक शपथ तथा प्रतिज्ञा के लिए होने लगा

---

1. गणेश पुराण, 2.85.39
2. शर्मा, आर. एस., प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, द्वि. सं. 1996, पृ. 273
3. पी. वी. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड V, भाग 1, पूना, 1974, पृ. 27
4. वही, पृ. 57
5. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी. वी. काणे, पृ. 57

जो अनिवार्यता तथा प्रायश्चित दोनों रूपों में होते थे। व्रतों का वर्णन पुराणों में प्रभावी शैली में किया गया है। गोपीनाथ कविराज द्वारा संपादित 'व्रत कोश' में 1622 व्रतों का उल्लेख है। किन्तु पी. वी. काणे ने काट–छाँटकर इनकी संख्या 1000 तक मानी है।[1]

स्मृतिकार देवल के अनुसार स्त्रियाँ तथा सभी वर्णों के लोग इन व्रतों को रखकर अपने पापकर्मों से मुक्ति पा सकते थे।[2] पुराणों और धर्मशास्त्र संबंधी ग्रंथों में अनके व्रतों का विधान केवल स्त्रियों के लिए किया गया था।[3] बढ़ते हुए ब्राह्मणीय प्रभाव तथा संपत्ति के अधिकार पुरूषों के हाथ में होने के कारण पितृतंत्र हावी था। मंदिरों तथा ब्राह्मणों को आदिवासी क्षेत्र दिये जाने के कारण इस प्रक्रिया में तीव्रता आयी। जन–जातियों के बीच स्त्री की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण थी। आदिम जनजातियों तथा ब्राह्मणीय सामंती समाज में सामंजस्य बैठाने के लिये मातृदेवी को मान्यता दी गयी तथा ब्राह्मणीय ग्रन्थों एवं मूर्तिकला में उसे सम्मान का स्थान प्रदान किया गया। पूर्वमध्यकाल में सामाजिक तथा आर्थिक धरातल पर मातृमंत्र का व्यापक रूप से निग्रह किया गया। धर्म में कर्मकाण्ड का आधिक्य हो रहा था, जिसमें व्रतों की महत्ता बढ़ रही थी। इनमें से बहुत सारे व्रत स्त्रियों को रखने होते थे।

गणेश पुराण में गणेश से सम्बद्ध विभिन्न व्रतों का विवरण है, जिसमें संकट चतुर्थी तथा अंगारक चतुर्थी के व्रत मुख्य हैं। यह माघ मास के कृष्ण पक्ष में मंगलवार की चतुर्थी को रखे जाते थे। विभिन्न व्रत उपवासों में रात्रि जागरण तथा गाजे–बाजे के साथ उत्सव का विशेष विधान माना गया है। इस पुराण में वर्णित है कि कर्नाट देश के राजा बल्लभ की पत्नी कमला तथा उनके पुत्र दक्ष ने एक अंगूठे पर खड़े होकर गणेश की आराधना की।[4] मालव देश के राजा की पत्नी इन्दुमती अपने पति की मृत्यु के पश्चात् नारद मुनि के आदेश पर गणेश को प्रसन्न करने के लिए श्रावण मास की शुक्ल चतुर्थी को

---

1. काणे द्वारा प्रस्तुत व्रतों की सूची वही, पृ. 255–462
2. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ. 51
3. काणे, पी. वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ. 51
4. गणेश पुराण, 1.20.22

व्रत रखकर पूजा का विधान करती है।[1] प्रस्तुत ग्रंथ में धार्मिक कर्मकाण्डों में स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई देती है। समाज के हर वर्ग के व्रतों, अनुष्ठानों आदि में उनकी भागीदारी रहती थी। इस कारण उनकी स्थिति में बदलाव दिखता है। यहाँ तक कि तंत्रवाद के प्रभाव के कारण मातृदेवी का भी पूजन होने लगा, जिससे मातृसत्तात्मक समाज की ओर झुकाव बढ़ा। अपनी मातृसत्तात्मक परम्पराओं तथा पारिवारिक रीति–रिवाजों के साथ कबायली लोग बड़े पैमाने पर ब्राह्मणीय समाज में शामिल हुए जिससे धर्मशास्त्रों में विवाह संबंधी नियमों में नई व्यवस्थाओं का समावेश करना पड़ा। पूर्व मध्यकालीन धर्म शास्त्रों में कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा विवाह की अनुमति दी गई। स्त्रीधन के दायरे को बढ़ाया गया। स्त्रियों की अवस्था में ये अनेक परिवर्तन, ब्राह्मणीय समाज व्यवस्था में कबायली लोगों के बड़ी संख्या में सम्मिलित होने के परिणाम जान पड़ते हैं।[2]

कालान्तर में इन व्रतों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुयी। स्मृतिकार देवल (600–900 ई.) के अनुसार स्त्रियाँ और सभी वर्णों के सदस्य इन व्रतों को रख सकते थे और इस प्रकार अपने पापों से मुक्ति पा सकते थे।[3] पुराणों और धर्मशास्त्र संबंधी निबंधों में अनेक व्रतों का केवल स्त्रियों के लिये ही विधान किया गया। चूँकि शूद्र, कुमारियाँ, विवाहित स्त्रियाँ, विधवाएँ और वेश्यायें तक व्रतों का पालन कर सकती थीं अतएव इन धार्मिक अनुष्ठानों का सामाजिक आधार वैदिक यज्ञों के सामाजिक आधार की तुलना में काफी व्यापक था।[4] भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये व्रत रखे जाते थे। अधिकांश वैदिक यज्ञों में स्वर्ग की प्राप्ति का आश्वासन दिया जाता था, किंतु व्रत उसके कर्ता को इसी संसार में मूर्त लाभ देने वाले माने गये। व्रतों के सर्वजनीन अधिकार होने के साथ–साथ उसके जो गुण प्रचारित किये गये उसकी वजह से इनकी संख्या बढ़ती गई होगी। पूर्व मध्यकालीन भारतीय जीवन उथल–पुथल तथा रूपांतरण की अवस्था से गुजर रहा था।

---

1. गणेश पुराण, 1.55.25–30 से श्लोक
2. शर्मा, आर. एस., पूर्वमध्यकालीन भरत का समंती समाज एवं संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 1998, पृ. 12
3. पी. वी. काणे, वही, पृ. 51
4. शर्मा, आर. एस., वही, पृ. 273

समाज, अर्थव्यवस्था, राज्य संरचना, भाषा, लिपि, धर्म तथा बौद्धिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। मध्यकाल के उद्भव–बिंदुओं का निरूपण राजनीतिक तथा राजवंशीय सर्वेक्षण से नहीं, बल्कि भारतीय जीवन के सभी पहलुओं के समग्र अध्ययन द्वारा ही किया जा सकता है। इस संदर्भ में धर्म का बदलता स्वरूप भी उल्लेखनीय है। धर्म के अर्न्तगत बढ़ता हुआ कर्मकाण्ड तथा पाखण्ड पुजारियों की अतिलोलुपता का परिणाम है जिसके कारण व्रतों, अनुष्ठानों की वृद्धि हुई। अनेक धार्मिक कृत्यों तथा संकल्पों को पूरा करने के लिए उनका हस्तक्षेप आवश्यक था। ब्राह्मणों तथा पुरोहितों द्वारा बसाये गये क्षेत्र तथा नये क्षेत्रों में आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक सामंजस्य की समस्याएँ उठ खड़ी हुई। ब्राह्मण दानभोगियों के कृषि विषयक ज्ञान के मूल निवासियों को आर्थिक लाभ हुआ। इसके साथ ही जहाँ इनकी नई बस्तियाँ बसी थी, वहाँ उन्हें भूमि के निजी अधिकार प्राप्त थे। जिसके फलस्वरूप नये क्षेत्रों के लोग इनके काश्तकार बन गये। धार्मिक परिवर्तन के पीछे सामाजिक तथा आर्थिक कारण भी क्रियाशील थे। इसी से पूर्व मध्यकालीन धर्म शास्त्र से संबंधित रचनाओं में कठोर श्रेणी विन्यास के स्थान पर भूसंपत्ति, सैनिक स्थिति पर आधारित सामाजिक संगठन को प्रधानता दी गई। इसके साथ ही धर्म के अनुष्ठानों में ब्राह्मणों का उच्च स्थान था। अधिकांश व्रतों, अनुष्ठानों में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। इनमें से कई अनुष्ठान ऐसे है जिनमें वस्त्र, धन, दान, भोजन कराने की विधि अनिवार्य मानी गई है।

गणेश पुराण पूर्व मध्यकालीन रचना है। अतः उसमें गणेश से सम्बंधित विभिन्न व्रतों के विधान की विस्तृत विवेचना मिलती है। गणेश की उपासना में उपासक की स्वयं शुद्धि की भी अनिवार्यता पर अति बल दिया गया है। प्रातः काल उठकर नैत्रन दिशा में जाना चाहिए।[1]

प्रत्युषकाल उत्थाय नैऋतीं दिशमाव्रजेत्।

आच्छाद्यं धरतीं पूर्ण तृष्काष्ठ दलैरपि।।

शौच आदि आचरण का विस्तारपूर्वक विधि–विधान वर्णित है। तत्पश्चात् स्नान

1. गणेश पुराण, 1.49.4

व तिलक करके[1]

कृत्वां पूर्ण मलस्नानं ततश्चरेत मृदा वा चन्देनापि तिलकं कुंकमेन वा।।

धुले हुये दो वस्त्र (अधोवस्त्र व उत्तरीय) पहनना चाहिए। फिर अच्छी मिट्‌टी जो चिकनी व कंकड़ी रहित हो, वाल्मीकि न हो, उसे जल से सिक्त कर गणेश की सुन्दर मूर्ति बनानी चाहिए।[2]

मृत्तिका सुन्दरा स्निग्धा क्षुद्रपाषाण वर्जिताम्।

सुविशुद्धामवल्मीकां जलसिक्तां विमर्दयेत्।।

कृत्वां चारुतरां मूर्ति गणशस्यः शुभा स्वपम्।

सर्वावयव संपूर्णो चतुर्भुजः विराजिताम्।।

मूर्ति चतुर्भुज हो व हाथों में शस्त्र धारण किये हो। उस मूर्ति का षोडशोपचार से पूजन करना चाहिए, जिसमें अगर, अक्षत, लाल पुष्प, गोकुल तीन या सात पत्तों से युक्त दूब, पुष्प, घी का दीपक, नैवेद्य, मोदक, पुआ और खांड डाले हुये दूध, 108 सुपारी, कत्था, इलाइची, लौंग, केसर युक्त ताम्बूल, आम, कठहल, किशमिश, केला और ऋतु के अन्य फल आदि विविध वस्तुओं से षोडशोपचार[3] युक्त पूजा करनी चाहिए। तत्पश्चात आगमानुसार मातृकाओं का न्यास, मंत्र–न्यास व खड्‌ग–न्यास आदि मंत्रों से पूजा करनी चाहिए। फिर गणेश का ध्यान व स्तुति करनी चाहिए। सारे तीर्थों से लाये हुये पाद प्रक्षालन हेतु जल, प्रवाल, मुक्ताफल, ताम्बूल, सुवर्ण, पुष्प, अक्षतों से युक्त पूजा अर्पित करनी चाहिए।[4]

देवदेवेश सर्वेश सर्वतीर्थान्कृतं जलम् पाद्यं।

गृहाण गन्ध पुष्पाक्षतैर्युतम्।।

---

1. गणेश पुराण, 1.49.7–8
2. वही, 1.49.9–10
3. इपिग्राफिया इण्डिका–9, पृ. 117–119, संस्कार रत्नमाला, पृ. 27
   देवपूजा के सोलह या अट्ठारह उपचारों का विवेचन पुराणों एवं निबंधों में भी किया गया है किन्तु यह भी उल्लिखित है कि वस्त्र तथा अलंकारादि संभव न हो तो केवल पाद्य से नैवेद्य तक दस उपचारों को ही सम्पादित करना चाहिये। यदि यह भी संभव न हो तो गंध से लेकर नैवेद्य तक की मंत्रोपचार पूजा करनी चाहिये। इसके भी संभव न होने पर पुष्प मात्र से ही पूजा करनी चाहिये। द्रष्टव्य–नित्याचारपद्धति, पृ. 549
4. वही, 1.49.26–27

प्रवालं मुक्ताफलं पत्र रत्न, तांबूल जांबूनदमटष्गंधम्।

पुष्पाक्षतायुक्त ममोधशक्ते, दत्तं मयाऽर्ध्यसफली कुरुष्व।।

गंगा आदि तीर्थों के उत्तम जल को अर्पित कर कपूर, लौंग, केला आदि की सुगंधी भी उनसे ग्रहण करने के लिये निवेदन करना चाहिए।[1]

गंगादि सर्वतीर्थेभ्यः प्रार्थितंतोयमुत्मम्।

कर्पूरैला लवंगादि वासितं स्वीकरु प्रभो।।

चंपा, अशोक, बकुल, मालती, मोगरा आदि से वासित तेल स्निग्धता के लिये अर्पित है। इसे ग्रहण करें।[2]

चम्पकाशोक बकुल मालती मोगरादिभिः।

वासितं स्निग्धतां हेतु तैलं चारु प्रगृह्यताम्।।

कामधेनु से उत्पन्न सभी को जीवन देने वाला पवित्र दुग्ध स्नान हेतु तथा घृत, पुष्पों के सार से उत्पन्न मधु, गन्ने से उत्पन्न शर्करा, पुष्टिकारक गुड़, कांसे के पात्र से ढाँका दधि, मधु व घृत से युक्त मधुपर्क आदि सभी कुछ गजानन को समर्पित करना चाहिए।[3] सारे तीर्थों का जल स्नान हेतु अर्पित है तथा दो लाल वस्त्र लोक–लज्जा के निवारण हेतु हैं, ये सूक्ष्म हैं, इन्हें ग्रहण करें। रजत वर्ण का यह ब्रह्म सूत्र जो रत्नों से युक्त है, ग्रहण करें। अनेक रत्नों से युक्त आभूषण भी अर्पित करना चाहिए। अष्टगंध से युक्त रक्त चंदन उनके बारहों अंगों में प्रलेपित करना चाहिए।[4] माथे पर तंदुल तिलक लगाना चाहिए। तत्पश्चात् विभिन्न पुष्पों व बिल्व पत्रों से युक्त माला अर्पित करनी चाहिए। दीपक अर्पित कर अनेक पकवानों को भी समर्पित करना चाहिए।[5] अंत में कपूर, सुपारी, कत्थे से मिला इलाइची व लौंग, केसर युक्त ताम्बूल अर्पित कर स्वर्ण की दक्षिणा देनी चाहिए तथा 21 बार देव प्रदक्षिणा कर लकड़ी, चांदी, काँसा या सुवर्ण जैसा संभव हौ वैसा, दीप समर्पित

---

1. गणेश पुराण, 1.49.28
2. वही, 1.49.29
3. वही, 1.49.30–36
4. वही, 1.49.8
5. वही, 1.49.14–15

कर अपने समस्त पातकों को नष्ट होने की भिक्षा माँगे।[1] गणेश सहस्त्रनाम की स्तुति करें व मंत्र का जाप करें।[2] यह व्रत पूरे एक मास तक चलता है। जो श्रावण मास के शुक्ल चतुर्थी से आरंभ[3]

नभः शुक्ल चतुर्थ्यां त्वमारभ्य कुरु सुव्रते।

अनुष्ठानं मासमात्रं कुरु कार्य सिद्धि भविष्यति।

होकर भाद्रपद मास की चतुर्थी को समाप्त होता है।[4]

'यावद्रभाद्रपदे मासे चतुर्थी परिलभ्यते'

इस व्रत में विभिन्न संख्या में मूर्तियों की पूजा से विभिन्न फल प्राप्ति का विधान बताया गया है। वैसे मिट्टी की अकेली मूर्ति की पूजा भी पर्याप्त बतायी गयी है। यह सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाली है।[5]

'एका ददाति सा काम्यं धनपुत्रपशूनपि'

त्रिमूर्ति की पूजा राज्य, रत्न और सब प्रकार की सम्पत्ति देती है।[6]

असाध्यं साधयेन्मर्त्यो मूर्ति द्रव्य प्रपूजनात्।

स्त्रीमूर्ति पूजनाद्राज्यं रत्नानि सर्व सम्पदा।।

चतुर्मूर्ति की पूजा करने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पदार्थ मिलते हैं। पंचमूर्ति के पूजन से सार्वभौम राजा का पद प्राप्त होता है।[7]

चतुमूर्तिः पूजयेद्यो धर्मार्थ काम मोक्षभांक्।

सार्वभौमो भवेद्राजा पंचमूर्ति प्रपूजनात्।।

षड्मूर्ति की पूजा से सृष्टि, स्थिति और लय का कारक बन जाता है। सात–आठ और नौ मूर्तियों के पूजन से व्यक्ति सर्वज्ञ बन जाता है। भूत, भविष्य व वर्तमान

---

1. गणेश पुराण, 1.49.17
2. वही, 1.49.67
3. वही, 1.50.7–8
4. वही, 1.50.23
5. वही, 1.50.9
6. वही, 1.50.10
7. वही, 1.50.11

सब जान लेता है।[1]

षण्मूर्ति पूजया सृष्टि स्थिति प्रलय कृद भवेत्।

सप्ताष्ट नव मूर्तिनां पूजया सर्वविद् भवेत्।

भूतं भविष्यं च वेत्ति प्रसादतः।

दस मूर्तियों की पूजा करने वाले की देवता, इन्द्र, विष्णु, शिव, सनक आदि पूजा भी करने लगते हैं। ग्यारह मूर्तियों की सेवा करने से व्यक्ति दस रूद्रों का स्वामी बन जाता है।[2]

त्रयस्त्रिंशत्कोटि देवा वन्हीन्द्र शिविविष्णवः।

सनकाद्या मुनिगणाः सेवन्ते दशपूजनात्

एकादशार्चना देव दशरुद्राधिपो भवेत्।।

बारह मूर्तियों की पूजा करने से द्वादश राज्य मिलता है। अत्यधिक संकट के समय अधिक मूर्तियों की पूजा करनी चाहिए।[3]

द्वादशदित्य राज्यं च लभेच्च द्वादशर्चनात्।

अतिसंकट वेलासु कुर्याद् वृध्या प्रपूजनम्।।

पंच मूर्तियों की पूजा कारागार से मुक्ति दिलाती है।[4]

कारागृहान्मुक्ति कामः कारयेन्मूर्ति पंचकम्।

प्रतिदिन पाँच वर्ष तक सप्तमूर्ति की पूजा करने से मनुष्य महापापों से भी मुक्त हो जाता है।[5]

सप्तमूर्ति प्रकुर्वोत् प्रत्यहं पंच्वत्सरम्।

महापापाप्रमुच्यते गणेशे भक्तिमान्नरः।।

इस व्रत का समापन वेदी पर दशांश के हवन व फिर पूर्णाहुति द्वारा करनी

---

1. गणेश पुराण, 1.50.12–13
2. वही, 1.50.13–14
3. वही, 1.50.15
4. वही, 1.50.17
5. वही, 1.50.18

चाहिए।[1]

कुंडे सागं स्थंडिले वा हुयाज्जप दशांशतः।

पूर्णाहुति ततः कुर्याद् बलिदान पुरः सरम्।।

रात्रि जागरण, उत्सव, दान, भोजन, दक्षिणा आदि का भी समुचित प्रबंध करना चाहिए।[2] अंत में मूर्ति को पालकी में बिठाकर छत्र, ध्वज, पताका व चमर के साथ जलाशय तक ले जाकर विसर्जित करना चाहिए।[3]

छत्रध्वज पताकाभि श्चामरै रुपशोभिताम्।

किशोरैर्दण्डयुद्धेन युद्धभिश्च पुरः सरम्।।

महाजलाशयं गत्वा विसृज्य निनयेज्जले।

प्रस्तुत ग्रंथ में गणेशसे सम्बंधित विभिन्न व्रतों का विवरण है, किंतु संकट चतुर्थी व अंगारक चतुर्थी के व्रत विशिष्ट हैं। संकट चतुर्थी का गणेश के विभिन्न व्रतों में विशेष महत्व है। माघ मास के कृष्ण पक्ष में यदि भौमवार (मंगलवार) को चतुर्थी हो तो उस दिन व्रत का आरंभ करना चाहिए।[4]

चतुर्थी भौमवारे तु माघे कृष्णे भवेद्यदि।

इस व्रत में पूरे विधि–विधान से गणेश की पूजा की जाती है किन्तु एक विशिष्टता यह है कि इसमें 21 वस्तुओं का विशेष महत्व है, 21 दीपक व 21 दूर्वा चढ़ाने का विधान है। 21 ब्राह्मणों को भोजन, 21 परिक्रमा, 21 मुद्रा की दक्षिणा, 21 फल, 21 नाम आदि का प्रावधान है।[5]

---

1. गणेश पुराण, 1.50.26
2. वही, 3.10.50.27–31
3. वही, 1.50.32–33
4. वही, 1.59.21
5. वही, 1.59.29

   वही, 'ब्राहम्णान्भोजये भुद्क्त्वा शक्त्या वा चैकविंशतिम्।'

   वही, 'देश द्वादश वाऽशक्तो दक्षिणाभिः सुतोषयेत्'

   वही, 1.49.63

फलैर्नाना विधैः पूगं तांबूलैर्दक्षिणदिभिः।

एकविंशति दूर्वाभि दीपैश्च कुसुमैरपि।।

दूर्वाकुंश मयादत्त एकविंशति संमिताः।

एकविंशति संख्याकाः कुर्यादेव् प्रदक्षिणा।।

इस व्रत को एक वर्ष तक करने का विधान मिलता है।(1)

एवं व्रतं चैकवर्ष कृतं चेधत्नतो नृप।

सर्व पाप क्षमात्तस्य भविता पुत्र उत्तमः।।

इसमें मंत्र जाप शमी वृक्ष के मूल में बैठकर करना चाहिए।(2) पूरे वर्ष अलग–अलग महीनों में कौन सा खाद्य ग्रहण करना है व उससे कौन सी सिद्धि प्राप्त होगी, इसका विवरण भी इसमें प्राप्त होता है। जैसे, श्रावण मास में सात लड्डू, भादों में दही,(3)

भक्षेयं वर्ष पर्यन्तं तस्य सिद्धिस्तुत्तमा।

श्रावणे सप्त लड्डूका दधिभक्षणम्।।

अश्विन मास में उपवास, कार्तिक मास में दुग्धपान, मार्गशीर्ष में निराहार, पौष मास में गौमूत्र का पान,(4)

आश्विने चोपवासं च कार्तिके दुग्धपानकम्।

मार्गशीर्षे निराहारं पौषे गोमूत्र पानकम्।।

माघ में तिल भक्षण, फाल्गुन में घृत और शर्करा, चैत्य में पंचगव्य और वैशाख में शत पत्रिका,(5)

तिलांच भक्षयेन्माघे फाल्गुने घृतशर्करम्।

चैत्रमासे पंचगव्य वैशाखे शतपत्रिकाम्।।

ज्येष्ठ मास में घृत व आषाढ़ में मधु का भक्षण करना चाहिए।(6)

---

1. गणेश पुराण, 1.59.33–34
2. वही, 59.35 शमीमूले जपंस्तिष्टन्तुपवास परायणः
3. वही, 1.59.38
4. वही, 1.59.39
5. वही, 40
6. वही, 1.59.41 'घृतस्य भोजनं ज्येष्ठ आषाढ़े मधु भक्षणम्'

गणेश के विभिन्न व्रतों–उपवासों व उपासना प्रसंगों में रात्रि जागरण और गाजे–बाजे के साथ उत्सव करने का विशेष विधान माना गया है। कई स्थलों पर इसका विस्तार से कथन है।[1]

तस्यां महोत्सवः कार्योः यथाविभवमादरात्।

रात्रौ जागरणं कार्य तत्कथा वाद्यगायनै।।

गीत वादित्र घोषेण शेषां रात्रि ततो नयेत्।

एवं व्रतं चैकवर्ष कृतं चेधत्नतो नृप।।

स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकालीन समाज में व्याप्त धार्मिक जीवन के सभी तत्वों को गणेश पूजा व गाणपत्य सम्प्रदाय ने अपनाया। जिसका स्पष्ट उल्लेख गणेश पुराण में है।

वर्तमान काल में गणेश पूजा से सम्बंधित गणेश–उत्सव तथा अनुष्ठान एवं व्रत भारत के विभिन्न भूभागों विशेषतः महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा दक्षिण क्षेत्रों में आज भी सामूहिक व सामुदायिक व्यवस्था के रूप में मनाये जाते हैं। उत्तर भारत के अधिकांश क्षेत्रों में सौभाग्यवती व पुत्रवती स्त्रियाँ गणेश पुराण में वर्णित अनेक व्रतों और अनुष्ठान का अनुपालन व्यक्तिगत स्तर पर करती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में गणेश से संबंधित उपासना पद्धतियों व अनुष्ठानों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, जो तत्कालीन समाज की धार्मिक भावनाओं व प्रवृत्तियों का परिचायक है।

दर्शन–तत्व

धर्म मानव जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। इसमें नैतिक मूल्यों, आचरणगत अभिव्यक्तियों तथा परमात्मा के प्रति भक्ति भावना का सन्निवेश रहता है। धर्म से जिन मूल्यों, मान्यताओं, धारणाओं और स्थापनाओं का ज्ञान होता है, उन्हीं के अनुरूप मानव कर्म में प्रवृत्त होता हैं। धर्म से ही दार्शनिक चेतना का उदय होता रहा है, जो मानव के आध्यात्मिक जीवन को उन्नत करने में मार्गदर्शक बनता है। दार्शनिक चिंतन का प्रारंभ

---

1. गणेश पुराण, 1.50.24, वही, 7.59.32

ऋग्वेद काल से ही हो गया था।[1] यद्यपि इसका यथेष्ठ विकास स्तर वैदिक काल में तब हुआ जब उपनिषदों की रचना होने लगी। परवर्ती काल में आकर जीवन का आध्यात्मिक उत्कर्ष भी हुआ तथा 'न्याय' जैसी तर्कपूर्ण दार्शनिक विचारधारा का भी विकास हुआ।

वेदों का चिंतन जगत और जीवन के वैविध्य और दुर्गम्यता से संदर्भित है। ऋग्वेद में बहुदेववासी चिंतन का स्वरूप प्राप्त होता है, जबकि उपनिषदों में एकेश्वरवादी विचारधारा का प्रचलन हुआ। इसने विभिन्न देवों तथा विचारधाराओं को एक में समाहित कर लिया। 'एक सद्विपाः बहुधा वदंति' के साय अद्वैतवाद की कल्पना हुई। वैदिक विचारों और धारणाओं की पुराणों में स्पष्ट झलक मिलती है। इनमें वैदिक आख्यानों एवं मान्यताओं को नवीन रूप में विवृत किया गया है। वैदिक दर्शन और चिंतन का आकलन भी इनमें है। वेद के अव्यय, अक्षर और क्षर पुरूष ब्रह्मा, विष्णु और शिव बन गये। 'त्रिधाम विद्या' अथवा 'सप्तधाम विद्या' विष्णु के वामनावतार के आकार में परिवर्तित हो गयी। उपनिषदों के ज्ञानतत्व को भी पुराणों ने नये परिवर्तनों और नये परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया। उपनिषदों में ज्ञान तत्व तथा ब्रह्म की व्याख्या करते हुए उल्लिखित है – सद् ही सर्वोच्च है, वह एकमेवोद्वितीय परब्रह्म है।[2] उपनिषदों की इसी परम्परा को कालान्तर में पुराणों ने अपने इष्टदेवों के साथ सम्बद्ध किया।

भारतीय संस्कृति में जहाँ आचार साधना, पंथ–समुदाय आदि का बाहुल्य है, वहीं देवी–देवताओं के अनंत स्वरूप भी प्राप्त होते हैं। मनुष्य अपनी आस्था श्रद्धा के अनुसार सम्प्रदाय विशिष्ट से जुड़ता है। वैष्णव, शैव, शक्ति, सौर, गाणपत्य आदि विभिन्न सम्प्रदाय तथा विचारधाराएँ हैं। गाणपत्य सम्प्रदाय ने गणेश को ही परमतत्व तथा सर्वोपरि देव माना। भारतीय चिंतकों ने इस जगत को अपनी–अपनी दृष्टि से समझने का प्रयास किया तथा अपने दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है। भारतीय चिंतन के इतिहास में दर्शन की छह धाराएँ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त विकसित हुई, जिनसे मिलकर भारतीय दर्शन की रूपरेखा निर्धारित होती है। कालान्तर में विभिन्न धार्मिक

---

1. ऋग्वेद, 1.164, 10.129, 10.121
2. छान्दोग्य उपनिषद, 6.2.1

सम्प्रदायों ने दर्शन की इन धाराओं को अपने तरीके से ग्रहण कर अपने आराध्य के माध्यम से लोगों तक पहुँचाया। कई बार ऐसा भी हुआ कि सम्प्रदायों ने सभी दार्शनिक धाराओं के समेकित स्वरूप को अपनी धार्मिक विचारधारा में ग्रहण किया। जैसे – गणेश, शिव या विष्णु क्रमशः गाणपत्य, शैव व वैष्णव सम्प्रदाय के इष्टदेव हैं, किंतु इन सम्प्रदायों का अपना कोई दर्शन नहीं है। अतः इन्होंने वेदान्त, सांख्य, न्याय या तंत्र (पांचरात्र) आदि से ही तत्व ग्रहण कर उसे साम्प्रदायिक स्वरूप प्रदान किया है।

पूर्व मध्यकाल में गाणपत्य सम्प्रदाय विभिन्न धर्म, दर्शन व सम्प्रदायों से प्रभावित हुआ, जिनका स्पष्ट दिग्यदर्शन उनके साहित्य में है। सांख्य, योग, न्याय, शैव, वैष्णव, शाक्त व तांत्रिक दर्शन के प्रभाव से गाणपत्य सम्प्रदाय एवं गणेश की लोकप्रियता में पर्याप्त वृद्धि हुई।

उपनिषदों की 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' विचारधारा से गाणपत्यों ने गणेश को सम्बद्ध करते हुए परब्रह्म के रूप में उन्हें कर दिया। वे ही परब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त हुए।[1]

गणेशो वैसदजायत तद वै परं ब्रह्म

स्पष्ट है कि गाणपत्यों पर औपनिषदिक विचारधारा का सम्यक् प्रभाव पड़ा है। गणेश को गाणपत्य साहित्य में निर्गुण, निराकार[2] निर्विकल्प, निरंहकार, आनंदरूप, अनिवर्चनीय आदि कहा गया है।[3] मुद्गल पुराण में भी गणेश के इसी स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए कहा है – गणेश शब्द में 'गकार' जगत रूप और 'णकार' ब्रह्मवाचक है।[4]

जगद्रूपो गकारश्च णकारो व्रह्मवाचकः।
तयोर्योगे गणेशाय नाम तुभ्यं नमो नमः।।

गणेश पुराण में गणेश के सगुण व निर्गुण दोनों स्वरूपों में एकता का प्रतिपादन

---

1. गणेशोत्तरतापिनी उपनिषद्, 4.2
2. वही, 4.1 (तप) 'तच्चित्स्वरूपं निर्विकारं अद्वैतं च'
3. गणेशपूर्वतापिनी उपनिषद्, 5.1
4. मुद्गल पुराण, गणेशस्रोत, 4

किया गया है। उनके स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा गया है – वह सत्यस्वरूप, चराचर सृष्टि के कारण, नियंता, इन्द्रियों के अधिष्ठाता, भूतमय सृष्टि के रचयिता, उसकी स्थिति व लय रूप, सभी कारणों के परम कारण है।[1] मुण्डकोपनिषद् मैं भी गणेश के इसी स्वरूप का विस्तृत विवेचन एवं व्याख्या की गयी है। 'गकार' सगुण प्रतिपादक है और 'णकार' निर्गुणवाचक। सगुण रूपी गकार के साथ निर्गुण का बोध हो, इसलिए 'णकार' का योग 'गकार' के साथ किया गया है जिससे 'गण' शब्द की निष्पत्ति हुई है। इससे निर्गुण, सगुणात्मक 'ब्रह्म' गणेश का बोध हुआ। इस प्रकार और 'णकार' से ही अनेक ब्रह्मा और सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।[2]

मनोवाणीमयं सर्व दृश्यादृश्यस्वरूकम्।
गकारात्मकंमेव तत्तत्र ब्रह्मवाचकः।।
मनोवाणी विहीनं च संयोगायोग संस्थितम्।
णकारात्मकरूपं तण्णकारस्तत्र संस्थितः।।
विविधानि णकाराणि प्रसूतानि महामते।
ब्रह्माणि तानि कथ्यन्ते तत्वरूपाणि योगिभिः।।
निरोधात्मकरूपाणि कथितानि समन्ततः।
गकारस्य गकारस्य नाम्नि गणपतेः स्थितौ।।
तदा जानिहि भो योगिन् ब्रह्माकारौ श्रुतेर्मुखात्।
तयोः स्वामी गणेशश्च योगरूपेण संस्थितः।।
तं भजस्व विद्यानेन शांतिमार्गेण पुत्रकः।।

गीता दर्शन के अवतारवाद व अद्वैतवाद का स्पष्ट प्रभाव गणेश पुराण में वर्णित दर्शन पर परिलक्षित होता है। गणेश स्वयं कहते हैं कि जब अधर्म की वृद्धि और धर्म का क्षय होने लगता है तब साधुओं की रक्षा व दुष्टों के नाश हेतु मैं जन्म लेता हूँ। मैं ही अधर्म के समूहों को नष्ट करके धर्म की स्थापना करता हूँ।[3] गणेश पुराण के 'गणेश गीता' खण्ड

1. गणेश पुराण, 1.40.42–44
2. मुण्डकोपनिषद्, 2.2.11
3. गणेश पुराण, 2.140.6–18

में 'योग' पर विशेष बल दिया गया है। गणेश गीता में मनुष्य के कर्तव्यों का विभाजन किया गया है। जिससे उसकी भौतिक व आध्यात्मिक उन्नति हो सके। गणेश गीता में 'योग विचार' अत्यंत महत्वपूर्ण है। आत्मा और परमात्मा, जीव और शिव के संबंध का सिद्धांत ही योग कहलाता है। जीव और ईश्वर में सम्बंध के तीन साधन बताये गये हैं, कर्म, भक्ति और ज्ञान। गीता में 'योग' शब्द सम्बंध वाचक है। 'युज्' धातु से 'योग' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'मिलना' या 'सम्बंध स्थापित' करना है। गीता का यह योग, पातंजल योग से भिन्न है।

पातंजल योग में 'योग' शब्द समाधि वाचक है। वहाँ चित्रवृत्ति निरोध को ही योग माना गया है। 'गणेश गीता' में योग समाधि नहीं वरन् सोपान है। साध्य नहीं, साधन है। लक्ष्य नहीं, मार्ग है। कर्म, भक्ति और ज्ञान ये तीन योग के प्रकार माने गये हैं। इन तीनों से ईश्वर की प्राप्ति संभव है। तीनों समानतः महत्वपूर्ण हैं।

गणेश स्वयं ही व्याख्यायित करते हुए बताते हैं कि योग क्या है ? सामान्य रूप से जिसे योग कहते हैं, वह योग नहीं है। लक्ष्मी का योग, व्यक्ति का विषयों से योग, पिता–माता के साथ योग, बंधु, पुत्र आदि के साथ योग, आठ विभूतियों के साथ योग, पत्नी के साथ योग, राज योग, इन्द्रपद से योग और और सत्यलोक से जो योग है, उसे योग नहीं माना जा सकता।

शैव योग, वैष्णव योग, सूर्य के आराधना का योग, अनिल व अनल हो जाना अथवा अमर हो जाना, वरूण पद प्राप्त करना यह सब कुछ भी योग नहीं है। संसार में जो लोग इच्छा (तृष्णा) को त्याग कर ब्रह्मचर्य धारणा कर तीनों लोकों को वश में करके संसार को पवित्र करते हैं, उनका हृदय करूणा से पूर्ण होता है।[1] ऐसे लोग क्रोध व इन्द्रियों को जीत लेते हैं। लोष्ठ व कांचन इनके लिए समान हैं। यही योगी होते हैं।[2] सर्वोत्तम योग के विषय में बताया गया है कि इसे सुनकर प्राणी पाप व भवसागर से मुक्त हो जाता है। शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य व मेरे (गणेश) प्रति जो अभेद बुद्धि है, वही सच्चा योग है।[3]

---

1. गणेश पुराण, 2.138.13–15
2. वही, 2.138.18–19
3. वही, 2.138.20–23

प्रारंभ में मनुष्य का ज्ञान में अधिकार नहीं होता। वह कर्म से जुड़ (मिल) जाता है। इससे उसका हृदय शुद्ध होता है। अंत में अभेद बुद्धि प्राप्त करता है। यही सच्चा योग बताया गया है। इससे व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त करता है।[1] समत्व योग को गणेश पुराण में व्याख्यायित करते हुए कहा गया है कि पशु, पुत्र, मित्र, शत्रु, बंधु इन सबको समान दृष्टि से देखना, हर्ष, विषाद आने पर समान बने रहना, रोग हो या भोग, जय हो या विजय, लाभ हो या हानि इन सब के प्रति समान रहकर वस्तुजगत में अवस्थित मुझे देखना ही समत्व योग है।[2] योग को और व्याख्यायित करते हुए आगे कहा गया है सूर्य, चन्द्रमा, जल, अग्नि, शिव, शक्ति, ब्राह्मण, तीर्थ, विष्णु आदि देवता, गंधर्व, मुनि, पशु इन सब में मेरा दर्शन करने वाला ही योग को जानने वाला है।[3] विवेक द्वारा इन्द्रियों को स्वार्थ से हटाकर सर्वत्र समता बुद्धि बना लेना योग है। विवेक से अपने धर्म में लगकर जो बुद्धि प्राप्त होती है, वह योग है। जो धर्म व अधर्म का त्याग कर देता है वह योगी नहीं है। वैध धर्मों में कुशलता पाना योग है।[4] योग की प्राप्ति किस प्रकार संभव है, इसके उत्तर में गणेशगीता कहती है – वेदत्रयी के प्रति जब मनुष्य उदासीन बने व परम तत्व के प्रति बुद्धि अचल हो जाये, तब उसे योग की प्राप्ति होगी।[5] इस प्रकार गणेश पुराण में योग व योगी की व्याख्या व विशिष्टता बतायी गयी है। गणेश पुराण में वैष्णव धर्म और दर्शन का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। गणेश की सत्ता को विष्णु से भी उच्च स्थापित करने का प्रयास किया गया है। संदर्भित है – गणेश अनादिकाल से ही योगीश्वरों द्वारा पूज्य रहे हैं। योगेश्वर विष्णु द्वारा गणेश के प्राणायामपूर्वक ध्यान, मंत्र, जप तथा आराधना किये जाने का विवरण है। पृथ्वी पर सिद्धि प्रदान करने वाले विष्णु ने सिद्धि क्षेत्र में घोर तप किया। उन्होंने षडाक्षर मंत्र का जाप कर विधिपूर्वक गणेश की आराधना की।[6]

---

1. गणेश पुराण, 2.138.37–40
2. वही, 2.138.41–43
3. वही, 2.138.44.46
4. वही, 2.138.49
5. वही, 2.138.52–53
6. वही, 1.18.6–7

प्राणायामम्य मूलेन ध्यात्वा देवं गजाननम्।

आवाहनादि मुद्राभिः पूजयित्वा मनोमयैः।।

द्रव्यैर्नानाविधैश्चैव षोडशैश्चोपचारके।

जजाप पारकं मंत्र विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः।।

गणेश पुराण पर मात्र वैष्णव प्रभाव ही नहीं, अपितु शैव प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। शैव धर्म व दर्शन परम्परा में भी गणेश को उच्च व शिव द्वारा पूजित माना गया है।[1] शिव–पार्वती के पुत्र होने की परम्परा का तो निर्वहन हुआ है किंतु गणेश की सत्ता शिव से उच्च है, यह सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है।[2]

कर्मयोग

गणेश की वाणी में संयोजित 'गणेश गीता' योग मार्ग प्रकाशिनी कही गयी है। इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान के तत्व का सम्यक् विश्लेषण किया गया है।[3]

अथ गीतां प्रवक्ष्यामि योगमार्गप्रकाशिनीम्।

नियुक्ता पृच्छते सूत राज्ञे गजमुखेन या।।

गणेश जी ने राजा वरेण्य से स्वयं ही कहा – मैं योगामृतमयी गीता का प्रवचन करता हूँ। मेरे अनुग्रह से आपकी बुद्धि अच्छी तरह संयत है।[4] इस चराचर जगत में ब्रह्म (परमतत्व) की प्राप्ति की दो स्थितियाँ है। ज्ञानमार्गियों को बुद्धि योग से तथा कर्ममार्गियों को शास्त्रविहित कर्मयोग से सिद्धि प्राप्त होती है।[5] कर्मयोग को आगे विवेचित करते हुए कहा गया है कि इसके तीन स्तर हैं। अहंकार रहित हो कर्म करना ही कर्मयोग है, अनासक्त कर्म ही कर्मयोग है, निष्काम कर्म ही कर्मयोग है।[6] कोई भी व्यक्ति एक क्षण के लिए भी बिना कर्म के नहीं रहता। वह पराधीन है प्रकृतिजन्य गुणों से उसे कर्म करना ही

---

1. गणेश पुराण, 2.82.5–8
2. वही, 1.5.3
3. वही, 2.137.4
4. वही, 2.137.5
5. वही, 2.139.2–3
6. वही, 2.139.8

पड़ता है।[1] जो व्यक्ति इन्द्रिय समुदाय का नियमन करके रहता है और विषयों का मन में स्मरण करता रहता है, वह मिथ्याचर है। मनुष्य को चाहिए कि मन से इन्द्रिय समुदाय का नियमन करके जो कर्म करता है वह वितृष्ण अथवा तृष्णा त्यागी हो जाता है।[2] कर्म का त्याग करने की अपेक्षा इच्छारहित कर्म करना अधिक अच्छा है। कर्म को भगवत अर्पण किये बिना कर्ता उससे बद्ध हो जाता है। जो मेरे लिए कर्म किये जाते हैं उनसे व्यक्ति बद्ध नहीं होता। वासना रहित जो कर्म किया जाता है वही प्राणी का बंधन बनता है।[3] जो व्यक्ति आत्म तृप्त है उसके लिए संसार में कुछ भी अभिलाषनीय नहीं है। वह कार्य व अकार्य से शुभ या अशुभ नहीं प्राप्त करता। उसके लिए कुछ भी साध्य शेष नहीं रहता। इसलिए प्राणियों को अनासक्त भाव से कर्म करना चाहिए। जो विषयों में आसक्त है, उसे अगति मिलती है। जो अनासक्त है, वह मुझे प्राप्त करता है।[4] कामी जन अज्ञान से इच्छापूर्वक जैसे कर्म करते हैं, विद्वान को उसी प्रकार अनासक्त भाव से कर्म करना चाहिए। इसी से लोक संग्रह होगा। व्यक्ति योगयुक्त होकर कर्मों को मुझे अर्पित करे। जो व्यक्ति अविद्या के वश होकर अहंकार से 'मैं कर्ता हूँ' यह समझकर कर्म करता है, वह मंद बुद्धि है। जो आत्म तत्व जानता है और गुणकर्मों का विभाग कर कर्म करता है वह कर्म में लिप्त नहीं होता।[5] कर्म, अकर्म व विकर्म की मीमांसा करते हुए बताया है कि जो कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देख लेता है, वह इस संसार में मुक्त होकर रहता है। जो कर्म के अंकुर से विहीन होकर कर्म करता है, उसका कर्म तत्व दर्शन से दग्ध हो जाता है। अतः मनुष्य को पल की तृष्णा छोड़कर तृप्त भाव से कर्म करना चाहिए। ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी वास्तव में कुछ नहीं करता। जो निरीह, संयमी, अपरिग्रही केवल जीवन के लिए आवश्यक कर्म करता है, उसे कोई पालक नहीं लगता। निर्द्वन्द्व, ईर्ष्यारहित, सिद्धि–असिद्धि में समान और यथालाभ संतुष्ट होता है, ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी उनमें बँधता नहीं

---

1. गणेश पुराण, 2.139.4
2. वही, 2.139.5–6
3. वही, 2.139.8–9
4. वही, 2.139.17–19
5. वही, 2.139.24–26

है।[1] गणेश गीता में कर्म के योग व कर्म के सन्यास दोनों को ही मोक्ष का साधन माना गया है लेकिन कर्म के योग को श्रेष्ठ माना गया है।[2]

क्रियायोगो वियोगश्चाप्युभौ मोक्षस्य साधने।

तयोर्मध्ये क्रियायोगस्त्यागात्तस्य विशिष्टते।।

कर्म के संग्रह को जो योग समझता है, वही तत्वज्ञ है। कर्म का केवल त्याग करना सन्यास नहीं है। इच्छारहित होकर कर्म करने वाला योगी है और वह ब्रह्म बन जाता है।[3] जो निर्मल जितात्मा, जितेन्द्रिय व स्वयं को सब प्राणियों मे देखने वाला कर्म करता है, वह उसमें लिप्त नहीं होता है। तत्ववेत्ता योगयुक्त होकर यह नहीं मानता कि वह कर्ता है।[4] हमारी ग्यारह इन्द्रियाँ कर्म करती हैं, उन सबको हमें ब्रह्म में अर्पित कर देना चाहिए। जैसे सूर्य नाना पदार्थों से युक्त होकर भी उनके गुण दोषों से निर्लिप्त होता है।[5] शारीरिक, वाचिक, बौद्धिक व मानसिक सब प्रकार की आशाओं को त्याग करके जो अपने चित्त की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं, वे योगी हैं।[6] योगहीन व्यक्ति फल की इच्छा से कर्म करता है। वह कर्मबीजों से बद्ध हो जाता है। वह दुःख प्राप्त करता है।[7] 'सुख' की विवेचनानुसार आत्मतृप्त व जितात्मा व्यक्ति जो सुख भोगता है, जिस आनंद की अनुभूति करता है, वास्तव में वही सुख है। क्योंकि यही सुख अविनाशी है। विषय आदि में वैसा नहीं है। जिन सुखों का उत्थान विषयों से होता है वे दुःख के कारण हैं। उनमें उत्पत्ति व नाश भी होता है। जो काम व क्रोध के कारण रहने पर भी उन्हे सह लेता है, उन पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह चिरकाल तक सुख भोगता है।[8]

गाणपत्य धर्म को योगदर्शन ने भी पर्याप्त प्रभावित किया। योग सांख्य के

---

1. गणेश पुराण, 2.140.23–25
2. वही, 2.141.2
3. वही, 2.141.5–7
4. वही, 2.141.7
5. वही, 2.141.8–9
6. वही, 2.141.12
7. वही, 2.141.39
8. वही, 2.141.21–24

प्रमाणों और तत्वों को मानता है। जिसके अनुसार मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन विवेक ज्ञान है। विवेक ज्ञान की प्राप्ति प्रधानतः, योगाभ्यास से ही हो सकती है। योग चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ मानता है – क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध। एकाग्र और निरूद्ध योगाभ्यास में सहायक होते हैं। योगाभ्यास के आठ अंग हैं जो योगांग कहलाते हैं।[1] गणेश पुराण में भी योग तत्वों को यथेष्ट महत्व दिया गया है। नियम, आसन, प्राणायाम, पान, अपान, पद्मासन, कुम्भक, रेचक, पूरक आदि यौगिक तत्व यहाँ बहुतायत में उल्लिखित हैं।[2] जैसे – मनुष्य सीढ़ियों पर चढ़ता जाता है, उसी प्रकार योगी पान व अपान को अपन वश में करे तथा पूरक, कुम्भ पूरक, कुंभक व रेचक का अभ्यास करे। ऐसा करने से प्राणी अतीत व अनागत का ज्ञानी बन जायेगा। बारह प्राणायाम करने पर धारणा बनती है। दो धारणाओं से योग बनता है। इस प्रकार योगी को प्राणायाम का सदा अभ्यास करना चाहिए।[3]

प्राणायामै ददिशभिरुत्तमैर्धारणा मत्य।

योगस्तु धारणे द्वे स्याद्योगीशस्त सदाऽभ्यसेत्।।

ऐसा करने वाला त्रिकालज्ञ हो जाता है।

ज्ञानयोज्ञ

ज्ञानयोज्ञ ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने का आध्यात्मिक मार्ग है। ज्ञानमार्ग के द्वारा भी आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध हो सकता है। ज्ञानयोगी आत्मरूप को परमात्मा का स्वरूप समझता है। वह परमात्मा से भिन्न नहीं, अभिन्न है। यही तादात्म्य भाव है।[4] ज्ञानयोगी के लिए सृष्टि ईश्वरमय है, ईश्वर ही है। ज्ञानी की दृष्टि में समता होती है। आत्मगत समत्व, वस्तुगत समत्व और गुणातीत समत्व, योग के ये तीनों ही स्वरूप उसके भीतर विद्यमान होते हैं।

सारे विषयों से मुक्त होकर ही ज्ञान–विज्ञान का धनी जब यज्ञ के लिए कर्म

---

1. हिरयन्ना एम., भारतीय दर्शन की रूपरेखा, नई दिल्ली, 1983, पृ. 38
2. गणेश पुराण, 1.3.10–19
3. वही, 2.141.34
4. वही, 2.140.20

करता है तब उसका कर्म लीन हो जाता है। मैं ही अग्नि हूँ, मैं ही सृष्टि हूँ और होता (हविष्ट अर्पित करने वाला) भी मैं ही हूँ। अतः मुझमें जला हुआ पदार्थ मुझे ही अर्पित हो जाता है।[1] ऐसा ब्रह्म में निश्चित व्यक्ति ब्रह्म को पा जाता है। ब्रह्म को अग्नि अर्थात ज्ञान को ही यज्ञ समझते हैं। कुछ लोग संयम की अग्नि में इन्द्रियों का दमन (हवन) करते हैं।[2] इन्द्रियों की अग्नि में विषय का हवन करते है। कुछ ऐसे लोग भी है जो प्राण व इन्द्रियों के कर्मों को ज्ञान से प्रदीप्त आत्मा में हवन करते हैं। कुछ लोग प्राण में अपान व अपान में प्राणों का हवन करते हैं। कुछ लोग दिव्य से, तप से, स्वाध्याय से [3] व ज्ञान से यज्ञ करते हैं। इन यज्ञों से उनका पातक नष्ट होता है। ज्ञान की अग्नि सारे कर्मों को दग्ध कर देती है।[4]

विविधान्यपि कर्माणि ज्ञानाग्निर्दहति क्षणात्।

प्रसिद्धोऽग्निर्यथा सर्वभस्मतां नयति क्षणात्।।

जो भक्तिमान, जितेन्द्रिय व ईश्वर परायण है, वही ज्ञान को प्राप्त करता है।[5]

भक्तिमानिन्द्रियजयी तत्परोज्ञानमाप्नुयात्।

लब्ध्वा तत्परमं मोक्षं स्वल्पकालेन यात्यसौ।।

शारीरिक, वाचिक, बौद्धिक व मानसिक सब प्रकार की आशाओं को त्याग करके जो अपनी चित्त की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं वे ही परमब्रह्म को प्राप्त करते हैं।[6]

कायिकं वाचिकं वौद्धमैन्द्रियं मानसं तथा।

त्यत्क्त्वाशां कर्म कुर्वन्ति योगज्ञाश्चिन्तशुद्धये।।

समत्व की भावना को उद्भासित करते हुए कहा गया है कि ज्ञान मार्ग पर चलने वाला योगी सुख–दुख, राग–द्वेष, भूख–प्यास में समान दृष्टि रखता है। अपने समान ही अन्य प्राणियों को देखता है। जो मुझे सब जगह व्याप्त देखता है, वही मुझे

1. गणेश पुराण, 2.140.23–24
2. वही, 2.140.26–29
3. वही, 2.140.33–35
4. वही, 2.140.45
5. वही, 2.140.47
6. वही, 2.141.10

जानता है। ऐसा व्यक्ति जीव मुक्त कहलाता है व मेरे प्रति आश्रित होता हैं।[1] इस प्रकार ज्ञान योग के द्वारा भी परमतत्व की प्राप्ति संभव है। तत्वज्ञानी का विषय भाव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टि में एक सच्चिदानंद परमात्मा की ही सत्ता है।[2] जो ज्ञान–विज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण के प्रति, गऊ व हाथी के प्रति समान भाव रखते हैं, कुत्ता व कुत्ते को मारकर खाने वाले के प्रति जिनके मन में समान भाव है, ऐसे लोग जीवनमुक्त हो जाते हैं। जो प्रिय व अप्रिय को पाकर हर्ष–द्वेष नहीं करते हैं वे ब्रह्मार्षित हैं, ब्रह्मज्ञ हैं, समबुद्धि हैं।[3] स्त्रोत व स्मार्ति कर्मों की इच्छा न रखते हुए जो व्यक्ति करे, ऐसा योगी जो कर्म का त्याग करने वाले हैं, उससे अच्छे हैं।[4]

श्रौतस्यांतानि कर्माणि फलं नेच्छन्समाचरेत्।

शस्तः स योगी राजेन्द्र अक्रियाद्योगमाश्रितात्।।

योग की प्राप्ति के लिए कर्म हेतु बनता है, लेकिन योग सिद्ध हो जाने पर श्रम और दम (दमन) हेतु बनते है।[5]

योग प्राप्त्यै महाबाहो हेतुः वभैव मे मतम्।

सिद्धयोगस्य संसिध्ये हेतु शमदयौ गतौ।।

इन्द्रियों के समुदाय को बुद्धि से नियमन करता हुआ धीरे–धीरे विरक्त बने। ये इन्द्रियाँ जहाँ–जहाँ जाती हैं, उधर से इन्हें रोकें। मन चंचल है, धैर्य से इसको अपने वश में करें। ऐसा कर पाने वाला योगी शांति प्राप्त करता है। वह जगत में स्वयं को व स्वयं में जगत को देखता है।[6] योग से जो मेरे निकट आता है, मैं आदर के साथ उसके निकट पहुँचता हूँ। उसे संसार के बंधनों से मुक्त कर देता हूँ, और फिर न कभी वह मुझे छोड़ता है, न मैं उसे छोड़ता हूँ।[7] इस प्रकार गणेश गीता में भक्ति, ज्ञान व कर्म योग की मीमांसा

1. गणेश पुराण, 2.142.15
2. वही, 2.142.23
3. वही, 2.141.17–19
4. वही, 2.142.1
5. वही, 2.142.2
6. वही, 2.142.12–14
7. वही, 2.142.15

द्वारा परमब्रह्म की प्राप्ति बतायी गयी है और सभी मार्गों को फलदायी बताया गया है।

आत्मा के बारे में कहा गया है कि ज्ञान व विज्ञान को समाप्त करने वाला पाप अपने मन से ही पैदा होता है। इन्द्रियाँ सबसे परे हैं अर्थात् औरों से सूक्ष्म हैं। उनसे भी परे मन है। मन से भी परे (सूक्ष्म व प्रबल) बुद्धि है। जो बुद्धि से परे है, वह आत्मा है।[1]

तस्यान्नियम्य तादान्यौ समनांसि नरो जयेत्।

ज्ञान विज्ञानयो शान्तिकरं पापं मनोभवम्।।

इस सत् को आत्मसात करके व स्वयं से अपने को अपने वश में रखकर कामरूपी शत्रु को मारने वाला व्यक्ति परमपद को प्राप्त करता है।[2]

अतंस्तानि पराण्याहुस्तेभ्यश्च परमं मनः।

ततोऽपि हि परा बुद्धिरात्मा बुद्धेः परो मतः।।

काम और क्रोध को महान पाप मानते हुये उसे रजस व तमस से उत्पन्न कहा गया है।[3]

कामक्रोधौ महापापौ गुणद्वय समुद्भवौ।

नयन्तौ वश्यतां लोकंन्विद्धयेतौ द्वेषिणौ वरौ।।

ये विश्व को अपने वश में कर लेते हैं। ये इतने बलशाली हैं कि मनुष्य के शत्रु हैं। जैसे माया जगत को, वर्षा का मेघ आकाश को, सूर्य जगत को ढँक लेता हैं, वैसी ही ये दोनों ज्ञानी व्यक्ति के ज्ञान को ढँक लेते हैं। इच्छा का वेग बलवान होता है, उसकी कभी पूर्ति नहीं होती।[4] वह बुद्धि, मन व इन्द्रियों पर अधिकार करके बैठ जाता है। व्यक्ति की प्रज्ञा इनसे आच्छादित हो जाती है। ये ज्ञानी को मोहित कर लेते हैं। इसलिए व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह मन के साथ इन्हें भी अपने नियंत्रण में रखकर विजय प्राप्त करें।[5]

'गणेश गीता' के दर्शन में सांख्य दार्शनिक विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखाता

---

1. गणेश पुराण, 2.139.41
2. वही, 2.139.42
3. वही, 2.139.37
4. वही, 2.139.38
5. वही, 2.139.40

है। साख्य दर्शन प्रकृति और पुरूष इन दो तत्वों के सहारे जगत का उत्पादन करता है। एक ओर प्रकृति है, जो भौतिक संसार (विषय, इंद्रिय, शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार इन सब का समूह) का मूल कारण है। प्रकृति संसार का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। यह सक्रिय एवं परिवर्तनशील होती है, साथ ही अचेतन या जड़ भी।[1] पुरूष शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा है, जो नित्य और विकारी है। पुरूष के सामीप्य मात्र से प्रकृति में क्रिया परिवर्तन होता है। यद्यपि पुरूष निर्विचार रहता है। प्रकृति और पुरूष के संयोग से संसार की उत्पत्ति होती है। यह संयोग विलक्षण प्रकार का होता है। संयोग द्वारा ही गुणों (सत्व, रज, तम) की संख्यावस्था में विकार उत्पन्न होता है। जिससे क्रमशः महत अहंकार, पंचज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्रा, पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। ईश्वर व मोक्ष के संदर्भ में भी सांख्यकारों ने विचार किया है। गणेशगीता में भी पुरूष, प्रकृति व उनके संयोग आदि की व्याख्या सांख्य दार्शनिक की विचारधारा से पूर्ण प्रभावित प्रतीत होती है। इसमें स्वयं गणेश अपने तात्विक स्वरूप व प्रकृति को विश्लेषित करते हैं।[2] कि मेरी प्रकृति के ज्ञान से मेरे प्रति विज्ञान की उत्पत्ति होगी। पृथ्वी, अग्नि, आकाश, अहंकार, चित्त, वायु, सूर्य, चंद्रमा, प्रजापति ये ग्यारह प्रकार की प्रकृति हैं।[3] तीनों लोक इनसे व्याप्त हैं। यही जीव बनती हैं। इनसे संसार का चर–अचर जन्म लेता है। इनके संग से सम्भूति (जन्म) होता है और इसी से रक्षा होने पर मेरी प्राप्ति होती है।[4] जो ज्ञानी मुझे प्राप्त करना चाहते हैं, वे जगत में मुझसे भिन्न कुछ नहीं देखते। पृथ्वी में गंध रूप में, अग्नि में तेजस रूप में, जल में रस रूप में वे मुझे ही देखते हैं।[5] तीनों विकारों वाली पृथ्वी सारे संसार को मोहित करती है। जो मेरे तात्विक रूप को जानते हैं वे इस मोह में अनुरक्त नहीं होते।[6] क्योंकि उन्हें पता है कि जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं, उसी प्रकार सबका

---

1. उपाध्याय, बलदेव, भारतीय दर्शन, पृ. 145
2. गणेश पुराण, 2.143.1–2
3. वही, 2.143.3–4
4. वही, 2.143.5
5. वही, 2.143,8–9
6. वही, 2.143.11–12

गम्य मैं ही हूँ।[1]

जीव की दो गतियाँ हैं – 1. शुक्ल

2. कृष्ण

पहली से वह ब्रह्म को प्राप्त करता है दूसरी से जन्म–मरण सम्बंधी संसार को।[2]

द्विविधा गतिरुद्दिष्टा शुक्ला कृष्णा नृपा नृप।

एकया परमं ब्रह्म परमा याति संसृतिम्।।

अग्नि, ज्योति, ब्रह्मा का दिन, उत्तरायण यह शुक्ल गति हैं। चंद्रमा, धूम्र, रात्रि व दक्षिणायन ये कृष्ण गति हैं।[3] दृश्य–अदृश्य जो कुछ भी है, वह सब ब्रह्म ही है।[4]

पाँच भूतों से बना शरीर नाशवान है, शेष अविनाशी। इन दोनों से भी ऊपर जो है वह शुद्ध ब्रह्म है।[5] ध्यानादि उपचारों से, पंचामृत, सुगंध, स्नान, वस्त्र, अलंकार, धूप–दीप, नैवेद्य, फल, ताम्बूल, दक्षिणा आदि से जो मेरी अर्चना करते हैं, उनके इष्ट को मैं पूरा करता हूँ।[6] लेकिन इससे भी ज्यादा अच्छी पूजा स्थिर मन से की गयी मानसिक पूजा को माना गया है। वह बिना इच्छा के की जाय तो और उच्चकोटि की मानी जाती है।[7] पूजा से पूर्व भूत शुद्धि करके, प्राणयाम में मन को एकाग्र करके, न्यास करके मूलमंत्र से मेर जप करे। जप को देवता को अर्पण कर दे।[8] इस प्रकार जो मेरी भक्ति करेगा वह अविनाशी मोक्ष को अवश्य प्राप्त कर लेगा।[9] इसमें भक्तियोग द्वारा ईश्वर प्राप्ति के मार्ग को सुलभ बताया गया है।

---

1. गणेश पुराण, 2.143.18
2. वही, 2.143.23
3. वही, 2.144.2
4. वही, 2.144.3
5. वही, 2.144.6
6. वही, 2.144.7–8
7. वही, 2.144.9–11
8. वही, 2.144.14–16
9. वही, 2.143.18

गणेश गीता में क्षेत्र, उसके ज्ञाता क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय संदर्भ में जो विवेचना मिलती है, वह इस प्रकार है :

पाँच महाभूत, उनकी पाँच तन्मात्रायें, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, अहंकार, मन, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख व चेतना इनका समूह क्षेत्र कहलाता है।[1]

पंचभूतानि तन्मात्राः पंचकर्मेन्द्रियाणि च।

अहंकारो मनो बुद्धिः पंच ज्ञानेन्द्रियाणि च।।

इच्छाव्यक्तं धृतिद्वेषौ सुखदुःखे तथैव च।

चेतना सहितश्चायं समूहः क्षेत्र मुच्यते।।

उसको जानने वाला मैं हूँ। मैं सर्वांतरपायी विभु हूँ। ये समूह तथा मैं ज्ञान का विषय बनते हैं।[2] अर्थात् परब्रह्म ही इस ज्ञान का विषय हैं।

प्रकृति से परे जो पुरूष है वह प्राकृतिजन्य गुणों का भोग करता है। सत्य, रज एवं तम इन तीन गुणों से देह में पुरूष को बद्ध कर देता है।[3]

एतदेव परं ब्रह्म ज्ञेयमात्मा परोव्ययः।

गुणान्प्रकृतिजान्मुक्ते पुरुषः प्रकृते परः।।

गुणैस्त्रिभिरियं देहे बंध्नाति पुरुषं दृढ़म्।

इन तीनों गुणों की अलग–अलग विशेषता होती है, जैसे जब मन में प्रकाश हो, शांति हो तो अर्थ है कि निषेध सत्व की वृद्धि हुयी है। लोभ अशांति, इच्छा व कर्मों का आरंभ आदि रज के गुण हैं। मोह, प्रवृत्ति, अज्ञान, प्रमाद ये तमोगुण के तत्व हैं।[4]

सत्व के अधिक होने से सुख व ज्ञान, रज के अधिक होने से कर्म में आसक्ति और तम के अधिक होने से निद्रा, आलस्य व दुख प्राप्त होता है।[5] ये तीनों गुण क्रमशः मुक्ति, संसार व दुर्गति के कारक है। अतः सदैव सत्व गुण से युक्त होने का प्रयास करना

---

1. गणेश पुराण, 2.146.20–22
2. वही, 2.146.23
3. वही, 2.146.30–31
4. वही, 2.146.32
5. वही, 2.146.33

चाहिए,[1]

एषुत्रिषु प्रवृद्धेषु मुक्तिसंसृतिदुर्गतिः।

प्रयान्ति मानवा राजस्तस्मात्सत्वयुतो भवः।।

और सर्वभाव से मेरी भक्ति करनी चाहिए।

मानव प्रकृति तीन प्रकार की होती है : 1. दैवी, 2. आसुरी, 3. राक्षसी। दैवी प्रकृति से मुक्ति मिलती है। चुगली न करना, क्रोध का अभाव, चपलता का अभाव, धैर्य व नम्रता, अभय, अहिंसा, क्षमा, शुचिता, अहंकार का अभाव आदि संकेत दैवी प्रकृति के हैं।[2]

अत्यधिक वाद–विवाद, अभिमान, अज्ञान, कोप ये सब आसुरी प्रवृत्ति के संकेत हैं। ये बंधन के कारक हैं।[3] निष्ठुरता, मोह, द्वेष, हिंसा दूसरों को हानि पहुँचाने वाले कर्म, सत्पुरूषों के प्रति अविश्वास, वेद तथा भक्तों की निंदा, पाखण्ड के वाक्यों में विश्वास, मलिन प्रकृति के व्यक्ति के साथ उठना–बैठना, दंभपूर्वक कर्म करना, दूसरों की वस्तुओं के प्रति लालच, अनेक प्रकार की कामनाएँ करना, सदा असत्य बोलना, दूसरों के उत्कर्ष सहन न कर पाना आदि राक्षसी प्रकृति के संकेत हैं।[4] इस प्रकृति के लोग रौख नरकगामी होते हैं। भाग्यवश नरक से निकल भी आते हैं तो पृथ्वी पर आकर कुबड़े, लंगड़े, अंधे, बहरे होकर जीते हैं। यहाँ अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं।[5] ऐसे मनुष्य मोह में फंसकर स्वयं को ही कर्त्ता–धर्ता व भोक्ता समझते हैं। यह प्रवृत्ति भी मनुष्य का अधःपतन करती है।[6] इसलिये ऐसी बुद्धि का त्याग करके दैवी प्रवृत्ति का आचरण करना चाहिए।[7]

भक्ति

गणेश गीता में भक्ति भी तीन प्रकार की बतायी गयी है[8] सात्विक, राजसी और

---

1. गणेश पुराण, 2.147.34
2. वही, 2.147.6
3. वही, 2.147.7
4. वही, 2.147.5–10
5. वही, 2.147.12
6. वही, 2.147.15–17
7. वही, 2.147.18
8. वही, 2.147.19–20

तामसी। जो भक्तिपूर्वक देवताओं का भजन करते हैं वे सात्विकी भक्ति के अनुयायी हैं। जो जन्म—मरण देने वाली है, वह भक्ति राजसी है। जो वेद के विरूद्ध क्रूर भाव से, अहंकार व दंभ लेकर प्रेत—भूत आदि की उपासना करते हैं, अपने शरीर को तो सुखाते ही हैं, भीतर बैठे हुये मुझे भी कष्ट देते हैं। ऐसी भक्ति तामसी है। इससे नरक मिलता है।[1] काम, लोभ, क्रोध व दंभ ये चारों नरक के द्वार है।[2]

तप

तप भी तीन प्रकार के बताये गये हैं – कायिक, वाचिक व मानसिक। विनय, शुचिता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, गुरू, ब्राह्मण, विद्वानों का आदर, देवताओं की पूजा व अपने धर्म का पालन ये कायिक तप हैं।[3]

तपोऽपि त्रिविधं राजन्कायिकांदिप्रभेवतः।

ऋजुतार्जवशौचाश्च ब्रह्मचर्यमंहिसनम्।।

गुरुविज्ञ द्विजातीनां पूजनं चातुरद्विषाम्।

स्वधर्मपालनं नित्यं कायिकं तपईदृशम्।।

प्रिय और सत्य वचन बोलना, वेद—शास्त्रों का अध्ययन करना आदि वाचिक तप हैं।[4] हृदय में प्रसन्नता बनाये रखना, शांत रहना, इन्द्रियों का निग्रह, सदा निर्मल भाव बनाये रखना मानसिक तप हैं।[5]

अन्तः प्रसादः शान्तत्वं मौनमिन्द्रियनिग्रहः।

निर्मलाशयता नित्यं मानसं तप ईदृशम्।।

बिना कामना के श्रद्धा से जो तप किया जाता है, वह सात्विक है।[6]

अकामतः श्रद्धया च यत्तपः सात्विकं तु तत्।

सत्कारपूजार्थं सदम्भं राजसं तपः।।

---

1. गणेश पुराण, 2.147.20—22
2. वही, 2.147.23
3. वही, 2.148.1—2
4. वही, 2.148.3
5. वही, 2.148.4
6. वही, 2.148.5

कार्य या पूजा के लिये दंभ के साथ राजस तप किया जाता है। ऐसा तप अस्थिर व जन्म–मरण देने वाला (बंधनयुक्त) होता है।[1] दूसरों को पीड़ा देने के लिये जो तप होता है वह तामस कहलाता है।[2]

तदस्थिरं जन्ममृती प्रयच्छति न संशयः।

परात्मपीडकं यच्च तपस्तामसुच्यते।।

दान

शास्त्रों के वचन को प्रमाण मानकर देशकालानुसार सत्पात्र को श्रद्धा से दिया गया दान सात्विक है।[3]

विधि वाक्य प्रमाणार्थ सत्पात्रे देशकालतः।

श्रद्धया दीयमानं यद्दान्नं तत्सात्विकं मतम्।।

उपकार व फल की आकांक्षा से दिया गया दान अथवा क्लेष से दिया गया दान राजस कहलाता है।[4]

उपकारं फलं वापि कांक्षद्भिर्दीयते नरैः।

क्लेशतोऽदीयमानं वा भक्त्या राजसमुच्यते।।

देश काल का ध्यान न रखकर अपात्र को अवज्ञा के साथ दिया गया दान, जिसमें सत्कार न रहे, वह तामस कहलाता है।[5]

अकालदेशतोपात्रेवज्ञया दीयते तु यद्।

असत्काराच्च यद्दतं तद्दन्नं तामसं स्मृतम्।।

ज्ञान

ज्ञान भी तीन प्रकार का माना गया है। नाना प्रकार के प्राणियों में एक परमब्रह्म को ही देखना, नाशवान पदार्थों में भी उसी एक तत्व के स्वरूप का ध्यान रखना, सात्विक

---

1. गणेश पुराण, 2.148.6
2. वही, 148.6
3. वही, 2.148.7
4. वही, 2.148.8
5. वही, 2.148.9

ज्ञान है।[1]

ज्ञानं च त्रिविधं राजन्शृणुष्व स्थिरचेतसा।

त्रिधा कर्म च कर्तारं ब्रवीमि ते प्रसंगतः।।

नानाविधेषु भूतेषु मामेकं दीक्ष्यते तु यः।

नाशवत्सु च नित्य मां तज्ज्ञानं सात्विकं नृप।।

विविध प्राणियों में पृथक् भाव से उसी एक परमतत्व गणेश की अनुभूति करना राजस ज्ञान है।[2]

तेषु वृत्ति पृथग्भूतं विविधं भावमाश्रितः।

मामव्ययं च तज्ज्ञानं राजसं परिकीर्तितम्।।

हेतुहीन, असत्य, देह को आत्मा मानकर जो ज्ञान दिया जाता है, वह तामस है।[3]

हेतुहीनसत्यं च देहात्मविषयं च चत्।

असद्ल्पार्थ विषयं तामस ज्ञानमुच्यते।।

कर्म

कर्म भी तीन प्रकार के निर्धारित किये गये हैं। कामना, द्वेष व दंभ से रहित जो नित्य कर्म हैं, जिससे फल की इच्छा न रहे, वह सात्विक कर्म है।[4]

भेदतत्रिविधं कर्म विद्धिराजन्मयेरितम्।

कामनोद्वेषदम्भैर्यद्रहितं नित्यकर्म यत्।।

जो बहुत क्लेश से किया जाय, जिसमें फल की इच्छा हो, वह राजस कर्म है।[5]

कृत विना फलेच्छा यत्कर्म सात्विकमुच्यते।

यद्वहुक्लेशतः कर्म कृतं यच्च फलेच्छया।।

---

1. गणेश पुराण, 2.148.10—11
2. वही, 2.146.12
3. वही, 2.148.13
4. वही, 2.148.14
5. वही, 2.148.15

अपनी शक्ति को न देखकर धन का क्षय करने वाला अज्ञानता से किया गया कर्म तमस कर्म है।[1]

क्रियमाणं नृभिर्दम्भात्कर्म राज समुच्यते।

अनपेक्ष्य स्वशक्तिं यदर्थ क्षयकरं च यत्।।

इसी क्रम में कर्ता भी तीन प्रकार के हैं। धैर्य तथा उत्साह से सम्पन्न, सिद्धि तथा असिद्धि में समान भाव रखने वाला, विकार रहित, अहंकारमुक्त जो कर्ता है, वह सात्विक है।[2] हर्ष व शोक के साथ हिंसा और फल की कामना से मलिन रूप में लोभी होकर कर्म करने वाला राजस है।[3] प्रमाद व अज्ञान के सहित दूसरे को कष्ट देने के लिए, आलस्य भरा तार्किक कर्ता तामसिक होता है।[4]

सुखं च त्रिविधं राजन्दुःख च क्रमतः शृणु।

सात्विक राजसं चैव तामसं च मयोच्यते।।

सुख–दुख भी तीन प्रकार के होते हैं। जो सुख पहले विष के समान अप्रिय लगे, अंत में दुख का परिहार करे, बुद्धि जिससे निर्मल हो, वह सात्विक सुख है।[5] विषयों के भोग से उत्पन्न हुआ सुख, जो आरंभ में अमृत जैसा व अंत में हलाहल जैसा लगे, वह राजस है।[6]

हालाहालपिवान्ते यद्राजसं सुखमीदितम्।

तन्द्राप्रमादसंभूतमालस्य प्रथवं च यत्।।

जो आलस्य व इन्द्रियों के प्रमाद से उत्पन्न हुआ हो, मोह जिसमें विद्यमान हो, वह तामसी सुख है।[7]

---

1. गणेश पुराण, 2.148.16
2. वही, 2.148.17–18
3. वही, 2.148.19
4. वही, 2.148.21–22
5. वही, 2.148.23
6. वही, 2.148.24
7. वही, 2.148.25

सर्वदा मोहकं स्वस्थ सुखं तामसमीदृशम्।

न तदस्ति यदेतैर्थमुक्तं स्यात्रिविधैगुणै।।

संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो इन गुणों से रहित हो। ब्रह्मा भी इन तीनों गुणों से मुक्त नहीं हैं। त्रिलोक में सभी कुछ तीन भागों में बँटा है।[1]

राजन्ब्रह्मपि त्रिविधमोतत्सदिति भेदतः।

त्रिलोकेषु त्रिधाभूतमखिलं भूप वर्तते।।

इस विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि गणेश गीता में ज्ञान, भक्ति, कर्म तीनों का योग समाहित है। जगत, आत्मा, परमात्मा, जीव इन सभी का तात्विक व आध्यात्मिक विश्लेषण किया गया है। यह चिंतन और विश्लेषण कहीं सांख्य दर्शन से प्रभावित लगता है तो कहीं योगदर्शन एवं अद्वैत दर्शन से। भगवद्गीता का भी इस पर प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है।

भगवद्गीता और गणेशगीता की तुलनात्मक विवेचना –

भगवद्गीता भारतीय दर्शन के इतिहास में लोकप्रियता की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व की है। यह मूलतः महाभारत के भीष्म पर्व का अंश है। इसमें महाभारत युद्ध के समय कर्तव्यविमुख एवं भयभीत हुये अर्जुन को कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेशों का संचयन है। इसमें उदार समन्वय की भावना है, जो हिन्दू विचारधारा की सर्वप्रमुख विशेषता रही है। देखा जाय तो यह किसी सम्प्रदाय विशेष ग्रन्थ नहीं है अपितु सम्पूर्ण मानव समाज की सांस्कृतिक वैचारिक निधि है।[2] वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी गीता को अपने सम्प्रदाय से जोड़ते है।[3] किन्तु सही अर्थों में इसमें औपनिषदिक् दार्शनिक परम्परा का निर्वहन हुआ है। डॉ. राधाकृष्णन का भी मत है कि गीता ने उपनिषदों के ज्ञान को सर्वसुलभ बनाया। इसके प्रत्येक अध्याय के अंत में 'गीता नाम का उपनिषद्' (भगवत्गीतासुउपनिषत्सु) कहा गया है। वैष्णवीय तंत्रसार में उपनिषद् तथा गीता के सम्बन्धों को सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया

1. गणेश पुराण, 2.148.26
2. राधाकृष्णन, इण्डियन फिलॉसफी, पृ. 520
3. गणेश पुराण, पृ. 338

है।[1]

सर्वोपनिषदोगावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

इससे सिद्ध होता है कि गीता ने अपने आदर्श उपनिषदों से ही ग्रहण किया था। इसका प्रमुख लक्ष्य मानव जीवन की विविध समस्याओं को सुलझाना, मनुष्य को कर्तव्य मार्ग पर प्रवृत्त करना एवं 'सदाचार' को प्रोत्साहन देना है। गणेश पुराण में भी 'गणेशगीता' नाम से जो संकलन किया गया है, उस पर 'भगवद्गीता' का यथेष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रश्न उठता है कि गणेश पुराण को भगवद्गीता के दर्शन से जोड़ने की आवश्यकता क्यों पड़ी। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि गणेश पुराण के रचनाकाल (1100–1400 ई.) में भी गीता समाज में प्रासंगिक रही होगी। उस लोकप्रियता से गणेश को सम्बद्ध करने के उद्देश्य से गाणपत्य अनुयायियों ने इस पुराण के अन्तर्गत गणेशगीता की रचना की होगी। भगवद्गीता में ज्ञान योग, कर्म योग व भक्ति योग का समन्वय होने के बावजूद भक्तियोग पर विशेष बल दिखता है।[2] गणेश पुराण में कौन से तत्व भगवद्गीता से ग्रहण किये गये हैं तथा किस पक्ष को अधिक महत्व दिया गया है, इसे जानने के लिये दोनों गीताओं (भगवद्गीता और गणेशगीता) का तुलनात्मक आंकलन अनिवार्य है।

दोनों गीताओं का सम्यक् अध्ययन करने पर गणेशगीता पर भगवद्गीता का पर्याप्त प्रभाव दिखायी देता है। जिस प्रकार 'भगवद्गीता' महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है, उसी प्रकार गणेश पुराण के क्रीड़ा खण्ड के अध्याय 138 से 148 को 'गणेशगीता' अभियान दिया गया है। गीता के 18 अध्यायों में 700 श्लोक हैं तो 'गणेशगीता' के 11 अध्यायों में 414 श्लोक हैं। भगवद्गीता का उपदेश युद्ध के आरंभ में कुरूक्षेत्र की पावन भूमि पर अर्जुन के प्रति दिया गया था। गणेश गीता का उपदेश युद्ध के बाद राजूर की पवित्र स्थली में राजा वरेण्य के प्रति दिया गया। यह स्थल जालना स्टेशन से 14 मील

---

1. वैष्णवीय तन्त्रसार, 2.15
2. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन, पृ. 45

पर स्थित है। गणेशगीता तथा भगवद्गीता दोनों में कर्मयोग, सांख्ययोग और भक्तियोगपरक जो वर्णन आये हैं, वे भी समान भावमय हैं। गणेशगीता में योगसाधना, प्राणायाम, तांत्रिक पूजा, मानसपूजा, सगुणोपासना आदि को विस्तार से समझाया गया है। विभूतियोग, विश्वदर्शन आदि का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इनमें शब्दगत अंतर अवश्य है, परंतु विषय दोनों के एक ही है।

जिस प्रकार अर्जुन को कृष्ण ने योग मार्ग का उपदेश दिया, उसी प्रकार राजा वरेण्य को गणेश ने यह योग बताया। इन दोनों गीताओं में दोनों श्रोताओं की मनः स्थिति और परिवेश भिन्न हैं। भगवद्गीता के प्रथम अध्याय से स्पष्ट है कि मोह के कारण अर्जुन की मूढ़ावस्था हो गयी थी। वह अपने कर्तव्य का ठीक–ठीक निर्णय नहीं कर पा रहे थे। वे निष्क्रियता, विमूढ़ता, भ्रांतता एवं विरक्ता से ग्रस्त थे। परंतु राजा वरेण्य की ऐसी विमोहग्रस्त स्थिति नहीं थी। अपितु वह साधनचतुष्टा सम्पन्न मुमुक्ष स्थिति में था। वह अपने धर्म और कर्तव्य को जानता था। उसने धर्मयुक्त राज्य किया था। गणेश द्वारा सिन्दूर का संहार कर दिये जाने के पश्चात वरेण्य उनसे प्रार्थना करते हैं – हे महाबाहु विघ्नेश्वर! आप सब शास्त्रों तथा विद्याओं के ज्ञाता हैं। मुझे विमुक्ति के लिये योग का उपदेश दें।[1]

विघ्नेश्वर महाबाहो सर्वविद्याविशारद।

सर्वशास्त्रार्थतत्वज्ञ योगं मे वक्तुमर्हसि।।

प्रार्थना से प्रसन्न हो गणेश ने उन्हें योगामृत युक्त गीता सुनायी।[2]

सम्यग्व्यवसिता राजन् मतिस्तेऽनुग्रहान्मम्।

श्रृणु गीता प्रवक्ष्यामि योगामृतमयीं नृप।।

गणेश ने 'सांख्यसारार्थ' नामक प्रथम अध्याय में योग का उपदेश देकर उन्हें शान्ति का मार्ग बताया है। यहाँ स्थितप्रज्ञ पुरूष का जो वर्णन किया गया है, वह भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में भी आया है। तद्नुसार ही गणेश कहते हैं – सच्चे योगयुक्त पुरूष के लक्षण तो और ही होते हैं। वे तृष्णा से मुक्त, दयामय, जगत का उद्धार

---

1. गणेश पुराण, 2.138.5
2. वही, 2.138.6

करने वाले, हृदय स्थित परब्रह्म को सदा ही सर्वत्र व्याप्त देखने वाले और सर्वदा संतुष्ट रहने वाले होते हैं। उनकी दृष्टि में सोना, मिट्टी, पत्थर सब समान है।[1]

मानेऽपमाने दुखे च सुखे सुहृदि साधुषु।

मित्रेऽमित्रेऽप्युदासीने द्वेष्ये लोष्ठं च कांचने।।

समो जितात्मा विज्ञानी ज्ञानीन्द्रिय जयावहः।

अभ्यसेत्सततः योगं तदा युक्तत्मो हि सः।।

शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य तथा मुझमें भी जो अभेद बुद्धि है, वही मेरे मत से उत्तम योग है। मैं ही सब कुछ हूँ और मुझमें ही सब है। मैं ही सत् चित्, आनंदरूप ब्रह्म हूँ।[2]

शिवे, विष्णौ च शक्तौ च सूर्ये मयि नराधिप।

याभेदबुद्धिर्योगः स सम्यग्योगो मतो मम।।

भगवद्गीता में भी स्थितप्रज्ञ के विषय में ऐसा ही बताया गया।[3]

प्रजाहाति यदा कामान् सर्वान्यार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।

गणेश गीता का कथन है कि शस्त्र आत्मा का छेदन नहीं कर सकते, अग्नि उसे जला नहीं सकती, जल उसे भिगो नहीं सकता, वायु उसे सुखा नही सकती और नरेश्वर, इस शरीर का वध होने पर भी वह अबध्य है।[4]

अच्छेद्यं शस्त्र संघातैरदाह्यनलेन च।

अक्लेद्यं च यवनैरशोष्यं मारुतेन च।।

अवध्यं वध्यमानेऽपि शरीरेऽस्मिन् नराधिप।

भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक 18,20,23,24 में भी यही कहा गया है।

पुष्पित लता के समान आपातरम्य 'अक्षयं सुकृतं भवति' आदि वेदवाक्यों से मोहित मूढ़ लोग यज्ञापि की ही प्रशंसा करते हैं। उससे अलग दूसरा कोई श्रेय–साधन

---

1. गणेश पुराण, 2.141.5–6
2. वही, 2.138.21
3. भगवद्गीता, 5.17
4. वही, 2.137.31–32

मानने को तैयार नहीं होते, अतः स्वर्ग–ऐश्वर्य की भोगबुद्धि में आसक्त वे स्वयं संसार के बंधन में पड़ते है।[1]

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रशंसत्ति श्रुतिरिताम्।

त्रयीवादरता मूढास्ततोऽन्यन्मन्वतेऽपि न।।

वर्णाश्रम – धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान करके मुझे अर्पण करने पर पाप–पुण्य के बीजाकुंर नष्ट हो जाते हैं।[2]

यस्य यद्विहितं कर्म तत्कर्त्तव्यं मदर्पणम्।

ततोऽस्य कर्मबीजानामुच्छिन्ना स्युमहांकुरा।।

ऐसा ही वर्णन गीता के दूसरे अध्याय में भी प्राप्त होता है।[3] इस प्रकार आत्मानात्मविवेक – बुद्धि से युक्त पुरूष पाप–पुण्य से मुक्त हो जाता है। यही लोग विधियुक्त कर्मों में सच्ची कुशलता है।[4]

धर्माधर्मो जहातीह तयाऽत्यत्त उभावपि।

अतो योगाय युज्जीत योगो वैधेषु कौशलम्।।

ऐसा योगी 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है। गणेश गीता तथा भगवद्गीता दोनों में ही इस स्थिति का वर्णन प्राप्त होता है।[5]

यदि दैव की अनुकूलता से वृद्धावस्था में भी ब्रह्म–बुद्धि प्राप्त हो जाये तब भी मनुष्य जीवन्मुक्ति को प्राप्त होगा।[6]

एवं ब्रह्मधिपं भूप यो विजानाति दैवतः।

तुर्यामवस्थां प्राप्यापि जीवन्मुक्ति प्रयास्यति।।

यही बात भगवद्गीता में भी कही गयी है। ऐसी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त पुरूष

---

1. गणेश पुराण, 2.137.33
2. वही, 2.137.36
3. भगवद्गीता, 2.42–46
4. वही, 2.137.49
5. वही, 281, 2.137.53–64
6. गणेश गीता, 2.137.69

कभी मोहित नहीं होता और अंतकाल में निष्ठा को प्राप्त होकर वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है।[1]

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुध्यति।

स्थित्वास्यामतकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति।।

'कर्मयोग' नामक दूसरे अध्याय में गजानन ने वरेण्य को कर्मयोग का उपदेश दिया है। 'सांख्य सारार्थ' नामक अध्याय में ज्ञान का प्रकाशमय मार्ग बताया गया है। किन्तु मार्ग देख लेना ही पर्याप्त नहीं, उस पर चलना भी आवश्यक है। गणेश गीता के पहले अध्याय में श्लोक 34 में कुछ विरोधाभास सा दिखाई देने पर वरेण्य इस संबंध में ठीक अर्जुन जैसा ही प्रश्न गजानन से पूछते हैं कि आपने ज्ञाननिष्ठ और कर्मनिष्ठ दोनों का वर्णन किया है। अब यह निश्चय करके बताइये कि इन दोनों में मेरे लिये कल्याणकारी कौन–सा है।[2] भगवद्गीता के तीसरे अध्याय के दूसरे श्लोक (गीता 3.2) में अर्जुन ने भी ऐसा ही अनुरोध किया है। गजानन ने स्थिर स्वभाव वालों के लिये 'बुद्धियोग' और अस्थिर स्वभाव वालों के लिये 'कर्मयोग' बताया है।[3]

विधियुक्त कर्म को आलस्य या विषाद से यदि कोई त्याग देता है तो वह निष्क्रियता को नहीं प्राप्त होगा। क्षण भर भी कोई बिना कर्म के नहीं रह सकता। माया के स्वभावानुसार तीनों गुण उससे कर्म करवाते हैं। कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिंतन भी निंदनीय है। केवल परमेश्वर की प्रीति के लिये कर्म करने वाला ही श्रेष्ठ पुरूष और सच्चा कर्मयोगी है।[4] जो कर्म मेरे लिये किये जाते हैं, वे कहीं और कभी कर्ता को बाँधते नहीं है। वासना या फलाशक्ति से किया गया कर्म देहधारी को बलपूर्वक बाँध लेता है।

---

1. भगवद्गीता, 2, 72
2. गणेश गीता, 2.138.1 – भगवद्गीता, 3.2
3. गणेश गीता, 2.138.2 अस्मिंश्चराचरे स्थित्यौ पुरोक्ते यं मयाप्रिय।
   सांख्यानां बुद्धियोगेन वैयोगेन कर्मणाम्। – भगवद्गीता, 3.4
4. गणेश पुराण, 2.139.8

यदर्थे यानि कर्माणि तानि बध्नन्ति न क्वचित्।

सवासनमिदं कर्म बध्नाति देहिनं बलात्।।[1]

मैंने ही सारे वर्ण और उनके धर्म एक साथ उत्पन्न किये हैं। वे ही धर्म–कर्म यज्ञ हैं। इसे निष्काम बुद्धि से करने पर कल्पवृक्ष–सा फल मिलता है।[2]

वर्णान् सृष्ट्वावदं चाहं सयज्ञांस्तान् पुरा प्रिय।

यज्ञेन ऋध्यतामेष कामदः कल्पवृक्षवत्।।

— भवगद्गीता, 3.7–10

भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में इसी के समानार्थक विचार व्यक्त है। गणेश गीता के उक्त श्लोक से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार विधियुक्त कर्म को निष्काम भाव से केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से करना ही 'यज्ञ' है। ऐसे 'यज्ञ' का वर्णन भगवद्गीता में जैसा आया है वैसा ही गणेश गीता भी उपलब्ध है।[3]

शस्तोऽगुणो निजो धर्मः साऽङ्दान्यस्य धर्मतः।

निजे तस्मिन् मृतिः श्रेयः परत्र भयदः परः।।

अपना धर्म गुणरहित हो तो भी दूसरे के सांगोपांग धर्म के उत्तम है। अपने धर्म में मर जाना भी कल्याणकारी है परंतु दूसरे का धर्म भय देने वाला है। यही तथ्य भगवद्गीता में वर्णित है।[4]

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।

'विज्ञान योग' नामक तीसरे अध्याय में भगवान गजानन ने अपने अवतार–धारण के सम्बंध में वे ही बातें बतलायी हैं, जो भगवद्गीता के चौथे अध्याय में कही गयी हैं। गणेश गीता के 'बैधसन्यास योग' नामक चौथे अध्याय में योगाभ्यास तथा प्राणायाम् के सम्बंध में विशेष बाते बतायी गयी है। यह कहा गया है कि प्राणायाम का अभ्यास करने

---

1. गणेश पुराण, 2.139.9
2. गणेश पुराण, 2.138.10
3. वही, 2.139.35
4. भगवद् गीता, 3.35

से भूत और भविष्य की बातों का ज्ञान होने लगता है।[1]

'अतीतानागतज्ञानी ततः स्याज्जगतीतले'

योगवृत्तिप्रशंसनयोग' नामक गणेश गीता के पाँचवे अध्याय में योगाभ्यास के अनुकूल–प्रतिकूल देश–काल–पात्र की चर्चा की गयी है।[2] योगी को सदा संयमी रहना चाहिए। राजा वरेण्य ने भी अर्जुन की तरह आशंका प्रकट की – यदि कोई योगभ्रष्ट हो जाये तो उसकी क्या गति होगी ?[3]

वरेण्य उवाच–योगमष्टस्य को लोकः का गतिः किं फलं भवेत्।

गीता में अर्जुन ने कृष्ण से ठीक यही प्रश्न किया था।[4] गजानन ने उत्तर दिया कि 'ऐसा योगी अपने योग्यतानुसार स्वर्ग' के भोगों को भोगकर उच्चकुल में जन्म लेता और फिर योगाभ्यास करके मुझको प्राप्त होता है।[5] 'पुण्य कर्म करने वालों में से कोई भी नरक में नहीं पड़ता।' भगवद्गीता में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।[6]

'बुद्धियोग' नामक छठें अध्याय में कहा गया है कि अपने किसी पूर्व सुकृत के कारण ही मनुष्य मुझे जानने की इच्छा करेगा। जिसका जैसा स्वभाव होता है, तद्नुसार ही मैं उसकी इच्छा पूर्ण करता हूँ। अन्तकाल में मेरी इच्छा करने वाला मुझमें मिलता है। मेरे तत्व को जानने वाले भक्तों का योग–क्षेम मैं चलाता हूँ।[7]

येन येन हिरूपेण जनो मां पर्युपासते।

तथा तथा दर्शयामि तस्मै रूपं सुभक्तितः।।

भगवद्गीता, 11.55

यत्कर्म कृन्मत्परमो मद्भक्तः सगंवर्जितः

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।

---

1. गणेश पुराण, 2.140.33, 'अतीतानागतज्ञानी ततः स्याज्जगतीतले'
2. वही, 2.141.7–9
3. वही, 2.140.24
4. भगवद्गीता, 6.23
5. गणेश पुराण, 2.141.26, नहि पुण्यकृता कश्चिन्नरकं प्रतिपद्यते
6. भगवद्गीता, 6.40, नहि कल्याणकृत कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति
7. गणेश पुराण, 2.144.40

'उपासनायोग' नामक सातवें अध्याय में भक्तियोग का वर्णन है। यहाँ सगुण भक्ति को ही 'उपासना' कहा गया है।[1] गणेशगीता में गणेश कहते हैं – लोक में जो अतिशय श्रेष्ठ वस्तु है, वह मेरी विभूति है।[2] इसी के समानार्थक भाव भगवद्गीता में भी अभिव्यक्त हैं।[3] 'विश्वरूप दर्शनयोग' नामक आठवें अध्याय में गणेश ने भी वरेण्य को विश्वरूप का दर्शन कराया है। जैसे समुद्र से उत्पन्न सारे जल बिन्दु समुद्र में ही लीन होते देखे जाते हैं, वैसे ही अनेक विश्व भगवान गणेश के उस विशाल रूप में समाते जाते हैं। वरेण्य उस अनन्त रूप से भयभीत होकर फिर उसी सौम्य रूप को दिखलाने की प्रार्थना करते हैं। इस पर गणेश ने सगुण रूप धारण किया।[4] और बताया कि भक्तों के कारण ही मुझे सगुण रूप धारण करना पड़ता है।[5]

योमां मूर्तिधरं भक्त्या मद्भक्तः परिसेवते।

स मे मान्योऽनन्य भक्तिर्नियुज्य हृदयं मयि।।

'क्षेत्रज्ञातृज्ञानज्ञेयविवेकयोग' नामक नवें अध्याय में क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ का ज्ञान तथा सत्व–रज–तम आदि तीनों गुणों के लक्षण भी बताये गये हैं।[6] लोग जिस–जिस रूप में मेरी उपासना करते हैं उनकी उत्तम भक्ति से प्रसन्न होकर मैं उन्हें उसी रूप में दर्शन देता हूँ। भगवद्गीता में भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन मिलता है।[7] 'उपदेश योग' नामक दसवें अध्याय में दैवी, आसुरी और राक्षसी तीन प्रकार की प्रकृतियों के लक्षण बताये गये हैं। जबकि भगवद्गीता में केवल दैवी और आसुरी दो ही प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन प्राप्त होता है। दैवी प्रकृति के लक्षण अपैशुन्य, अक्रोध, धैर्य, तेज, अभय, अमानित्व आदि हैं, जो मुक्ति प्रदान करते हैं। अतिवाद, अभियान, गर्व, भोगेच्छा आदि आसुरी स्वभाव के चिन्ह हैं जो पहले भोग तथा बाद में दुःख प्रदान करते हैं। निष्ठुरता, मद, मोह, द्वेष, क्रूरता,

---

1. गणेश पुराण, 2.143.6–9, भगवद् गीता, 2.7
2. वही, 2.143.25, 'यद्यच्छेष्टतम् लोक सा विभूतिर्निबोध में'
3. भगवद्गीता, 10.41 'न्यद्यपि भूतिमत् सत्वं श्रीमदर्जितमेव वा'
4. गणेश पुराण, 2.143.3–8
5. वही, 2.145.3
6. वही, 2.145.40
7. भगवद्गीता, 7.21

जारण–मरण प्रयोग, अविश्वास, अपवित्रता, निन्दा, भय एवं असत्य आदि राक्षसी प्रकृति के गुण हैं, जो नरक और दुःख देने वाले हैं। पूर्व कृत पापों के कारण ही नारकी जीव पुनः संसार में कुबड़े, अन्धे, पंगु एवं दीन–हीन होकर उत्पन्न होते हैं।[1] इसी प्रकार की अभिव्यक्ति गणेश गीता में भी हुयी है कि नरेश्वर! दैवकश नरक से निकल कर वे पृथ्वी पर कुबड़े, जन्म के अंधे, पंगु और दीन होकर हीन जातियों में जन्म लेते हैं।[2]

दैवान्निः सृत्य नरकाज्जायन्ते भुवि कुब्जकाः।

जात्यन्धाः पङ्गवो दीना हीन जातिषु ते नृप।।

काम, क्रोध, लोभ, और दंभ[3]

कायो लोभस्तथा क्रोधो दम्भश्चत्वार इत्यमी।

महाद्वाराणि वीचीनां तस्मादेतांस्तु वर्जयेत्।।

में चार नरकों के महाद्वार हैं। अतः इनका त्याग कर देना चाहिए। दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर मोक्ष का साधन करना चाहिये।

'त्रिविधवस्तु विवेक निरूपण योग' नामक अंतिम अध्याय में कायिक, वाचिक तथा मानसिक ये तप के तीन प्रकार बताये गये हैं। सत्, रज, तमस इन तीन गुणों के कारण ही यज्ञ, दान, ज्ञान, कर्म, कर्ता, सुख इत्यादि के तीन–तीन भेद हो जाते हैं। इनमें सत्वगुण श्रेष्ठ और मोक्षदायक है। चातुर्वर्ण्य भी इन्हीं गुणों के आधार पर प्रतिष्ठित हुये हैं। प्रत्येक के धर्म भी अलग–अलग हैं।[4]

स्व स्व कर्मरता एते मर्य्यप्याखिलकारिणः।

मत्प्रसादात् स्थिरं स्थानं यान्ति ते परमं नृप।।

अर्थात् अपने–अपने कार्मों में लगे हुये इन चारों वर्णों के लोग मुझे समर्पित करके यदि समस्त कर्मों का अनुष्ठान करते हैं तो मेरी कृपा से सुस्थिर परम पद को प्राप्त

---

1. भगवद्गीता, 91.23–28
2. गणेश पुराण, 2.146.13
3. वही, 2.146.23
4. वही, 2.147.34

होते हैं। इसी भाव की झलक भगवद्गीता में भी है।[1]

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

जिस प्रकार भगवद्गीता और गणेशगीता का आरंभ भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में हुआ था, उसी तरह इन दोनों गीताओं के श्रवण का परिणाम भी भिन्न–भिन्न हुआ। अर्जुन अपने छात्र धर्म के अनुसार युद्ध करने को तैयार हो गये परन्तु राजा वरेण्य पुत्र को राज्य भार सौंप कर मनोयोग से वन में चले गये। वहाँ उन्होंने योग के माध्यम से मोक्ष प्राप्त किया।[2]

त्यक्त्वा राज्यं कुटुम्बं च कान्तारं प्रययौश्चात्।

उपदिष्टं यथा योगमास्थाय मुक्तिमाप्तवान्।।

उस मुक्त स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है – जिस प्रकार जल जल में मिलने पर जल ही हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मरूपी गणेश का चिन्तन करते हुये राजा वरेण्य भी उस ब्रह्मरूप में समा गये।[3]

यथा जलं जलेक्षिप्तं जलमेव हि जायते।

तथा तद्यानतः सोऽपि तन्मपत्वमुपायौ।।

इसी प्रकार की भावाभिव्यक्ति भगवद्गीता के अंतिम अध्याय में भी प्राप्त होती है।[4] भगवद्गीता व गणेशगीता में अनेक समान बिन्दु हैं। भगवद्गीता पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं। किन्तु गणेशगीता पर भाष्य बहुत कम लिखे गये हैं। दोनों गीताओं की फलश्रुति एक ही है तथा दोनों ही साधक को साध्य (परम ब्रह्म की प्राप्ति) तक पहुँचने का एक जैसा ही मार्ग बताती है। दोनों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है। विषय की प्रतिपादन शैली भी लगभग एक सी है। दोनों में ही मानव के लिये आदर्श आचरण का प्रतिपादन किया गया है। दोनों ही ग्रन्थ यह मानते हैं कि हमारा आदर्श आचरण भी हमारे उद्देश्य

---

1. भगवद्गीता, 18.46
2. गणेश पुराण, 2.147.38
3. गणेश पुराण, 2.147.35
4. भगवद्गीता, 18.21

से नियंत्रित होता है। जैसा हमारा उद्देश्य या लक्ष्य होगा, हम उसी के अनुसार आचरण करेंगे। उद्देश्य के अनुकूल आचरण ही हमारे लिये उचित आचरण कहलायेगा। दोनों ही ग्रन्थों में मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष का वर्णन किया गया है।

गणेश पुराण में तंत्रोपासना

गणेश पुराण का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि गाणपत्य दर्शन अन्य समकालीन धर्म और दर्शन से प्रभावित होने के साथ–साथ तंत्रोपासना से भी प्रभावित था। विभिन्न आगम परम्पराओं से भी वह सम्बद्ध रहा। सामान्यतः तंत्रोपासना का प्रारंभ पाँचवीं शताब्दी से माना जाता है।[1] इसी काल में तंत्र दर्शन से वैष्णव और शैव भी प्रभावित होने लगे थे। गणेश पुराण का रचना काल 1100 से 1400 शताब्दी माना गया है।[2] गाणपत्य सम्प्रदाय का विकास 8–9 शताब्दी में होने लगता है। निष्कर्षतः माना जा सकता है कि तांत्रिक दर्शन ने नवीं शताब्दी में शैव, वैष्णव, बौद्ध और जैन मत के साथ–साथ गाणपत्य दर्शन को भी प्रभावित करना प्रारंभ कर दिया था। पूर्व मध्यकाल के दूसरे चरण 10–12 शताब्दी तक आते–आते तंत्रोपासना का चतुर्दिक प्रभाव दिखाई देने लगता है। इस काल की रचनाओं में यह प्रभाव स्पष्ट प्रतिबिम्बित हुआ है। उदाहरणार्थ, गरूड़ पुराण[3] एवं अग्नि पुराण[4] में तांत्रिक परम्परा का वृहद् विवेचन हुआ है।

11वीं शताब्दी तक सर्वत्र तंत्र का प्रचार–प्रसार हो रहा था। ऐसे में गणेश पुराण और गणेश उपासना इससे अछूता कैसे रह पाता ? तांत्रिकों ने गणेश को शक्ति[5] के साथ सम्बद्ध करके उनके सम्मान में विभिन्न प्रकार के मंत्रों की रचना की।[6] उन्हें मंत्रपति के रूप में प्रतिस्थापित किया गया।[7] इसके पीछे यह दर्शन था कि मंत्रपति की पूजा उन्हें विभिन्न काली छायाओं से बचाता है।[8] गणेश वामाचार तांत्रिक उपासना पद्धति में भी लोकप्रिय

1. हाजरा, आर. सी., पौराणिक रिकार्ड्स, पृ. 218
2. हाजरा, द गणेश पुराण, पृ. 99
3. गरुण पुराण की तिथि दसवीं शताब्दी निर्धारित हुयी है, हाजरा, आर. सी., पूर्वोद्धृत पृ. 186
4. हाजरा, आर. सी., वही. पृ. 262, अग्नि पुराण की तिथि 11वीं शताब्दी निर्धारित हुई है।
5. गणेश पुराण, 1.46.144–150
6. वही, 1.11.3–सप्तकोटि महामंत्रा गणेशस्यागमे स्थिताः
7. वही, 1.46.108
8. वही, 1.46.124, 2.85.35–39, 1.12.2– इदानीं श्रोतुमिच्छामि मन्त्रराजमिमं पितः।

थे। गणेश पुराण के "गणेश सहस्त्र नाम स्त्रोत" में उच्छिष्ट गणपति, उच्छिष्टगण, गुह्माचाररत, गुह्मागमनिरूपिता[1] उल्लिखित नाम यह प्रमाणित करते हैं कि तंत्र परम्परा में गणेश का महत्व किसी भी स्तर पर वामचक्र से कम नहीं रहा होगा।[2]

गणेश पूजा में तांत्रिक यंत्र[3] पूजा को उपासना के माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है। गणेश उपासकों को यह निर्दिष्ट किया गया है कि मंत्र संध्या, न्यास और यंत्रों के आरेखन को सम्पादित करने के लिये आगम निर्देशों का अनुपालन अवश्य करें। गणेश के सात करोड़ आगमिक मन्त्रों का वर्णन किया गया है। गणेश पुराण में एकाक्षर, द्वयाक्षर, चतुराक्षर, पंचाक्षर, षडाक्षर, अष्टाक्षर, दक्षाक्षर, द्वाद्वशाक्षर, षोडशाक्षर, अष्टादशाक्षर तथा बीस अक्षरों वाले मंत्रों का[4] विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। किन्तु इसके साथ यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ऋग्वेद का 'गणानांत्वा' महामंत्र आगमिक मंत्रों की तुलना में श्रेष्ठ है।[5] गणेश पुराण में गणेश की उपासना के अंतर्गत न्यास, भूत शुद्धि, मुद्रा, अभिचार, बीज, गुरूदीक्षा,[6] यंत्र, संस्कारादि के प्रयोग के बल दिया गया है, जो तांत्रिक के द्योतक हैं। इसके अतिरिक्त आवाहन, स्थापन, संशोधन, सन्निधान स्नान, गंध, पुष्प, दीप, नैवेद्य, शुद्धि, पाद–प्रक्षालन, लेपन, जप, यज्ञ, विसर्जन आदि तांत्रिक उपचारों का विस्तार से वर्णन है।

आरंभिक तांत्रिक साहित्य पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि तंत्र सम्प्रदाय में अनेक महत्वपूर्ण तत्वों का समावेश था। तंत्र साधना मुख्य रूप से शाक्त सम्प्रदाय से संबद्ध है तथापि शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों तथा बौद्ध एवं जैन धर्मो के तत्व स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं। वैद्यों तथा ज्योतिषियों के रूप तांत्रिक आम आदमी की सामाजिक एवं

---

1. गणेश पुराण, 1.46.83 – गुह्यचारतो गुहयो
   गुहयाशयो गुहाब्धिस्थो गुरुगम्यो गुरोर्गुरूः।
2. हाजरा, आर. सी., द गणेश पुराण, पृ. 93
3. गणेश पुराण, 1.69.14, हाजरा, आर. सी., द गणेश पुराण, पृ. 97
4. वही, 1.11.4, 20.29, 46.155, 50.2, 51.28, 91.32–33 आदि
5. वही, 1.36.19–20 – हाजरा, आर. सी., गणेश पुराण, पृ. 94
6. गणेश पुराण, 1.12.6–तंत्रोपासना में गुरु की विशेष महत्ता बतायी गयी है। गुरु और देवता में कोई अंतर नहीं होता। उससे दीक्षा लिये बिना साधक की सब क्रिया निष्फल हो सकती है।

भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। व्यवहारतः तंत्र सम्प्रदाय हिन्दू धर्म के समान ही था। उसकी दृष्टि सर्वथा सम्प्रदाय निरपेक्ष तथा भौतिकवादी थी। जन सामान्य के अत्यंत निकट होने के कारण आज भी इसका अस्तित्व कायम है। कर्मकाण्ड तथा गुह्याचारों के बिना तंत्र सम्प्रदाय की कल्पना असम्भव है। विंटरनित्ज के अनुसार तंत्रों तथा उनमें वर्णित धर्म की विचित्र विकृतियों का उद्‌भव आदिवासियों या आर्य अप्रवासियों के बीच प्रचलित लोक मान्यताओं और लोक परम्पराओं से नहीं हुआ, बल्कि यह धर्मतत्वज्ञों के असद्‌ज्ञान की देन है।[1]

कामानुष्ठान को तंत्र साधना में निकृष्टतम अनुष्ठानों में गिना जाता है किन्तु उनकी मान्यता थी कि यह उनके जादू–टोने का महत्वपूर्ण अंग है तथा इससे धरती की उर्वरा शक्ति तथा समृद्धि में वृद्धि होती है।

तंत्र साधना का उदय पूर्व मध्यकाल की आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ। इसमें एक ओर स्त्रियों, शूद्रों तथा बाहर से शामिल होने वाली जनजातियों को स्थान दिया गया और दूसरी ओर, तत्कालीन सामाजिक तथा सामंती श्रेणी विन्यास को भी मान्यता दी गयी। तंत्र सम्प्रदाय सामाजिक संघर्ष को तीव्र करने की बजाय सामाजिक सौहार्द्र तथा एकता स्थापित करने का धार्मिक प्रयास था। यह मध्य देश के बाहर की संस्कृति द्वारा अपने वर्चस्व के आग्रह का द्योतक था तथा ब्राह्मणीय समाज द्वारा उस वर्चस्व की स्वीकृति का प्रतीक भी था।

गणेश पुराण में कुछ जादू–टोने तथा तंत्र–मंत्र का उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में तंत्र सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ रहा था। इसमें वर्णित एक कथा के संदर्भ में उल्लिखित है कि अदिति ने दही–भात बालक के ऊपर उतार कर उसे बाहर फेंक दिया ताकि बालक के ऊपर शांति बनी रहे, दुष्टों की दृष्टि न पड़े।[2] अन्यत्र वर्णित है कि माता–पिता की कुशा की प्रतिकृति बनाकर उसे स्नान कराया

---

1. गणेश पुराण, पृ. 581
2. गणेश पुराण, 2.72 11–12, ततोऽदितिस्तु बध्यन्नं भ्रामयित्वाऽत्यजद्वहि।
   दुष्टदृर्ष्टिनपतास्य शांतये बालकोपरि।

गया।[1] समाज में प्रचलित संस्कारों में भी तंत्रवाद की झलक दिखाई देती है, जिसका वर्णन इस पुराण में कई स्थलों पर है। इसके अंतर्गत बालक को कुदृष्टि से बचाने तथा व्याधि से मुक्ति के विभिन्न उपचार बताये गये हैं।[2] जैसे – गणेश के एक कवच को भोजपत्र पर लिखकर जो कण्ठ में धारण करेगा उसे यक्ष, राक्षस, पिशाच किसी का भय नहीं रहेगा।[3] तीन बार जप करने से शरीर वज्र–सा एवं यात्रा निर्विध्न होती है।[4] युद्ध में लड़ने वाला विजयी[5] कवच इक्कीस बार पढ़ने वाला कारागार से मुक्त होगा।[6] गणेश पुराण में मारण, सम्मोहन, उच्चाटन जैसी अभिचारिक क्रियाओं के प्रयोग का उल्लेख है।[7] अभिमंत्रित कुशा के प्रहार से राक्षसों को मारने[8] **मंत्रितास्ते कुषास्तेषां मस्तकानच्छिनन्बहून्।** अभिमंत्रित चावल[9] **ज्ञात्वा कुमार स्तान्दुष्टान्मत्रयामास तंडुलान् महोत्कटः प्रचिक्षेप तंडुलान् पंच पंचसु।** व अभिमंत्रित पुष्प फेंके जाने[10], अभिमंत्रित जल फेंकने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[11] बीज सहित अघोर मंत्रों की सिद्धि[12], यज्ञ में पुत्र बलि[13] माँस, रूधिर[14] आदि के अर्पण का उल्लेख बामाचार तंत्र साधना का उपासना पर प्रभाव परिलक्षित कराता है। गणेश पुराण के एक स्थल पर अभिचार यज्ञ से राक्षसों के उत्पन्न होने का भी वर्णन हैं।[15] पशुबलि से देवताओं की प्रसन्न करने का वर्णन गणेश पुराण में

---

1. गणेश पुराण, 1.87.53
2. वही, 2.85.17
3. वही, 2.55.34
4. वही, 2, 85, 35
5. वही, 2, 86, 36
6. वही, 2, 85, 38
7. वही, 2, 85, 36
8. वही, 2, 109, 29
9. वही, 2, 10, 2
10. वही, 2, 123, 13
11. वही, 1, 9, 11
12. वही, 2, 66, 13
13. वही, 2, 66, 22
14. वही, 2, 66, 21
15. वही, 2, 68, 12–13

है।[1] सामान्य योग द्वारा शम्बर की हत्या का उल्लेख तांत्रिक विद्या का गणेश पुराण पर प्रभाव परिलक्षित करता है।[2] उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि गणेश उपासना, तांत्रिक उपासना पद्धति से गहरे तक प्रभावित थी। इसका प्रतिबिम्बन गणेश पुराण में दिखाई देता है। यह विश्लेषण अनिवार्य है कि गणेश उपासना, तांत्रिक परम्परा से क्यों जुड़ी ? इस सन्दर्भ में अनेक तथ्य उभर कर आते हैं।

तंत्रोपासना के अंतर्गत शूद्र और स्त्रियों को उपासना की स्वतंत्रता प्रदान की गयी थी। उन्हें तांत्रिक गायत्री मंत्र के जप की, जिसका अनुकरण वैदिक गायत्री के आधार पर किया गया था, स्वतंत्रता थी। शूद्रों को कुछ निश्वित संस्कार सम्बन्धी पूरी स्वतंत्रता दी गयी थी। उन्हें तीर्थ स्थलों पर जाने की स्वतंत्रता प्राप्त हो चुकी थी। इसका उल्लेख गणेश पुराण में हैं।[3] गणेश उपासना द्वारा वर्ण व्यवस्था में क्रमशः उच्च स्तर को प्राप्त कर लिये जाने का भी वर्णन मिलता है।[4] काणे महोदय का मत है कि इस काल में शूद्र द्वारा मंदिर बनवाने का विधान भक्ति–परम्परा में अनुमोदित था।[5] आर. एम. शर्मा का मत है कि दीर्घ काल से उपेक्षित शूद्रों को भी पूजा, उपासना तथा अन्य तांत्रिक क्रियाओं की स्वतंत्रता प्रदान करने के पीछे तंत्रोपासना को लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण बनाने का व्यापक उद्देश्य रहा होगा। तंत्रोपासना की समाज में इतनी महत्वपूर्ण स्थिति व लोकप्रिय हो जाने की पृष्ठ भूमि में अवश्य कुछ महत्वपूर्ण काकर होंगे। इन्हें इतिहासकारों ने विश्लेषित करने का प्रयास किया है। इसमें एक महत्वपूर्ण तथ्य यह उभरता है कि तंत्र परम्परा के अर्न्तगत ऐसे अनुष्ठानों व उपचारों का विधान था जो समाज के लिये अत्यंत उपयोगी थे। ये तांत्रिक चिकित्सक व ज्योतिषी के रूप में समाज के लोगों के मध्य लोकप्रिय हो रहे थे। वे लोगों की सेवा भी करते थे। जनसामान्य की अधिकांश आवश्यकताएँ भौतिक वस्तुओं से जुड़ी होती हैं तथा तंत्र परम्परा में भौतिक इच्छाओं की पूर्ति हेतु प्रभावकारी अनुष्ठान प्रस्तावित

---

1. गणेश पुराण, 2, 30, 26
2. वही, 2, 89, 12
3. वही, 1. 29. 13–14
4. वही, 2, 155, 18, 50
5. काणे, पी. वी. हिंस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग–2, पृ. 361

थे। इसी से तंत्र उपासना व परम्परा शीघ्र ही लोकप्रिय हो गयी। तंत्र दर्शन का अधिकांश भाग अनुष्ठानात्मक एवं व्यवहारपरक होने के कारण मानव के दैनिक जीवन से सम्बद्ध था। अतः समाज के आंतरिक जीवन में तंत्र परम्परा का समावेश होता गया।[1] पूर्व मध्यकाल में पुरोहितों तथा मंदिरों के लिये समय–समय पर दिये गये भूमि अनुदानों से भी तंत्रोपासना को प्रोत्साहन मिला होगा। सामान्यतः भूमि अनुदान की प्रक्रिया पाँचवी शताब्दी से प्रारंभ हो गयी थी। यद्यपि उसकी तीव्रता पूर्व मध्यकाल में अधिक उभर कर आयी। भूमि अनुदान के कारण तंत्र परम्परा के प्रभाव स्वरूप नयी पद्धति के मंदिर आदि बने, इससे भी तंत्रोपासना के प्रचार–प्रसार को बल मिला होगा।

तन्त्र परम्परा की लोकप्रियता के पीछे एक अन्य महत्वपूर्ण कारण भी दिखता है और वह यह है कि वैष्णव धर्म परम्परावादी था। अन्य मतावलम्बियों के लिये उसमें स्थान नहीं था, शंकराचार्य का अद्वैत एवं रामानुचार्य का विशिष्टाद्वैत जटिल व दुरूह था। ऐसी सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों में तांत्रिक दर्शन के प्रचार व लोकप्रियता प्राप्त करने का अच्छा अवसर था। तंत्र परम्परा पूर्णतः धर्म निरपेक्ष एवं लौकिक थी।[2] क्योंकि इसमें ऊँच, नीच, वर्ग, धर्म, लिंग आदि का भेदभाव नहीं था।। सभी सम्प्रदाय तथा वर्ग के लोगों को समान आचरण की स्वतंत्रता उपलब्ध थी। फलतः तांत्रिक दर्शन के लोगों की धार्मिक ही नही अपितु सामाजिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता होगा। इसी से वह अन्य सम्प्रदायों एवं वर्गों की तुलना में जन–सामान्य के अधिक निकट व लोकप्रिय हुआ। गाणपत्य सम्प्रदायियों ने लोगो के मध्य स्वयं को प्रचारित–प्रसारित व लोकप्रिय बनाने हेतु एक ओर स्वयं को वैदिक परम्परा, गणेश को वैदिक मंत्र 'गणानांत्वा गणपति' से जोड़ने का प्रयास किया, दूसरी ओर जनसामान्य में प्रचलित परम्परा से भी वे जुड़े और उस काल में लोकप्रियता प्राप्त करने में पूर्णतया सफल हुये।

---

1. बैनर्जी, जे. एन., पुराणिक एण्ड तांत्रिक रिलिजन, कलकत्ता 1966, पृ. 1–17
2. शर्मा, आर. एस., मैटीरियल मिलेयू ऑफ तान्त्रिसिज्म, पृ. 136

पंचम अध्याय

पंचम अध्याय

प्रतिमा शास्त्रीय स्वरूप का प्रारम्भ

गाणपत्य सम्प्रदाय के अनुयायियों ने गणेश जी को परब्रह्म व सर्वोच्च सत्ता का स्वरूप प्रदान किया तथा उनकी महत्ता की स्थापना हेतु साहित्य की रचना की। साहित्य में गणेश को सर्वोपरि देव तथा वैदिक देवों के सदृश स्वरूप प्रदान किया गया। इस प्रयास के अन्तर्गत गणेश के सगुण व निर्गुण दोनों ही स्वरूपों का वर्णन व व्याख्या की गयी। पुराणों में परब्रह्म को शब्द, रस, रूप और ग्रन्थ से शून्य माना गया है, फिर भी उनके द्विविध रूप प्रकृति और विकृति का वर्णन विष्णु धर्मोत्तर उप पुराण में मिलता है –

"रूप गन्ध रसैर्हीनः शब्दस्पर्शविवर्जितः।

प्रकृति विकृतिस्तस्य द्वे रूपे परमात्मनः।।"[1]

इसी पुराण में एक स्थल पर परब्रह्म के अव्यक्त, अदृष्ट और अलक्ष्य रूप को प्रकृति कहा गया है।

"अलक्ष्यं तस्य तद्रूपं प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता।[2]

विष्णु धर्मोत्तर उप पुराण में एक स्थान पर साकार रूप को विकृति स्वरूप अभिहित किया गया है जिसकी पूजा अर्चना द्वारा आराधना की जाती है।

"सकारा विकृतिर्ज्ञेया तस्य सर्व जगत्स्मृतम्।

पूजाध्यानादिकं कर्तु सकारास्यैव शक्यते।।"[3]

एक स्थान पर कहा गया है कि यही ब्रह्म का सगुण रूप है। ब्रह्म के प्रकृति अर्थात् निर्गुण रूप का कोई आधार नहीं होता है।

"अव्यक्ता हि गतिदुःख देहवद्स्भिरवाप्यते।"[4]

जबकि साकार और सगुण रूप आधार युक्त होता है। ब्रह्म की साकार

---

1. विष्णु धर्मोत्तर उप पुराण; 3 खण्ड, 46 अध्याय, 1–2 श्लोक
2. विष्णु धर्मोत्तर उप पुराण; 3 खण्ड, 46 अध्याय, 2 श्लोक
3. विष्णु धर्मोत्तर उप पुराण; 3 खण्ड, 46 अध्याय, 3 श्लोक
4. विष्णु धर्मोत्तर उप पुराण; 3 खण्ड, 46 अध्याय, 4 श्लोक

परिकल्पना ही आगे चलकर विभिन्न प्रतिमाओं के रूप में व्यक्त हुयी।[1]

गणेश पुराण में गणेश के निर्गुण स्वरूप के साथ ही उनके सगुण साकार स्वरूप का वर्णन है, जो पूर्व मध्यकालीन गणपति प्रतिमाओं के विकास की अवस्था को प्रकट करता है। इस पुराण में गणेश का विकसित विविध व बहुआयामी स्वरूप व्याख्यायित है। यह विविधता मुद्राओं, अलंकारों, आयुधों, वाहनों, स्वरूपों सभी में परिलक्षित होती है।

गणेश पुराण में गणेश का अत्यन्त मनोरम व भव्य स्वरूप इस प्रकार वर्णित है – विनायक की रत्नकांचन से युक्त महामूर्ति बनाकर, जिसमें उनके चतुर्भुज व त्रिनेती स्वरूप का अंकन हो, तथा जो नाना अलंकारों से शोभायमान हो, षोडशोपचार विधान के साथ पूजा करनी चाहिये –

"वैनायकी महामूर्ति रत्नकांचननिर्मिताम्।

चतुर्भुजां त्रिनयनां नानालंकारशोभिनीम्।

उपचारैः षोड़शभिः पूज्यन्तः विधानतः।।"[2]

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक गणेश का स्वरूप पूर्ण विकसित अवस्था तक पहुँच चुका था तथा वे हिन्दू देवमण्डल में महत्वपूर्ण स्थिति बना चुके थे। यद्यपि गणेश का यह स्वरूप बहुत प्राचीन नहीं है। वेदों और उपनिषदों में इन्हें किसी महत्वपूर्ण देव के रूप में नहीं वर्णित किया गया था। स्मृतियों और पुराणों में भी ये अन्य देवों के साथ ही वर्णित हैं। इनका स्वतन्त्र व साम्प्रदायिक व्यक्तित्व वहाँ परिलक्षित नहीं होता। गुप्तकाल के बहुत से अभिलेखों की शुरूआत गणेश शुभांक को नमन करने की गयी है या केवल सिद्धम् अंकित है। गणेश का उल्लेख नहीं है यहाँ तक कि कुछ अभिलेखों में ब्राह्मण धर्म के अन्य देवताओं जैसे विष्णु, वराह, सूर्य आदि को नमस्कार करके शुरूआत की गयी है।[3] ललित विस्तर आदि ग्रन्थों में जो उपास्य देवताओं की सूची मिलती है उसमें भी गणेश का उल्लेख नहीं है।

गणेश शिलालेखों व मूर्तियों की अपेक्षा साहित्य में पहले उल्लिखित हुये हैं।

---

1. मिश्र, हिन्दुमती प्रतिमा विज्ञान, मध्य प्रदेश, 2000 पृ. 46
2. गणेश पुराण, उपा. ख. अ. 21, श्लोक 10–11
3. जोशी नीलकण्ठ पुरुषोत्तम प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पटना, पृष्ठ 167

ऋग्वेद के **"गणानांत्वां गणपतिं हवामहे।"**[1] मन्त्र में यद्यपि गणपति शब्द का उल्लेख है परन्तु सायण के मतानुसार यह गणेश के लिये नहीं बल्कि 'ब्रह्मणस्पति' के लिये है जो देवादि गुणों के अधिपति हैं।

वाजसनेही संहिता के **"गणानांत्वां गणपति हवामहे।"**[2] मन्त्र का अभिप्राय अश्वमेघ के घोड़े से है न कि गणेश से। तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर 'गणपति' शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु पौराणिक युग के गणपति या गणेश के रूप में उनकी कल्पना नहीं हुयी है। वस्तुतः वैदिक देवमण्डल में गणेश की गणना हुयी ही नहीं है। गणपति का स्पष्ट उल्लेख 'मैत्रायणी संहिता'[3] की गणेश गायत्री तथा गणपत्यर्थशीर्ष जिसे गणेशोपनिषद् भी कहते हैं, में मिलता है। लेकिन विद्वानों ने गायत्री वाले इन भागों तथा गणेशोपनिषद् को बहुत बाद का माना है।[4] इसमें कोई सन्देह नही है कि ईसवी सन् के बहुत पहले गणपति का साहित्य में प्रवेश हो चुका था। मूर्तिकला के क्षेत्र में उनका अस्तित्व बहुत बाद में आया। कदाचित् इनकी उपासना को शास्त्रीय धरातल एवं मान्यता प्राप्त करने में समय लग गया होगा। पौराणिक युग में गणपति या गणेश के जिस स्वरूप का विकास हुआ है उसके अनेक तत्वों की कल्पना छठीं शताब्दी ई. पू. में ही कर ली गयी होगी। क्योंकि ई. पू. छठीं शताब्दी के 'बौधायन धर्मसूत्र' में गणेश के तर्पण की गणना की गयी है तथा इसी प्रसंग में उनके अनेक नामों की भी चर्चा की गयी है जैसे विघ्नविनायक, गजमुखी, एकदन्त, वक्रतुण्ड, लम्बोदर आदि। प्रारम्भ में गणेश मानवगृहसूत्र और याज्ञवल्क्य स्मृति में विनायक के रूप में उद्धृत हुये। मानवगृहसूत्र में विनायकों का उल्लेख हुआ है। उनकी संख्या चार है–शालकंटक, कुष्माण्ड राजपुत्र, उस्मित और देवयजन। यहाँ पर यह भी वर्णित है कि विनायकों द्वारा रूष्ट हो जाने पर लोगों की मनास्थिति एवं कार्यकलाप में विषमता आ जाती है। ये विनायक वस्तुतः दुष्ट आत्मायें हैं, इनसे ग्रसित होने पर व्यक्ति के कार्यों में बाधा उत्पन्न होती है। मानवगृहसूत्र में इन विनायकों की शांति हेतु विधान

---

1. ऋग्वेद 2.23.1
2. वाजसनेही संहिता 23.19
3. मैत्रायणी संहिता 2.9.1.6
4. जोशी नीलकण्ठ पुरूषोत्तम, पृष्ठ 167

बताया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में गणपति की पूजा का विस्तृत विधान है इसमें भी विनायकों को दुष्टात्मायें माना गया है। इनसे पीछा छुड़ाना ही उनकी पूजा का प्रमुख ध्येय था।

छठीं–सातवीं शताब्दी के लगभग गाणपत्य सम्प्रदाय के अस्तित्व में आने के बाद गणपति–स्वरूप के विभिन्न पक्ष अस्तित्व में आये। उनके स्वरूप की कुछ विशिष्टतायें पहले से ही आकार लेने लगी थीं। गजमुखी एकदन्त स्वरूप तथा उनके जन्म से सन्दर्भित अनेक कथानक विभिन्न पुराणों में रखे गये जिनका विस्तृत विवेचन पृथक्–पृथक् मिलता है।

पुराणों आगमों तथा ग्रन्थों में गणपति–प्रतिमा को अनेक रूपों में प्रदर्शित करने का आख्यान किया गया है। गणपति प्रतिमा–विधान का प्राचीनतम विवरण वराहमिहिर की वृहद्संहिता में है। जिसके अनुसार एकदन्ती, गजमुखी और लम्बोदर गणपति को परशू तथा कंदमूलधारी प्रदर्शित करना चाहिये।

"प्रथमोधिप गजमुखः प्रलम्ब जठरः कुठारधारी स्यात्।"(1)

यद्यपि वृहद्संहिता में वर्णित गणपति प्रतिमा–लक्षण के इस विवरण को विचारकों ने क्षेपक माना है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि गुप्त काल के आरम्भिक चरण में गणपति की प्रतिमाओं का निर्माण प्रतिमाशास्त्रीय आधार पर होने लगा था।

पुराणों में गणेश का स्वरूप

पुराणों में गणेश के स्वरूप का प्रतिमा शास्त्रीय विवेचन प्राप्त होता है। विष्णु धर्मोन्तर उप पुराण(2) के अनुसार विनायक गजमुखी और चतुर्भुजी होने चाहिये तथा उनके दायें हाथों में शूल और अक्षमाला तथा बायें हाथ में परशु और मोदक–पत्र हो लेकिन उनका बायाँ दाँत नहीं दिखाई दे तथा लम्बोदर व बड़े कानों वाले विनायक ने सिंहचर्य तो धारण किया ही हो तथा नागयज्ञोपवीत धारण भी किये हों। ऐसा उल्लेख मिलता है। मत्स्य पुराण(3) के अनुसार विनायक, गजमुखी, त्रिनेत्रधारी विशाल उदर वाले चतुर्भुजी हैं।

1. बृहत्संहिता 58.59
2. विष्णु धर्मोत्तर उप पुराण, 3 खण्ड, 71 अध्याय, 13–16 श्लोक
3. मत्स्य पुराण 260, अध्याय 52–55 श्लोक

नागयज्ञोपवीत धारण करते हैं। एकदन्ती व विशाल कर्ण वाले हैं। उनके दायें हाथ में स्वदन्त तथा उत्पला बायें हाथों में मोदक व परशु हैं। उनका मुख विशाल तथा स्थूल कन्धें है। उनके साथ सिद्धि व बुद्धि के भी होने का उल्लेख है। भूषक वाहन भी वर्णित हैं।

भविष्यपुराण[1] में गणेश के कमल पर आसीन स्वरूप का उल्लेख है जो चतुर्भुजी, त्रिनेत्र युक्त, आभूषणों से सुसज्जित, शीर्ष पर चन्द्र धारण किये, नाग यज्ञोपवीत पहने हुये हैं। उनके दायें हाथों में क्रमशः दन्त, अक्षमाला तथा बायें हाथों में परशु और मोदक हैं। इसी पुराण में एक अन्य स्थल पर हाथों में मूसल, पाश और वज्र धारण करने का भी वर्णन है।

लिंग पुराण[2] में गणेश के त्रिशूल और पाश धारण करने का उल्लेख है वे विभिन्न प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित हैं। वराह पुराण एवं वामन पुराण में भी गणेश जी को इन्हीं विशेषणों द्वारा अंकित किया गया है।

नारद पुराण[3] में उनके रक्तवर्णी, त्रिनेत्रधारी तथा चतुर्भुजी स्वरूप का वर्णन मिलता है। वे अभय व वरद मुद्रा धारण किये हुये हैं तथा उनके अन्य दो हाथों में पाश और अंकुश है। उनके एक हाथ में कमल का फूल दर्शाया गया है। अन्य दूसरे स्थान पर[4] अपनी पत्नी के साथ बैठे हुये चारों हाथों में पाश, अंकुश सुधा पात्र और मोदक धारण किये हुये उल्लिखत किया गया है। एक अन्य स्थल पर[5] उनका शक्ति के साथ भी उल्लेख हैं।

पद्म पुराण[6] भी गणेश जी के विशाल शरीर, एकदन्त, विशाल उदर और बड़े नेत्रों का वर्णन करता है। उन्होंने कटिसूत्र और काला मृगचर्म धारण किया है। नाग–यज्ञोपवीत के अतिरिक्त शीर्ष पर चन्द्रमौलि सुशोभित हो रहा है। वाहन मूषक का भी उल्लेख है। वह गजमुखी, सुन्दर कर्ण, द्विभुजी हैं तथा हाथों में पाश और अंकुश धारण किये हुये हैं, पद्र पुराण में उनके 12 नामों का उल्लेख भी मिलता है।[6] गजपति, विघ्नराज, लम्बतुण्ड,

---

1. भविष्य पुराण, ब्रह्मपर्व, 29 अध्याय, 3–6 श्लोक
2. लिंग पुराण, 105 अध्याय, 9–12 श्लोक
3. नारद पुराण, प्रथम पाद, 66 अध्याय, 139 श्लोक
4. नारद पुराण 1.65.82
5. नारद पुराण 1.68.17
6. पद्म पुराण, 61 अध्याय, 31 से 32 श्लोक

गजानन, द्वैमातुर, हेरम्ब, एकदन्त, गणाधिप, विनायक, चारूकर्ण, पाशुपाल, भवत्तनय यह नाम उनके कुछ मूर्तिविज्ञानी स्वरूप की भी अभिव्यक्ति करते हैं। हेरम्ब गणेश इसी सन्दर्भ का प्रतीक स्वरूप हैं। इस पुराण में टेढ़ीशुण्ड व विशाल शरीर वाले एवं लिंगस्वरूप का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

अग्नि पुराण[2] के अनुसार वे एकदन्त, विशाल उदर वाले तथा वक्रतुण्ड हैं। एक हाथ में स्वदन्त और अन्य में आयुध धारण किये हुये हैं। इसी पुराण में एक अन्य स्थल पर गणेश के मूर्तिशास्त्रीय स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार मिलता है कि वे गजमुखी, वक्रतुण्ड, एकदन्त, बड़े उदर वाले, धूमवर्णी, चतुर्भुजी हैं। चारों भुजाओं में मोदक, दण्ड, पाश, अंकुश धारण किये हैं। गणेश के अनेक नामों का उल्लेख भी इस पुराण में प्राप्त होता है।[3] कुछ नाम उनके प्रतिमा के स्वरूप को उद्घाटित करते हैं जैसे वक्रतुण्ड, एकदन्त, महोदर, गजवक्र, लम्बकुक्षी, धूम्रवर्ण। अग्नि पुराण[4] में ही एक स्थल पर उल्लेख आया है कि मानव शरीर पर गजमुखी विशाल उदर व विशाल तुण्ड तथा यज्ञोपवीत धारण किये चतुर्भुजी गणेश क्रमशः स्वदन्त, परशु, मोदक व उत्पला (कमल) धारण किये हुये हैं। गरूड़ पुराण[5] में गणेश के बारह नाम दिये गये हैं जिनमें एकदन्त, वक्रतुण्ड, त्रयम्बक (त्रिनेत्र), नीलग्रीवा, लम्बोदर, धूम्रवर्ण, बालचन्द्र, हस्तिमुख जैसे नाम उनके प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप की ओर इंगित करते हैं।

स्कन्द पुराण[6] गणेश के पंचमुखी, दशभुजी और त्रिनेत्र स्वरूप का वर्णन करता है। पाँच मुखों में मध्य का मुख श्वेतवर्णी, त्रिनेत्री और चार दन्त युक्त है। उनके दसों हाथों में पाश, पद्व, परशु, अंकुश, दन्त, अक्षमाल, लंगल, मूसल, वरद, मुद्रा और मोदक पात्र हैं। वे विशाल उदर वाले हैं तथा मेखल धारण किये हुये हैं। योगासन मुद्रा में बैठे है। शीर्ष

---

1. पद्व पुराण, एम. सी. आप्टे, आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पृ. 14 से 36 तक
2. अग्नि पुराण, आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना, पृ. 7.11.2
3. अग्नि पुराण, वही 7.23.26
4. अग्नि पुराण, वही 50.23.36
5. गरूड़ पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे, 129.25.26
6. स्कन्द पुराण, प्रथम खण्ड, प्रथम अध्याय, 11 श्लोक

पर पतला चन्द्रमा शोभित है। एक अन्य स्थल पर[1] उन्हें स्थूल व छोटे (बौने) शरीर वाला, नागयज्ञोपवीत धारण किये हुये बताया गया है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में उनके आठ नामों में से कुछ नाम प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप जैसे लम्बोदर, एकदन्त, शूर्पकर्ण का उल्लेख करते हैं।[2] शिवपुराण उनके रक्त वर्ण और कमल पर आसीन स्वरूप का उल्लेख करता है। उनका शरीर विशाल, आभूषणों से सुसज्जित, चतुर्भुज है। उन्होंने हाथों में पाश, अंकुश, दन्त और मोदक धारण कर रखा है।[3]

भागवत पुराण में गणेश जी के विशाल उदर, लम्बी भुजायें, स्वस्थ व सुन्दर व्यक्तित्व, त्रिनेत, रक्त वर्ण तथा मध्यान्ह के सूर्य के सदृश प्रकाशवान स्वरूप का वर्णन है।[4]

मुद्गल पुराण में भी गणेश के स्वरूप से सन्दर्भित विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। यह पुराण गणेश के नौ विभिन्न स्वरूपों का विवरण होता है, जिनमें अधिकांश प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप ध्यान से जुड़े हुये हैं। मुद्गल पुराण[5] ने गणेश को चतुर्भुजी, विशाल शरीर, गजमुखी, विशाल उदर वाला बताया है जो मुकुट, कर्ण आभूषण, गले में सुन्दर आभूषण, कमर में सर्प लपेटे व नूपुर पहने हैं। उन्होंने हृदय पर चिंतामणि की माला धारण की है तथा सिद्धि–बुद्धि से युक्त हैं। मुद्गल पुराण में भी गणेश का त्रिनेत्र[6] चारों भुजाओं में पाश, अंकुश, दन्त और अभयमुद्रा युक्त[7] स्वरूप प्राप्त होता है।

मुद्गल पुराण[8] के अन्य प्रतिमाशास्त्रीय विवेचन के अन्तर्गत वाहन मूषक का वर्णन है। गणेश के स्वरूप को विवेचित करते हुये एक स्थल पर[9] उन्हें मनुष्य व गज के शरीर का मिला–जुला रूप बताया गया है।

---

1. स्कन्द पुराण, तृतीय खण्ड, द्वितीय अध्याय, 26 से 28 श्लोक
2. ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणपति खण्ड, 13 अध्याय, 5 श्लोक
3. शिव पुराण, कैलाश संहिता, 7 अध्याय, 14 से 16 श्लोक
4. भागवत पुराण, 35वाँ अध्याय, 8 श्लोक
5. मुद्गल पुराण, प्रथम खण्ड, चतुर्थ अध्याय, 15 से 18 श्लोक
6. मुद्गल पुराण, प्रथम खण्ड, षष्ठ अध्याय, 29 श्लोक
7. मुद्गल पुराण, प्रथम खण्ड, सप्तम अध्याय, 48 से 50 श्लोक
8. मुद्गल पुराण, प्रथम खण्ड, 21 अध्याय, 33 से 35 श्लोक
9. मुद्गल पुराण, द्वितीय खण्ड, 53 अध्याय, 12 से 13 श्लोक

मुद्गल पुराण[1] में गणेश को हेरम्ब, सूर्यकर्ण, एकदन्त, ढुंढि कहा गया है। उन्हें सिद्धि और बुद्धि का पति भी कहा गया है।

गणेश पुराण[2] में गणेश के शारीरिक सौन्दर्य, स्परूप और प्रतिमाशास्त्रीय लक्षणों का उल्लेख मिलता है। उनके सौन्दर्य व स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि उँगलियों के नख कमले के सदृश लाल हैं। **"पादांगुली नखश्री भिर्जित रक्ताब्ज केसरम्"** शीर्ष पर सुन्दर चन्द्रमा सुसज्जित है। सूर्य की किरणों के सदृश रक्त वस्त्र धारण किया है। वे चतुर्भुज हैं तथा हाथों में उन्होंने खड्ग, खेटक, धनुष और शक्ति धारण किया है। **"खड्ग खेट धनुः शक्ति शोभिचारु चतुर्भुजम्"** वे एकदन्त हैं। उनके नेत्र सुन्दर हैं। सिर पर मुकुट है।

इस पुराण में[3] अन्यत्र चतुर्भुजी स्वरूप का ही वर्णन है। यहाँ पर उनके हाथों में पाश, अंकुश, परशु और पद्व धारण करने का उल्लेख भी किया गया है। **"पाशं सृणिं च परशुं कमलं च भुजैर्दधत्।"** उनके शारीरिक सौन्दर्य वस्त्र व आभूषणों का वर्णन भी है।

गणेश पुराण में[4] ही एक अन्य स्थल पर उनके अलग प्रकार के प्रतिभास्वरूप का वर्णन मिलता है। जिसमें उनके पंचमुख दशमुख होने और सिर पर सुन्दर चन्द्रमा अंकित होने का चित्रण है। चारों हाथों में आयुध हैं, किन्तु आयुधों के नाम का उल्लेख नहीं है।

गणेश के स्वरूप का वर्णन करते हुये इस पुराण[5] में कहा गया है कि वे एकदन्त तथा विशाल शरीर वाले हैं, जो स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान हैं। विशाल उदर तथा अग्नि के सदृश दमकते विशाल नेत्रों वाले हैं। मूषक पर सवार हैं। गणों द्वारा घिरे हैं। जिनके हाथों में चमर है। गणेश गजमुखी व नागयज्ञोपवीत युक्त हैं। एक अन्य स्थल पर

---

1. मुद्गल पुराण, सप्तम खण्ड, 8 अध्याय, 13 से 17 श्लोक
2. गणेश पुराण, 1.12.33 से 38 तक
3. गणेश पुराण, 1.40.33 से 38 तक
4. गणेश पुराण, 1.69.14 से 16 तक
5. गणेश पुराण, 1.69.14 से 16 तक

उनके चारों हाथों में पाश, अंकुश, माला और दन्त होने तथा एकदन्ती, चन्द्रमौलि, उदर के चारों और सर्प धारण किये स्वरूप का वर्णन मिलता है।

"पाशांकुश करं माला दस्तहस्तं सुशोभनम्।।

मुक्तामणि गणोपेतं सर्पराज युतोदरम्।।"[1]

गणेश पुराण के ही एक अन्य विवेचन के अनुसार वह गजमुखी, दशमुखी व कर्ण आभूषण युक्त हैं। सूर्य के सदृश देदीप्यमान हैं। सिद्धि–बुद्धि युक्त हैं तथा अपने हाथों में मुक्ता माला और परशु धारण किये हुये हैं। उनके उदर पर सर्प विद्यमान है।

"तेजोराशिः पुरस्तस्याः सूर्यकोटिसमप्रभः।

गजाननो दशभुजो कुंडलाभ्यां विराजितः।

कामातिसुंदर तनुः सिद्धिबुद्धि समायुतः।

मुक्तामालां च परशुं बिभ्रद्यो मेघ पुष्पजम्।

कांचन कटिसूत्रं च तिलकं मृगनाभिजम्।

उरगं नाभिदेशे तु दिव्यांबर विराजितम्।।[2]

इस पुराण में उनके वाहन के रूप में मयूर का उल्लेख किया गया है। **"मयूरवाहनो देववृन्द वन्दित पादुकः।।"**[3]

गणेश के स्वरूप का विवेचन करते हुये आगे कहा गया है कि वे एकदन्ती, दिन्ती, त्रिनेत्रधारी, दशभुखी है। **"एकदन्तं द्विदन्तं च त्रिनेत्रं दशहस्तकम्।"**[4] वे विशाल कर्ण वाले व सर्प का आभूषण धारण करने वाले हैं। जब वे बालक रूप में विशालकाय रूप धारण करते हैं उस समय के स्वरूप का भी वर्णन प्राप्त होता है।[5] उस समय में सिंहारूढ़ होकर अपने हाथों में धनुष, बाण, खड्ग और परशु धारण करते हैं। उस समय उनके साथ सिद्धि व बुद्धि भी थीं। यह पुराण[6] गणेश के चतुर्भुजी, गजमुखी, त्रिनेत्र,

---

1. गणेश पुराण, 1.87.31 से 35 तक
2. गणेश पुराण, 2.5.29 से 31 तक
3. गणेश पुराण, 2.17.28
4. गणेश पुराण, 2.40.23
5. गणेश पुराण, 2.63.7 से 9 तक
6. गणेश पुराण, 2.72.29

विशाल कर्ण वाले स्वरूप का उल्लेख करता है। उनके सभी अंग अत्यन्त सुन्दर हैं तथा आभूषणों से सुसज्जित हैं। इसमें गणेश की प्रतिमा का बहुत ही सुन्दर स्वरूप प्राप्त होता है, जहाँ वे दशभुजा युक्त हैं। विविध प्रकार के आभूषण धारण किये हैं, उनके तीन मुख्य हैं, मध्य का मुख विष्णु, दायाँ मुख शिख और बायाँ मुख ब्रह्मा का है। वे सर्प के ऊपर पद्मासन मुद्रा में बैठे हैं।

"मध्ये नारायणमुखो दक्षिणे च शिवाननः।

वाये ब्रम्हमुखः शेषे पद्मासनगतो विभुः।

तत्फणामण्डलच्छायः कुन्दकर्पूरसन्निभः।"[1]

गणेश पुराण में यह वर्णन मिलता है कि गणेश का स्वरूप युग के अनुसार परिवर्तित हो जाता है। सतयुग में विनायक दशमुखी होते हैं, सिंहारूढ़ होते हैं। त्रेतायुग में मयूरेश्वर के नाम से जाने जाते हैं। इस युग में वे छः भुजाधारी व मयूर पर आरूढ़ होते हैं। द्वापर युग में वे गजानन के रूप में जाने जाते हैं। जिनका स्वरूप चतुर्भुज, रक्तवर्ण व वाहन मूषक होता है। कलियुग में उन्हें धूम्रकेतु के नाम से जाना जाता है, वे द्विभुजी और धूम्रवर्ण के हैं, वाहन अश्व है।

"युगे युग भिन्न नामा गणेशो भिन्न वाहनः भिन्नकर्मा भिन्नगुणो भिन्नदैत्यापहारकः। सिंहारूढ़ो दशभुजः कृते नाम्ना विनायकः तेजोरूपी महाकायः सर्वेषां वरदो वशी। त्रेतायुगे बर्हिरूढः षड्भुजोऽयर्जुनच्छविः। मयूरेश्वर नाम्ना च विख्यातो भुवनत्रये। द्वापरे रक्तवर्णोऽसा वाखुरूढश्चतुर्भुजः। गजानन इतिख्यातः पूजितः सूरमानवेऽ। कलौ तु धूम्रवर्णोऽसावश्वारूढो द्विहस्तवान्। धूम्र–केतुरिति ख्यातोम्लेंच्छानीक विनाशकृत्।[2]

अतः स्पष्ट है कि गणेश पुराण में उनका प्रतिमास्वरूप अन्य पुराणों की अपेक्षा गजमुखी, एकदन्ती, द्विदन्ती, त्रिनेत्रधारी, दशभुजी, कर्ण आभूषण युक्त, नागयज्ञोपवीतधारी, चमकते हुये विशाल नेत्रों वाले, सिर पर चन्द्रमा से देदीप्यमान, चारों हाथों में आयुधों से युक्त बताया गया है।

---

1. गणेश पुराण, 2.80.5 से 7 तक
2. गणेश पुराण, 2.1.16 से 21 तक

आगम ग्रन्थों में गणेश स्वरूप

पुराणों में ही नहीं अपितु आगम ग्रन्थों में भी गणेश के मूर्तिविज्ञानी स्वरूप का विवेचन है। अजितागम में गणेश के दो प्रतिमास्वरूपों का वर्णन मिलता है। सर्वप्रथम वह गणेश को उस विनायक के रूप में विवेचित करता है जो गजमुखी, त्रिनेती, कर्ण मुकुट धारण किये हुये हैं। हाथ में तंक (कुल्हाड़ी) पाश, दन्त और लड्डू हैं। वे एकदन्त, बड़े होठों वाले नागयज्ञोपवीत, रक्त वस्त्र धारण करते हैं।[1] दूसरे स्वरूप का विवेचन करते हुये यह आगमन वीरभद्र गणेश[2] का उल्लेख करता है वे चतुर्भुजी त्रिनेती हैं। लोहे का पाश हाथ में पकड़े हुये हैं।

अंशु भेदागम[3] में भी गणेश के स्वरूप का वर्णन विनायक के रूप में हुआ है जो कमल पर आसीन हैं तथा अपने दायें हाथों में स्वदन्त और अंकुश, बायें हाथों में कपित्थ और मोदक लिये हुये हैं। उत्तरकामिकागम[4] में गणेश को गणों के नेता के रूप में विवेचित किया गया है। वे गजमुखी, महोदर, नागयज्ञोपवीत युक्त है। परशु और दन्त दायें हाथों में तथा मोदक और अक्षमाला बायें हाथों में है। उनकी पत्नी उनकी दाहिनीं ओर बैठी है। तथा वे पद्मासन मुद्रा में हैं। गणेश यहाँ श्याम वर्ण के तथा उनके वस्त्र रक्त वर्ण के बताये गये हैं।

शुप्रभेदागम[5] में गणेश को कमल पर आसीन कर्ण मुकुट और सम्पूर्ण आभूषण धारण किये हुये तथा दाहिने हाथों में फाल और अंकुश तथा बायें हाथों में स्वदन्त और मोदक धारण किये हुये बताया गया है।

पुराण व आगम ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक तथा शिल्पग्रन्थों में भी गणेश के प्रतिमास्वरूप का वर्णन मिलता है। अमरकोश[6] में उनके एकदन्त, लम्बोदर आदि

---

1. अजितागम, क्रिया सिद्ध 36. 302—303
2. अजितागम, 36, 336—338
3. अंशुभेदागम्, वाल्यूम भाग—11, पृष्ठ 2—3
4. उत्तरकामिकागम, टी. ए. गोपीनाथ से उदघृत
5. सुप्रभेदागम, टी. ए. गोपीनाथ से उदघृत
6. अमरकोश, 1.11—38

नाम उनके स्वरूप से सम्बन्धित विवेचना प्रस्तुत करते हैं।

अपराजित पृच्छा[1] में गणेश को गजमुखी, त्रिनेत्रधारी एकन्दत, चतुर्भुजी व मानवीय शरीर युक्त, जिसने नागयज्ञोपवीत धारण किया है; दिखाया गया है। वे मूषक पर सवार हैं। स्वदन्त, परशु, उत्पला और मोदक हाथों में लिये हुये हैं।

रूपमण्डन[2] में गणेश के हेरम्ब और वक्रतुण्ड स्वरूप की विवेचना की गयी है। हेरम्ब गणेश के स्वरूप में उन्हें पंचमुखी, त्रिनेत्री व मूषक वाहन के साथ, अष्टभुजी गणेश का उल्लेख है जो क्रमशः वरदमुद्रा, अंकुश, देत, परशु व अभयमुद्रा तथा बायें हाथ में कमल, सार, अक्षमाल, पाश और गदा लिये हुये हैं। वक्रतुण्ड स्वरूप में उन्हें महोदर, त्रिनेत्री हाथों में पाश, अंकुश, वरद और अभयमुद्रायें धारण किये हुये स्वरूप को दर्शाया गया है।

देवतामूर्तिप्रकरण[3] नामक ग्रन्थ में गणेश के प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप का हेरम्ब, गजानन, वक्रतुण्ड, उच्छिष्ट गणपति, क्षिप्रगणपति का स्वरूप व्याख्यायित किया गया है। हेरम्ब को वर्मिलयन–लालरंग व अष्टभुजी, गजानन को रक्तवर्ण का बताया गया है।

शिल्परत्न[4] में बीजगणपति के पाँच अलग–अलग प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप हेरम्ब, गणपति, बालगणपति, शक्तिगणपति, विनायक आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।

तन्त्र साहित्य में भी गणपति के स्वरूप का बृहद् विवेचन मिलता है। शारदातिलक[5] तन्त्र गणेश का रक्तवर्ण त्रिनेत्र, विशाल उदर युक्त स्वरूप बताता है। उनके कमल के सदृश हाथों में दन्त; पाश, अंकुश और मोदक हैं। उन्होंने शुण्ड के शीर्ष से बीजपूरक पकड़ा है। उनके वस्त्र लाल रंग के हैं तथा उन्होंने सर्प का आभूषण धारण किया है। इसी में उनके महागणपति, वीरगणपति, शक्तिगणपति, हेरम्ब का प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप प्राप्त होता है।

---

1. अपराजित पृच्छा, 212, 35.37
2. रूपमण्डन, बलराम श्रीवास्तव, कलकत्ता, 5, 15 से 18 तक
3. देवता मूर्ति प्रकरण, डॉ. निर्मला यादव, 8. 28
4. शिल्परत्न, श्री कुमार प्रणीत, उत्तर भाग 25 से 74 तक
5. शारदा तिलक, संस्कृत सीरीज तथा तांत्रिक टेक्स्ट, 13, 35 से 107 तक

विघ्नेश–गणेश के स्वरूप के सन्दर्भ में गजशीर्ष, विशाल उदर, दसभुज रूप प्रदर्शित करता है। जिसके अनुसार गणेश जी अपनी पत्नी के साथ आलिंगन मुद्रा में विराजमान हैं, वे अपने हाथों में एक कमल लिये हुये हैं व सम्पूर्ण आभूषण धारण किये हुये हैं। प्रपंचसार में ही एक स्थल पर गणेश जी का विघ्नराजा के रूप में रक्तवर्णी, महोदर, त्रिनेत्र, लघुकाय, शुण्ड में बीजपूरक नागयज्ञोपवीत, चतुर्भुजी, पद्मासन मुद्रा में विराजमान रूप अंकित है।

गणेश जी के गणपति, महागणपति, हेरम्ब, हरिद्रागणपति, उच्छिष्ट गणपति आदि विविध स्वरूपों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त नित्योत्सव, मन्त्रमहोदधि, शुक्रनीति, मंत्र रत्नाकर, क्रिया–क्रमद्योति, श्री तत्वनिधि आदि में भी गणपति के विभिन्न प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूपों का वर्णन है।

प्रतिमा लक्षणों से सम्बद्ध अधिकतर ग्रन्थों में गणपति की चतुर्भुज, षडभुज, दशभुज, अष्टादशभुज आदि अनेक भुजाओं का वर्णन मिलता है। इनमें चतुर्भुजी मूर्तियाँ अधिक लोकप्रिय हुयीं। किन्तु ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि कुछ स्थलों पर द्विभुजी गणेश का स्वरूप भी प्राप्त होता है। साहित्य में द्विभुजी गणपति का उल्लेख दो स्थानों पर हुआ है। 1. वृहत्संहिता[1] जिसके सन्दर्भ में पहले ही कहा जा चुका है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त है किन्तु निश्चित रूप से यह गणेश के स्वरूप के विकास के प्रारम्भिक काल को अंकित करता है। इस श्लोक में उन्हें परशु व मूलक धारण किये हुये वर्णित किया गया है जो उनके द्विभुजी स्वरूप की ओर संकेत करता है। 2. गणेश पुराण में भी कलिपूज्य गणपति का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वे धूम्रवर्णी व द्विहस्तवान हैं।

"गजानन इतिख्यातौ धूम्रवर्णः कलौयुगे।
धूम्रकेतुरिति ख्यातौ द्विभुजः सर्वदैत्यहा।।
कलौ तु धूम्रवर्णो सावचश्वारूढ़ौ द्विहस्तवान्।।"[2]

विभिन्न पुराणों में गणेश के स्वरूप के विवरणों से स्पष्ट होता है कि देवमण्डल

1. वृहत्संहिता, 58.59
2. गणेश पुराण, 2.85.115

में जैसे–जैसे गणेश का स्थान उच्च होने लगा, वैसे–वैसे उन्हें अधिक शक्तिवान व अन्य देवों के समकक्ष या उनसे उच्च दिखाने के लिये उनकी भुजाओं में भी वृद्धि होती गयी। इन भुजाओं में विभिन्न स्थलों पर वे विभिन्न वस्तुयें भी धारण किये हुये हैं जैसे – अनार, कमल, मण्डल, बीज, गुलाब, गन्ना, धान की बालियाँ, धनुष, फूल, बांस की लकड़ी, नारियल, पायस का प्याला, माला, तलवार, ढाल, कुल्हाड़ी, शूल आदि।[1] राव मोहन का मत है कि इस प्रकार की विशिष्टताओं का वर्णन भारतीय मूर्तिकला में दो उद्देश्य की पूर्ति करता है। पहला यह कि वे एक देव को दूसरे से विभेदित करते हैं। दूसरे, इन विशिष्टताओं को देवी या देवताओं से जोड़कर उनके विशिष्ट आयामों को महत्व देने का प्रयास भी करते हैं। कभी–कभी ये चिन्ह किसी विशेष देवी–देवता से सम्बन्धित पौराणिक आख्यान को भी इंगित करते हैं।[2] यद्यपि गणेश के सन्दर्भ में उनका हाथी के सदृश सिर का होना ही पर्याप्त है जो उनको अन्य देवताओं से विभेदित कर उन्हें विशिष्टता प्रदान करता है।[3] प्रतिमा लक्षण से सम्बन्धित ग्रन्थों में गणेश की कुछ विशिष्टताओं का भी उल्लेख मिलता है–जैसे उनके तिरछे नेत्र, अभंग मुद्रा, सभंग मुद्रा, शेर (चीते) की खाल का वस्त्र, सर्प यज्ञोपवीत आदि। इन ग्रन्थों में गणेश के विभिन्न स्वरूप जैसे बीज गणपति, बालगणपति, तरुण गणपति, वीर विघ्नेश, शक्ति गणपति, लक्ष्मी गणेश, महागणेश, हरिद्रा गणपति, नृत्तगणपति, उच्छिष्टगणपति आदि प्राप्त होते हैं। इनमें शक्ति, उन्मत्त तथा उच्छिष्ट गणपति बामाचार तांत्रिक पूजा से जुड़े हैं।[1]

साहित्य में एक लम्बे विकासक्रम के पश्चात पूर्व मध्यकाल तक गणेश का स्वरूप पूर्ण विकसित रूप में उभरकर आया। गणेश को महत्वपूर्ण देव के रूप में स्थापित करने में उनके स्वतन्त्र सम्प्रदाय गाणपत्य का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इतना ही नहीं गाणपत्य सम्प्रदाय के अनुयायी गणेश को महत्वपूर्ण वैदिक देवों के समकक्ष रखने तथा कई बार उनसे भी ऊपर स्थापित करने में सफल हुये हैं।

---

1. जे. एन. बैनर्जी, डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी पृ. 256
2. गोपीनाथ राव, पृ. 55
3. जे. एन. बैनर्जी, वही, पृ. 257
4. जे. एन. बैनर्जी, पृ. 257

गणेश जी के आयुध, वस्त्र, आभूषण, भुजायें

वाहन एवं पार्षद

सर्वमान्य है कि प्रत्येक देवी देवता के आकार, वेशभूषा, आयुध तथा वाहन भिन्न–भिन्न होते हैं और ये सभी उनके व्यक्तित्व तथा कार्य के प्रतीक के रूप में होते हैं। यही वस्तुयें देवी–देवताओं की विशिष्टतया को भी दर्शाती हैं। गणेश पुराण में गणेश जी के विविध रूपों का वर्णन हुआ है। कहीं वे बालगणपति, तरुण गणपति, भक्ति विघ्नेश्वर, लक्ष्मी गणपति, प्रसन्न गणपति, ध्वज गणपति, हरिद्रा गणपति, एकदन्त केवल गणपति के रूपों में वर्णित हैं तो कहीं मोदक प्रिय नृत्तगणपति, मूषक वाहन गणपति के रूप में। कहीं वे षड्भुजी हैं **"षडभुंज चंद्रसुभगमं लोचनत्रय भूषिताम्।"**[1] तो कहीं वे दशभुजी **"पंचवक्त्रो दशभुजो ललाटेन्दु शशीप्रभः।"**[2] रूप में दिखाये गये हैं। उनके वर्ण का चित्रण अरुणोदयकालीन सूर्य से किया गया है, कहीं वे शारदीय चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण वाले स्वरूप का प्रतिबिम्बन करते हैं। कहीं स्वर्ण पिङ्गल हैं तो कहीं श्वेत और रक्त वर्ण वाले हैं। गणेश पुराण में उनके इन विभिन्न रूपों का अंकन हुआ है। गणेश जी के प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप के विश्लेषण हेतु अनिवार्य है कि साहित्य में वर्णित गणेश की भुजाओं, आयुधों, वस्त्रों, आभूषणों, वाहनों तथा पार्षद देवताओं का वर्णन मिलता है क्योंकि भुजायें व आयुध शक्ति के, वस्त्र मूल गुण के, अलंकार महत्व के तथा पार्षद देवमण्डल् में उस देवता के स्तर के द्योतक होते हैं। यहाँ पर गणेश जी के इन विभिन्न रूपों का विश्लेषण गणेश पुराण को केन्द्र में रखकर किया गया है।

गणेश पुराण में गणेश जी के अनादि, अनन्त, परब्रह्म स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वे प्रकृति स्वरूप हैं। महत्वपूर्ण हैं, पृथ्वी और जल के रूप में अभिव्यक्त हैं। दिगीशादिरूप में प्रकट हैं। असत् और सत् दोनों ही उनके स्वरूप हैं। वे जगत के कारण हैं तथा सदा विश्वरूप सर्वत्र व्याप्त हैं।

---

1. गणेश पुराण, क्रीडा खण्ड, 81 अध्याय, 33 श्लोक
2. गणेश पुराण, उपासना खण्ड, 44 अध्याय, 26 से 27 श्लोक

"प्रधान स्वरूपं महत्तत्वरूपं धरावारिरूपं दिगीशादिरूपं।

असत् सत् स्वरूपं जगद् हेतु भूतम्।

सदा विश्व रूपं गणेशं नताः स्मः।।"[1]

गणेश पुराण में एक स्थल पर उनके सगुण साकार स्वरूप का वर्णन करते हुये लिखा गया है कि मोतियों और रत्नों से उनका मुकुट जटित है, सम्पूर्ण शरीर लाल चन्दन से चर्चित है। उनके मस्तक पर सिन्दूर शोभित है। गले में मोतियों की माला है। वक्षस्थल पर सर्प–यज्ञोपवीत है। बाहु में बहुमूल्य रत्नजड़ित बाजूबंद है। अंगुलियों में मरकतमणि जड़ित अंगूठी हैं। लम्बे से उदर की नाभि चारों ओर से सर्पों द्वारा वेष्टित है। रत्न जटित करधनी है। स्वर्ण सूत्र–लसिता–लाल वस्त्र है। भाल पर चन्द्रमा है, दाँत सुन्दर हैं।

"मुकुटेन विराजतं मुक्ता रत्न युजा शुभम्।

रक्त चंदन लिप्तांगं सिंदूरारुण मस्तकम्।।

मुक्ता दाम लसत् कंठं सर्पयज्ञोपवीततिनम्।

अनर्घ्य रत्न घटित बाहु भूषण भूषितम्।।

स्फुरन् मरकत भ्राजदंगुलीयक शोभितम्।

महामिवेष्टित बृहन्नाभि शोभिमहोदरम्।।

विचित्र रत्न खचित कटि सूत्र विराजितम्।

सुवर्ण सूत्र विलसद्रक्तवस्त्र समावृतम्।।

भालचंद्रं लसद्दंत शोभाराजत करं परम्।

एवं ध्यायति तस्मिंस्तु पुनरेव न भोवचः।।"[2]

पद्म पुराण में उनके एकदन्त एवं महाकाय–विशाल शरीर का वर्णन हुआ है। उनका रूप तप्प–कांचन की प्रभा के समान प्रकाशित माना गया है।

"एकदन्तं महाकायं तप्त कांचनसन्निभम्।"[3]

शारदातिलक में शरीर पर नवकुंकुम का अङ्गराज शोभित है ऐसा बताया गया

---

1. गणेश पुराण, उपासना खण्ड, 13 अध्याय, 12 श्लोक
2. गणेश पुराण, 1.14.21 से 25 तक
3. पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड, 16.2

है। **"कृताङ्गरागं नवकुंकुम .... ।।"**[1]

उत्तरकामिकागम् में उनका वस्त्र रक्त वर्ण का तथा कंचुक पीले रंग का कहा गया है। वे किरीट–मुकुट से जाज्वल्यमान हैं।

"रक्त वस्त्रधरं वामं श्यामायं कनकप्रभम्।

पीत कंचुक संछन्नं किरीट मुकुटोज्वलम्।।"[2]

गणेश पुराण में उनके वस्त्रों को पीले रंग का और रेशमी बताया गया है।

"पीत कौशेय वसनो हाटकाङ्गदभूषणं।।"[3]

ब्रह्मवैवर्तपुराण में उपलब्ध वर्णन के अनुसार, उनके शुद्ध वस्त्र अग्नि से प्राप्त हैं।

"वह्नि शुद्धं च वसनं ददौ तस्मै हुताशनः।"[4]

गणेश पुराण में उनके अंग पर शोभित उत्तरीय को अनेक तारागणों से युक्त व्योम की शोभा से भी श्रेष्ठतर कहा गया है।

"नानातारांकित व्योम कान्तिजिदुत्तरीयकम्।"[5]

गणेश जी के चरणों के सन्दर्भ में एक सुन्दर बिम्ब गणेश पुराण में दिया गया है कि आपके चरणों में मन लगाकर मनुष्य विघ्न और पीड़ा से उसी तरह संतप्त नहीं होता, जिस तरह प्रकाशित सूर्य–बिम्ब में स्थित प्राणी कभी अन्धकार से ग्रस्त नहीं होता।

"त्वदीये मनः स्थापये दंध्रियुग्मे। जनो विघ्नसंघान्न पीडां लभेत्।

लसत् सूर्यबिंबे विशाले स्थितेऽयं जनोध्वांत बाधां कथं वा लभेत्।।[6]

ब्रह्मवैवर्त पुराण में गणेश के चरणों में शोभित मञ्जीर को पद्मालया लक्ष्मी से प्राप्त किया।

"मंजीरं चापि केयूरं ददौ पद्मालया मुने।"[7]

---

1. शारदा तिलक 13.135
2. उत्तरकामिकागम् पंञ्चचत्वारिशतम् पटल 13.2
3. गणेश पुराण 1.20.32
4. ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणपति खण्ड, 13.9
5. गणेश पुराण, 1.12.37
6. गणेश पुराण, 1.13.13
7. ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणपति खण्ड, 13.10

गणेश पुराण में एक स्थान पर वर्णन मिलता है कि उनके चरण बजते हुये नूपुरों से सदा शोभित रहते हैं।

"किंकिणी गणराणितस्तव चरणः।"[(1)]

इसी में एक स्थान पर कहा गया हैं कि उनके चरणों और उनमें शोभित तथा बजते हुये नूपुरों का वर्णन करना बहुत कठिन है, क्योंकि वे अनन्त हैं। **'योऽनन्तशीर्षानन्त श्रीसन्त चरणः स्वराट्'**[(2)] गणेश पुराण में ही उल्लेख हुआ है कि चरणों में ध्वजा, अंकुश, ऊर्ध्वरेखा, कमल आदि चिन्हित रहते हैं। भगवती पार्वती को उपर्युक्त चिन्हों से युक्त गणेश के चरण–कमलों के दर्शन हुये है। **"ध्वजांकुशोर्ध्वरेखाब्ज चिन्हितं पादपंकजम्।"**[(3)]

स्पष्ट है कि गणेश जी के चरणों में अलंकृत आभूषणों की गणेश पुराण व अन्य पुराणों में भी सुन्दर अभिव्यक्ति हुयी है। उनके दोनों चरणों को 'अकार' बताया है, विशाल उदर को 'उकार' तथा मस्तक के महामण्डल को 'मकार' बताया है। अकार, उकार तथा मकार के योग में 'ऊकार' सिद्ध होता है, जो समस्त संसार में समाविष्ट है।

गणेश पुराण में गणेश जी के चरणों के वर्णन के साथ ही उनके उदर व कटिभाग का सुन्दर वर्णन मिलता है। उनका कटिसूत्र स्वर्ण निर्मित है। **"कटिसूत्रम् काञ्चनीयम्।"**[(4)] एक स्थान पर कहा गया है कि उनके उदर में व्याल आवृत है। **'व्यालबद्धोदरं विभुम्।'**[(5)] गणेश के लम्बोदर होने के अनेक प्रसंग विभिन्न पुराणों में प्राप्त होते हैं। जैसे ब्रह्मपुराण में उन्हें शिव द्वारा 'लम्बोदर' नाम दिये जाने का वर्णन मिलता हैं।

"पपौस्तनं मातुरथ्यापि तृप्तो यो भातृ मत्सर्य कषाय बृद्धिः।
लम्बोदरस्त्वं भव विहनराज लम्बोदरं नाम चकार शम्भुः।।"[(6)]

पदम्पुराण में व्यास ने लम्बोदर तथा विशाल रूप में उनकी स्तुति की है।

---

1. गणेश पुराण 1.46.23
2. गणेश पुराण, 1.79.27
3. गणेश पुराण, 1.81.34
4. गणेश पुराण, 1.20.33
5. गणेश पुराण, 2.78.31
6. ब्रह्म पुराण, 114.11

"लम्बोदरं विशालाक्षं वन्देऽहं गजनायकम्।"[1]

गणेश पुराण में एक स्थल पर वर्णित है कि उनका वक्षस्थल स्थूल एवं विशाल है **"स्थूल वक्ष समीश्वरम्।"**[2] तथा उस पर नाग यज्ञोपवीत शोभित हो रहा है। **"सर्प यज्ञोपवीतिनम्।"**[3] उनके कण्ठ में मोतियों की माला सुसज्जित है। **"मुक्तादामलसत्कण्ठम्।"**[4] ब्रह्मवैवर्तपुराण में चन्द्रमा से प्राप्त मणि की माला को भी धारण करने का उल्लेख मिलता है।

'माणिक्यमालां चन्द्रश्च'[5]

गणेश पुराण में उल्लेख मिलता है कि त्रिपुरासुर वध–करने पर शिव के घोर तप के बाद पंचमुख गणेश ने उन्हें दर्शन दिया, जिनकी दस भुजायें, ललाट में चन्द्र विद्यमान था। वह चन्द्रमा के समान प्रभायुक्त थे, मुण्डों की माला धारण किये हुये थे, सर्पों के गहने थे तथा मुकुट व बाजूबंद से भूषित थे।

"ततस्तस्य मुखोम्भोजान्तिर्गुतस्तु पुमान् परः।"[6]

शिवपुराण में अनंत चरण, अनंत सिर, अनंत कर (हाथ) होने का वर्णन है, जो उपर्युक्त आभरणों, अलंकारों, आयुधों और मुद्राओं से विभूषित है।

"पाशाङ्कुशेष्टदशनान् दधानं करपङ्कजैः।"[7]

गणेश पुराण में उनकी भुजाओं के सन्दर्भ में भी अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। गणेश पुराण में उनके रत्न संयुक्त मुद्रिका का उल्लेख है। **'मुद्रिकां रत्नसंयुताम्।'**[8] तो एक अन्य स्थल पर मरकतजटित अंगूठी का वर्णन है। **"स्फुरन्मरकत भ्राजदङ्गुलीयक शोभितम्।"**[9] उनके आभूषण बहुमूल्य रत्नों से जड़ित हैं, ऐसा गणेश पुराण में वर्णन

1. पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड, 66.2
2. गणेश पुराण, 2.81.33
3. गणेश पुराण, 1.14.22
4. गणेश पुराण, 1.14.22
5. ब्रह्मवैवर्त पुराण, 13.8
6. गणेश पुराण, 1.44.25–26
7. शिव पुराण, कैलाश संहिता, 7.16
8. गणेश पुराण, 1.20.33
9. गणेश पुराण, 1.14.23

मिलता है। **"अनर्ध्यरत्नघटित बाहुभूषण भूषितम्।"**[1] सोने के अङ्गद, बाजूबंद का भी वर्णन मिलता है। **"हाटकाङ्गदभूषणः"**[2] गणेश के शुण्ड का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वह ऐरावत आदि दिक्पालों के मन में भी भय पैदा कर देती है। **"ऐरावतादिदिक्पाल भय कारिसुपुष्करम्।"**[3]

शुण्ड से विनोद कर ब्रह्मा आदि के मन में आनन्द का सृजन करते हैं।

"एकदंतं नखपुर्गजास्यं तेजसा ज्वलत्।

दृश्टैषं तर्कयामास बालकं कथमत्र बै।।

पुष्करणे च बालोऽसौ जलं मन्मस्तकेऽक्षिपत्।

ततोहमाजहासोच्यैश्चिन्तानन्द समन्वितः।।"[4]

गणेश पुराण में एक स्थान पर वर्णन मिलता है कि उनकी शुण्ड कमल माला से अलंकृत कही गयी है। इन्द्र के तप से प्रसन्न होकर गणेश ने अपना स्वरूप प्रकट किया। उनका शुण्ड–दण्ड बहुत मोटा और लम्बा था। उनके नेत्र कमल के समान थे।

"यः पुष्कराक्षः पृथुपुष्करोऽपि बृहत्करः पुष्कर शालिभालः।

अविर्षभूवारिवलदेवमूर्तिः सिन्दूरशाली पुरतो मघोनः।।"[5]

मुद्गल पुराण में गणेश को वक्रतुण्ड भी कहा जाता है। 'वक्र' मायारूप है और 'तुण्ड' ब्रह्मवाचक। उनके 'वक्रतुण्ड' कहे जाने को इस पुराण में दार्शनिक रूप से विवेचित किया गया है। मायाजाल सुख मोहयुक्त है, अतः वह 'वक्र' कहा जाता है। 'तुण्ड' शब्द ब्रह्म का बोधक है। इन दोनों का योग होने से ही गणेश 'वक्रतुण्ड' कहलाते हैं। उनके कण्ठ के नीचे का भाग ही मायायुक्त 'वक्र' है और तुण्ड (मस्तक) ब्रह्म का प्रतीक है, इसी कारण वे वक्रतुण्ड हैं।

"मायासुखं मोहयुतं तस्माद् वक्रमिति स्मृतम्।

तुण्ड ब्रह्म तयोर्योगे वक्रतुण्डोऽयमुच्यते।

1. गणेश पुराण, 1.14.32
2. गणेश पुराण, 1.20.32
3. गणेश पुराण, 1.12.38
4. गणेश पुराण, 1.15.6–7
5. गणेश पुराण, 1.34.5

कण्ठाधो मायया युक्तो मस्तकं ब्रह्मवाचकम्।

वक्रायं तस्य विप्रेश तेनायं वक्रतुण्डकः।''[1]

गणेश की शुण्ड दाहिने व बायें दोनों तरफ मुड़ी हुयी निरूपित की गयी है। जब शुण्ड दक्षिण की ओर मुड़ी रहती है तब उन्हें 'बलम्बूरि विनायक' कहते हैं तथा बायीं ओर मुड़ी रहने पर 'इडम्बूरि' विनायक कहे जाते हैं।

गणेश पुराण में गणेश जी की नाक का शोभामयी वर्णन मिलता है।

'सुनासं शुभ्रवदनं सथूलवक्षसमीश्वरम्।'[2] वे तीन नेत्रों से विभूषित कहे गये हैं। **''षड्भुजं चन्द्रसुभगं लोचनत्रयभूषितम्।''**[3] वैसे तो उन्हें अनन्त श्रुति और अनंत नेत्रों से सम्पन्न माना गया हे, पर वर्णन तीन नेत्र और दो कानों का ही उपलब्ध है। **'अनंतश्रुतिनेत्रश्च'**[4] इसी पुराण में एक स्थल पर कर्ण–कुण्डल का वर्णन करते हुये लिखा है कि उनके कर्ण–कुण्डलों से तेज झरता रहता है। ऐसा लगता है कि मानो वे दो सूर्यबिम्ब हों। **'कुण्डले प्रवाहच्छुत्योः सूर्यबिम्बे इवापरे।'**[5]

पद्मपुराण में उन्हें 'चारुकर्ण' से विभूषित कहा गया है।

''गजक्त्रं सुरश्रेष्ठं चारुकर्णविभूषितम्।

पाशाङ्कुशधरं देवं वन्देऽहं गणनायकम्।।''[6]

ब्रह्मवैवर्त पुराण के मतानुसार मणि कुण्डलों की प्राप्ति उन्हें सूर्य से हुयी थी। **'सूर्यश्च मणिकुण्डले।'**[7]

गणेश पुराण में उल्लेख आया है कि गणेश जी का मस्तक सिन्दूर से अरुण तथा मुकुट से विभूषित रहता है।

---

1. मुद्गल पुराण, 7.35
2. गणेश पुराण, 2.81.33
3. गणेश पुराण, 2.81.33
4. गणेश पुराण, 79.28
5. गणेश पुराण, 1.21.33
6. पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड, 66.7
7. ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणपति खण्ड, 13.8

"मुकुटेन विराजन्तं मुक्तारत्नयुजा शुभम्।

रक्तचंदनलिप्ताङ्गं सिन्दूरारुणमस्तकम्।।"[1]

इसी पुराण में एक स्थान पर उनके मस्तक पर कस्तूरी का भव्य तिलक शोभित होता है। ऐसा वर्णन मिलता है। **"क्षुद्रघण्टाक्कणत्पादं कस्तूरी तिलकोज्ज्वलम्।"[2]** देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर गणेश के प्रकट होने के प्रसंग में इसकी पुष्टि होती है।

गणेश जी के मस्तक का अलंकार चन्द्रमा है।

"भालचन्द्र लसद्दन्तं शोभाराजत्करं परम्।"[3] विराट स्वरूप में उनके अनंत शीर्षयुक्त होने का वर्णन मिलता है।

"यो देव सर्वभूतेषु गुढ़श्चरति विश्वकृत्

योऽनन्तशीर्षानन्त श्रीसन्तरणः स्वराट्।।"[4]

गणेश जी के शीश पर रत्नजटित मुकुट भी शोभित है। **"रत्नकांचनमुक्तावन्मुकुट भ्राजिमस्तकः।"[5]** तथा उन्हें किरीट की प्राप्ति कुबेर से हुयी थी। **"कुबेरश्च किरीटम्।"[6]**

आयुध

गणेश जी को विघ्नविनायक कहा जाता है। गणेश पुराण में वर्णन मिलता है कि त्रिपुरासुर को पराजित करने के लिये, नारद के उपदेशानुसार शिव ने गणेश जी को प्रसन्न करने हेतु तप किया। प्रसन्न होकर पंचमुख, दस भुजाओं और आयुधों से युक्त होकर गणेश जी ने उन्हें दर्शन दिया।

"पंचवक्त्रो दशभुजो ललाटेन्दु शशिप्रभः।

मुण्डमालः सर्पभूषो मुकुटांगद्दभूषणः।।

अग्न्यर्कराशिनो भामिस्तिरस्कुर्वन्दशायुधः।"[7]

---

1. गणेश पुराण, 1.14.21
2. गणेश पुराण, 2.78.31
3. गणेश पुराण, 1.14.25
4. गणेश पुराण, 2.79.27
5. गणेश पुराण, 1.2.32
6. ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणपति खण्ड, 13.8
7. गणेश पुराण 1.44.26–27

उत्तरकामिकागम में उनके असंख्य आयुध हैं, जिनका प्रयोग विघ्नों को नष्ट करने के लिये होता है। प्रमुख रूप से दस आयुध गिनाये गये हैं–वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, अंकुश, गदा, त्रिशूल, पद्व, चक्र। शक्ति और गदा की गणना स्त्रीलिंग में है। चक्र और पद्व नंपुसक लिंग में परिगणति हैं तथा शेष छह आयुध पुल्लिंग हैं।

''दशायुध प्रतिष्ठां तु वक्ष्ये लक्षणपूर्वकम्।

वज्रं शक्तिं च दण्डं च खड्ग पाशं तथाङ्कुशम्।।

गदा त्रिशूलं पद्वं च चक्रं चेति दशायुधम्।

जाये शक्तिगदे ज्ञेये चक्रपद्वं नपुंसके।

शेषाः पुमांसो विज्ञेयास्त्वष्ट ताल विनिर्मिताः।।''[1]

पद्व पुराण में वर्णन है कि गणेश जी की भुजायें उपर्युक्त दस आयुधों से विभूषित होने के साथ–साथ ध्वजा, बाण, धनुष, कमण्डल, इक्षुदण्ड, दन्त, मुद्गर आदि से भी युक्त हैं। गणेश के प्रायः सभी विग्रहों के हाथ में अंकुश शोभित है।

'पाशांकुशधरं देवं वन्देऽहं गणनायकम्।'[2]

गणपत्यथर्वशीर्ष उपनिषद में गणेश द्वारा पाश और अंकुश धारण करने का उल्लेख है। **'पाशांकुराधारिणम्।'**[3] शारदातिलक में भी गणेश जी को परशु–आयुध से विभूषित किया गया है। तेनकाशी के विश्वनाथ स्वामी मन्दिर में स्थापित लक्ष्मी गणपति की प्रतिभा में गणपति की प्रतिभा दशभुज है। उनके कुछ हाथों में चक्र चक्र, शंख शूल आदि हैं।

''हस्तैः स्वीयैर्दधतमरविन्दाकुंशौ रत्नकुम्भम्।

दन्तं च परशुं पद्मे मोदकांश्च गजाननः।

गणेशो मूषमारूढ़ो विभ्राणः सर्वकामद।।''[4]

गणेश पुराण में सिंहारूढ़ विनायक की मूर्ति की दशों भुजाओं में दस आयुध

1. उत्तरकामिकागम, अष्टषष्टितम पटल, पृ. 135
2. पद्व पुराण, सृष्टि खण्ड, 66.7
3. गणपत्यथर्वशीर्ष उपनिषद, 18.11
4. शारदा तिलक, 13.79.80

धारण करने की बात कही गयी है। वाराह पुराण में कुछ स्थलों पर गणेश के हाथ को दन्तविभूषित भी कहा गया है।

"सिन्दूराभं त्रिनेभं च अभयं मोदकं तथा।

टङ्कं शराक्षभाले च मुद्‌गरं चांकुशं तथा।

त्रिशूलं चेति हस्तेषु दधानं कुन्दवत् सितम्।।"[1]

इसी पुराण में एक स्थल पर बालगणपति के हाथ में केला, आम, कटहल, इक्षु, कपित्थ से विभूषित हैं। ऐसा बताया गया है।

"करस्थकदली चूतपनसेक्षुक पित्थकम्।

बाल सूर्यप्रभाकरं वन्दे बाल्यगणाधिपम्।।"[2]

गणेश की प्रतिमा के निर्माण प्रसंग में त्रिशूल का भी वर्णन मिलता है। लिंग पुराण में उल्लिखित है कि भगवती अम्बिका से त्रिशूल और पाश धारण करने वाले, हाथी के मुख के समान मुख वाले मंगलमूर्ति गणेश का जन्म हुआ।

"इमाननाश्रितं परं त्रिशूलपाश धारिणम्।

समस्तलोक सम्भवं गजाननं तदाम्बिका।"[3]

गणेश पुराण में गणेश जी के चारों हाथों में खड़ग, खेट, धनुष और शक्ति के होने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। **"खड़गखेखधनुः शक्तिशोभिचारु चतुर्भुजम्।"**[4] एक स्थान पर वर्णन मिलता है कि उनका रंग अस्तकालीन सूर्य के समान है तथा उनके हाथ पाश और वज्र से विभूषित हैं। वज्र दस आयुधों में से एक है।

पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड में उल्लेख है कि मोदक का निर्माण अमृत से हुआ है। पार्वती ने कुमार और गणेश को जन्म दिया। दोनों सभी देवों के हितकारी हैं। देवताओं ने श्रद्धा से अमृत–निर्मित एक दिव्य मोदक पार्वती को दिया। इसे सूँघने या खाने वाला सम्पूर्ण शास्त्रों का मर्मज्ञ, सब तन्त्रों में प्रवीण, लेखक, चित्रकार, विद्वान, ज्ञान–विज्ञान का

---

1. वाराह पुराण, देवमूर्ति प्रकरण, 8.27
2. वाराह पुराण, क्रियाक्रमयोति, 15.37
3. लिंग पुराण, पूर्वार्ध, 105.9
4. गणेश पुराण, 1.12.35

तत्वज्ञ और सर्वज्ञ हो जाता है।

"तौ दृष्टा तु सुराः सर्वे श्रद्धया परयान्विताः।

सुधयोत्पादितं दिव्यं तस्मै प्रादुस्तु मोदकम्।।

अस्यैवाघ्राणमात्रेण अमरत्वं लभेद ध्रुवम्।

सर्वशास्त्रार्थतत्वतः सर्वशस्त्रास्त्रकोविदः।।

निपुण सर्वतन्त्रेषु लेखकश्चित्रकृत सुधीः।

ज्ञान विज्ञान तत्वज्ञः सर्वज्ञो नात्र संशयः।।"[1]

पद्मपुराण में एक स्थान पर वर्णन है कि वह मोदक गणेश जी को प्राप्त हुआ है। **"अतो ददामि हेरम्बे मोदकं देवनिर्मितम्।"[2]** स्कन्द पुराण में देवताओं द्वारा गणेश जी की पूजा मोदक अर्पित कर दी गयी है।

"लड्डुकैश्च ततो देवैर्विघ्ननाथयसमर्पितः।"[3]

शंकराचार्य ने भी उनकी वन्दना करते हुये लिखा है कि जो सानन्द अपने हाथ में मोदक ग्रहण कर अवस्थित है, जो सदा मुक्ति प्रदान करने के लिये प्रस्तुत हैं, चन्द्रमा जिनके सिर का भूषण है, जो सबके एकमात्र प्रभु है, जो गजासुर के विनाशक हैं, जो प्रजाजनों के अशुभ को शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

"मुदा करात्तमोदकं सदा विमुक्ति साधकं

कलाधरावतं सकं विलासिलोकरक्षकम्

अनायकैकनायकं विनाशिते भदैत्यकं

नतासुभाशुनाशकं नमामि तं विनायकम्।"[4]

मोदकधारी गणेश का चित्रण गणेश पुराण में भी मिलता है।

"चतुर्भुजं महाकायं मुकुटाटोपमस्तकम्।

परशूं कमलं मालां मोदकानावहत् करैः।।"[5]

---

1. पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड, 65.9.11
2. पद्म पुराण, 65.19
3. स्कन्द पुराण, अवन्ती, 36.1
4. शंकराचार्य, श्री गणेश पंचरत्न, 1.18
5. गणेश पुराण, 1.21.32

गणेश पुराण में एक स्थल पर हिमालय ने भगवती पार्वती को गणेश जी का ध्यान करने की जो विधि बतायी, उसमें उन्होंने मोदक का उल्लेख किया है।

"एकदन्तं सूर्यकर्ण गजवक्त्रं चतुर्भुजम्।

पाशांकुश धरं देवं मोदकान् विभ्रतं करैः।।"[1]

मोदक को महाबुद्धि का प्रतीक माना गया है तथा बुद्धि से गणेश जी का महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। अतः उनकी मूर्तियों और स्वरूपों में मोदक का भी अहम् स्थान है। त्रिवेन्द्रम में स्थापित केवल गणपति मूर्ति के हाथों में अंकुश, पाश, मोदक और दन्त सुशोभित हैं। मोदक आगे के बायें हाथ में हैं।

परिवार तथा पार्षद

पद्मपुराण में गणेश जी को विघ्न विनाशक त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का उपास्य तथा परम आराध्य कहा गया है।

'गणेश पूज्येद्यास्तु विघ्नस्तस्य न जायते।'[2]

मुद्गल पुराण में गणेश जी के साथ उनके परिवार का भी वर्णन विभिन्न स्थलों पर उपलब्ध है। एक स्थान पर उल्लेख है कि शिव ने गणेश जी की स्तुति उनकी पत्नी सिद्धि–बुद्धि के साथ की है।

"सिद्धिबुद्धिपतिं वन्दे ब्रह्मणस्पतिसंज्ञितम्।

मांगल्येशं सर्वपूज्यं विघ्नानां नायकं परम्।।"[3]

इसी पुराण में एक स्थान पर सिद्धि–बुद्धि के अतिरिक्त पुष्टि को भी उनकी पत्नी कहा गया है। गणेश जी के वाम भाग में सिद्धि और दक्षिण भाग में बुद्धि की संस्थिति बतायी जाती है।

"विश्वात्मिका ब्रह्ममयी हि बुद्धिस्तस्या

विमोहप्रदिका च सिद्धिः।

---

1. गणेश पुराण, 1.49.21–22
2. पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड, 51.66
3. मुद्गल पुराण, अष्टम खण्ड गणेश स्रोत 17

ताभ्यां सदा खेलति योगनाथ

स्तं सिद्धि बुद्धिशमथो नमाभि।।''(1)

शिव पुराण में वर्णित है कि गणेश जी ने माता–पिता की परिक्रमा और पूजा को पृथ्वी की परिक्रमा से भी उच्च स्थापित किया है।

''पित्रोश्च पूजनं कृत्वा प्रक्रान्ति च करोति या।

तस्य वै पृथिवीजन्यफलं भवति निश्चितम्।।''(2)

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने अपनी दोनों कन्याओं (सिद्धि और बुद्धि) का विवाह उनसे कर दिया।

''विश्वरूपं प्रजेशस्य दिव्यरूपे सुते उभे।

सिद्धिबुद्धिरिति ख्याते शुभे सर्वांगशोभने।।''(3)

शिव पुराण में ही गणेश के परिवार का वर्णन करते हुये लिखा है कि गणेश जी की पत्नी सिद्धि से 'क्षेम' और 'बुद्धि' से लाभ नामक, दो पुत्रों का जन्म हुआ।

''सिद्धिर्गणेशपत्न्यास्तु खेमनामा सुतोऽभवत्।

बुद्धेर्लाभमिधः पुत्र आसीत् परमशोभनः।।''(4)

नारद पुराण में गणेश जी की एक पत्नी सिद्धि द्वारा आश्लिष्ट निरूपित किया गया है। गणेश जी ने अपनी चारों भुजाओं में पाश, अंकुश, अभय और वर–मुद्रायें धारण कर रखी हैं। उनकी पत्नी हाथ में कमल धारण कर उनके समीप बैठी हैं, उनका शरीर रक्त वर्ण का है। उनके तीन नेत्र हैं।

''पाशांकुशामयवरान् दधानं कंजहस्तया।

पत्न्याश्लिष्टं रक्ततनुं त्रिनेत्रं गणपं भजेत्।।''(5)

रूपमण्डन में 'गणेशायतन' (गणेश–मन्दिर) के प्रसंग में पार्षदों व प्रतिहारों का

---

1. मुद्गल पुराण, अष्टम खण्ड, गणेश स्रोत 36
2. शिव पुराण, 19.39
3. शिव पुराण, 20.2
4. शिव पुराण, 20.8
5. नारद पुराण पूर्व. तृ. 66.139

विवरण उपलब्ध होता है। वे द्वार की रक्षा करते हैं, द्वारपालक का कार्य करते हैं। उनकी संख्या आठ है। एक–एक द्वार पर दो–दो प्रतिहार रहते हैं। उनके नाम हैं – अविघ्न और विघ्नराव, सुवक्त्र और बलवान, गजकर्ण और गोकर्ण तथा सुसौभ्य और शुभदायक। गणेश जी के मन्दिर में उनके विग्रह के बायें गजकर्ण, दायें सिद्धि, उत्तर में गौरी, पूर्व में बुद्धि, दक्षिण पूर्व में बाल चन्द्रमा, दक्षिण में सरस्वती, पश्चिम में कुबेर और पीछे धूमक के विग्रहों की स्थापना की जाती है।

"वामांके गजकर्ण तुं सिद्धिंदध्यांच्च दक्षिणे,
पृष्ठकर्णे तथा द्वौ च धूम्रको बाल चंद्रमाः।
उत्तरे तु सदा गौरी याम्ये चैव सारस्वती,
पश्चिमे यक्षराजश्च बुद्धि पूर्वे व्यवस्थिता।।"[1]

गणेश जी के आठों द्वारपाल वामनाकार हैं। वे सौम्य स्वभाव और कठोर मुख वाले होते हैं। आठों के दो–दो हाथ हैं, जो तर्जनी, मुद्रा और दण्ड से विभूषित रहते हैं। पूर्व द्वार पर स्थित अविघ्न और विघ्नराज के दो हाथों में परशु और पद्व रहते है, पश्चिम द्वार पर स्थित गजकर्ण और गोकर्ण के दो हाथों में धनुष–बाण होते हैं, और उत्तर द्वार पर स्थित सुसौम्य और शुभदायक के दोनों हाथ पद्व और अंकुश से भूषित रहते हैं।

"सर्वे च वामनाकारास्सौम्याश्च पुरुषाननाः।
तर्जनीपरशु पद्मविघ्नो दण्डहान्तकः।।
तर्जनीदण्डापसव्ये स भवेद्र विघ्नराजकः।
तर्जनी खड्गाखेटं तु दण्डहस्तस्सुवक्त्रकः।।
तर्जनी दण्डापसव्ये दक्षिणे बलवान् भवेत्।
तर्जनीपद्यांकुशं च दण्डहस्तः सुसौम्यकः।।
तर्जनी दण्डापसव्ये स चैव शुभदायकः।
पूर्वद्वारादिके सर्वे प्राच्चादिष्वष्ट संस्थिता।।"[2]

---

1. रूपमण्डन, 5.19.20
2. रूपमण्डन, 5.21 से 25 तक

गणेश पुराण में विभिन्न स्थलों पर सिद्धि–बुद्धि के साथ इनका वर्णन किया गया है।

"भक्तानां वरदं सिद्धिबुद्धिभ्यां सेवितं सदा।

सिद्धिबुद्धिप्रदं नृणां धर्मार्थ काममोक्षदम्।

ब्रह्मरूद्रहरिन्द्राद्यै संस्तुतं परमार्षिभिः।।"[1]

इसी पुराण में बुद्धि को विश्वव्यिका ब्रह्ममयी माना है तथा सिद्धि उसको विमोहित करने वाली है।

"सिद्धिबुद्धियुतः श्रीमान कोटिसूर्याधिकद्युतिः।

अनिर्वाच्यस्वरूपापि लीलया ऽऽ सीत् पुरो मुनेः।।"[2]

गणेश पुराण के उल्लेखानुसार ब्रह्मा ने गणेश पूजन के पश्चात् दक्षिणा स्वरूप दो कन्यायें गणेश जी को भेंट की, जिसे गणेश जी ने स्वीकार किया तथा अन्तर्ध्यान हो गये।

"पूजार्थ देवदेवस्य गणेशस्य प्रसादतः।

दक्षिणावसरे द्वे तु कन्यके समुपस्थिते।।"[3]

उपरोक्त कथन में जिनके माता–पिता भवानी शंकर हैं, पत्नी सिद्धि–बुद्धि हैं और पुत्र क्षेम–लाभ हैं, उन भाग्यशाली आद्यपूज्य श्री गणेश जी के पारिवारिक सुख का रसास्वादन बड़े ही सौभाग्य का पुण्यविषम है।

वाहन

गणेश को वाहन रूप में सिंह, मयूर व मूषक को स्थापित किया गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में उनका वाहन मूषक बताया गया है। **"वंसुधरा ददौ तस्मै वाहनाय च मूषकम्।"**[4] पद्व पुराण में भी अनेक मूषक वाहन होने की चर्चा मिलती है।

---

1. गणेश पुराण, 1.49.23
2. गणेश पुराण, 1.37.13
3. गणेश पुराण, 1.15.34 से 39 तक
4. ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणपति खण्ड, 13.12

"मूषकोत्तमारूढं देवासुर महाहवे।

यौद्धुकामं महाबाहुं वन्देऽहं गणनायकम्।।"[1]

शिल्परत्न में भी सिंहारूढ़ पंचवक्त्र गजानन का उल्लेख प्राप्त होता है।

"सिंहोपरि स्थितं देवं पंचवक्त्रं गजाननम्।

दशबाहु त्रिनेत्रं च जाम्बूनदसमप्रभम्।।

प्रसादाययदातारं पात्रं पूरितमोदकम्।

स्वदन्तं सव्यहस्तेन विभ्रतं चापि सुव्रते।।"[2]

गणेश पुराण में उल्लेख है कि कृत्युग में गणेश का वाहन सिंह है। वे दस भुजावाले, तेजस्वरूप और विशालकाय हैं तथा उनका नाम विनायक है। त्रेतायुग में उनका वाहन मयूर है। द्वापर में वे मूषक वाहन हैं और कलियुग में अश्वारूढ़ हैं।

"सिंहारूढ़ो दशभुज कृते नाम्ना विनायकः।

तेजोरूपी महाकाय सर्वेषां वरदो वशी।।

त्रेतायुगे वर्हिरूढ़ः षड्भुजोऽप्यर्जुनच्छवि।

मयूरेश्चरनाम्ना च विख्यातो भुवनत्रये।।

द्वापरे रक्तवर्णेऽसावाखुरूटश्चतुर्भुजः।

गजानन इति ख्यातः पूजितः सरमानवैः।।

कलौ तु धूम्रवर्णोसाऽवश्चारूढ़ो द्विहस्तवान्।

धूम्रकेतुरिति ख्यातो मलेच्छानीक विनाशकृत्।।"[3]

गणेश पुराण में कई स्थलों पर उनके सिंहारूढ़ स्वरूप की विवेचना की गयी है।

"सिंहारूढो दशभुजो व्यालयज्ञोपवीतवान्।

कुंकुमागुरुकस्तूरी चारु चन्दन चर्चितः।।

सिद्धि बुद्धि युतः श्रीमान् कोटि सूर्याधिकद्युतिः।

अनिर्वार्च्यस्वरूपो लीलयाऽसीत् पुरो मुनः।।"[4]

---

1. पद्व पुराण, सृष्टि खण्ड, 66.4
2. शिल्प रत्न, 25.27.29
3. गणेश पुराण, 1.10.18 से 29 तक
4. गणेश पुराण, 1.37.12 से 13 तक

गणेश पुराण में उनके मयूरवाहन का भी अनेक स्थलों पर वर्णन मिला है।

"आविरासीत् सिद्धिबुद्धियुक।

मयूरवाहनो देवः शुण्डादण्डविराजितः।।"[1]

इसी कारण उनका नाम ही मयूरेश्वर पड़ा। श्री गणेश जी की वेश–भूषा, अलंकार, पार्षद तथा आयुध और वाहन आदि सब के सब दिव्य हैं। इनके चिन्तनमात्र से मनुष्य का हृदय स्वानन्दलोक के अधिपति श्री गणेश जी की सहज भक्ति का अधिकारी होकर समस्त सिद्धियों से सम्पन्न हो जाता है।

प्रतिमा द्रव्य

प्रतिमा निर्माण के लिये अनेक प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग होता रहा है, जैसे रामायण में सीता की स्वर्ण प्रतिमा[2] महाभारत में भीम की लौह प्रतिमा[3], भागवत पुराण में कृष्ण की मिट्ठी, काष्ठ, प्रस्तर, धातु, चन्दन, बालुका, मनोम्यी तथा मणि की प्रतिमा[4] का उल्लेख आया है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में शिला, दारु तथा लौह में प्रतिमाकरण का विधान दिया गया है।[5] मत्स्यपुराण में शिला, स्वर्ण, चाँदी, ताम्र धातुओं से प्रतिमा निर्माण का विधान किया गया है।[6] वृहत्संहिता के अनुसार सुवर्ण की प्रतिमा से स्वास्थ्य, रजत से यश, ताम्र से प्रजावृद्धि, शिलामयी से भू, धनलाभ तथा विजय, दारुमयी से आयु, मिट्ठी से श्री बल, मणि से लोकहित की वृद्धि होती है।[7]

गणेश पुराण में गणेश जी की मूर्तियों के सन्दर्भ में कुछ धातुओं व पदार्थों का उल्लेख है जिनमें मुख्य हैं – गडकीय पाषाणों से निर्मित मूर्तियाँ।

---

1. गणेश पुराण, 2.31.9–10
2. वाल्मीकि रामायण, उत्तर काण्ड, 19.5.25
3. महाभारत, 12.5.23
4. श्रीमद् भागवत, 10.48.31
5. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, 43.32
6. मत्स्य पुराण, 1.258–263
7. वृहत्संहिता, 60.51 से 58 तक

"लसत्कांचनशिखरं चतुर्द्वारं सुशोभनम्।
प्रतिमां स्थापंयामास् गण्डकीयोपलैः कृताम्।।"[1]

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य द्रव्यों जैसे कश्मीरी पाषाण[2], रत्नकांचन[3], स्फटिक[4], मिट्ठी[5], सुवर्ण[6] और लकड़ी[7] की प्रतिमा निर्माण का वर्णन भी प्राप्त होता है। सात प्रकार के द्रव्यों का उल्लेख गणेश प्रतिमा के निर्माण हेतु गणेश पुराण में है।

मूर्तिविज्ञान में गणेश प्रतिमा का विकास

गणेश का स्वरूप अत्यन्त प्राचीनकाल से ही प्राप्त है किन्तु अद्यतन उपलब्ध पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर भारतीय मूर्तिकला में गणेश का प्रादुर्भाव प्रारम्भिक गुप्तकाल से माना जाता है। गणेश के स्वरूप से सन्दर्भित प्रतिमाशास्त्रीय ऐसे साक्ष्य प्राप्त होते हैं जिन्हें विद्वानों ने गणेश के प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप के विकासक्रम के प्रारम्भिक दौर से समीकृत करने का प्रयास किया है।

जयपुर के रेह क्षेत्र में उत्खनन से गजमुखी वैनायकी की मूर्ति प्राप्त हुयी है जिसका काल प्रथम शताब्दी ई. पूर्व से प्रथम शताब्दी ई. तक माना गया है किन्तु इसे

---

1. गणेश पुराण, 1.18.22
2. गणेश पुराण, 1.39.2
   'ततः कश्मीर पाषाण भवां मूर्ति गजाननीम्।'
3. गणेश पुराण, 2.21.10–11
   'वैनायकी महामूर्ति रत्नकांचननिर्मिताम्।'
4. गणेश पुराण, 1.34.37
   'स्थापयामास शक्रोऽपि स्फटिकीं मूर्तिमादरात्।'
5. गणेश पुराण, 1.49.9–10
   "मृत्तिकां सुंदरां स्निग्धां क्षुद्रपाषाण वर्जिताम्।
   सुविशुद्धामवल्मीकाम् जल सिक्तां विमर्दयेत्।
   कृत्वा चारुतरां मूर्ति गणेशस्य शुभां स्वयम्।।"
6. महेश पुराण, 1.69.14
   "तस्योपरि लिखेद्यन्त्र यागमोक्त विधानतः।
   तत्र मूर्ति गणेशस्य सौवर्णो लक्षणन्विताम्।।"
7. गणेश पुराण, 2.35.19
   'मन्दारमूलै मूर्ति कृत्वा य पूजयेन्नरः।'

विनायक की मूर्ति नहीं मान सकते, क्योंकि इसके शरीर का अन्य भाग स्त्री स्वरूप को घोषित करता है। इसे विनायक के प्रतिमापरक स्वरूप के विकासक्रम का प्रारम्भिक स्वरूप भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि इससे सन्दर्भित किसी प्रकार के साक्ष्य नहीं प्राप्त नहीं होते।[1] सांभर जिले में उत्खनन के दौरान मिट्टी की दो मुहरें प्राप्त हुयी हैं जिनमें गजमुखी गणेश जी की आकृति की संभावना की गयी है। इन मुहरों पर ब्राह्मी में लेख उत्कीर्ण है, जिसमें 'करभिक्ष' शब्द का उल्लेख हुआ है। किन्तु 'करभ' शब्द का अर्थ हाथी–शावक भी होता है तथा उष्ट्र–शावक भी। यह आकृति इतनी क्षतिग्रस्त हो चुकी है कि इसे स्पष्टतया गणेश जी से समीकृत करना कठिन है।[2]

गणपति के प्रारम्भिक स्वरूप और गणेशोपासना के प्रारम्भ पर विचार करते हुये इनका उद्भव यक्ष और नागों की उपासनाओं से माना गया है।[3] गणेश जी प्रतिमाओं में उनका ठिगना कद, छोटी टांगें, लम्बा व उभरा हुआ पेट तथा हाथी का मुख और माथा विशेषतः दिखलायी पड़ता है। इनमें पहली तीन बातों का निकटतम सम्बन्ध यक्ष प्रतिमाओं से है। गणेश प्रतिमा का मूल यक्ष आकृतियों को माना है तथा उदाहरण रूप में द्वितीय शताब्दी के उष्णीष पर अंकित गजमुखी यक्षों के चित्रांकन को प्रस्तुत किया गया है जिसमें गणेश जी के सदृश ही आकारिक डील–डौल वाले यक्षों का चित्रण है। इन्हें शास्त्रीय गणपति का पूर्व प्रकार माना है। वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार आरम्भिक युगीन गणपति प्रतिमायें यक्ष प्रतिमाओं के समान ही निर्मित हुई हैं।[4]

महाराष्ट्र प्रान्त अस्मानाबाद जिले के थेर नामक स्थल के उत्खनन से द्वितीय शताब्दी की एक मृण्मूर्ति प्राप्त हुयी है जो बैठी मुद्रा में है तथा द्विभुजी है। इसके हाथी सदृश कर्ण हैं तथा शुण्ड बायीं ओर मुड़ी हुयी है। एक अन्य मृण्मूर्ति आन्ध्र प्रदेश के कुर्नूल जिले के वीरपुरम उत्खनन क्षेत्र से प्राप्त हुयी है। तृतीय शताब्दी की यह मृण्मूर्ति गजमुखी है यद्यपि इसका कुछ भाग खण्डित हो चुका है फिर भी यह अनुमान लगाया जा सकता

---

1. कृष्णन युवराज, गणेश अनरेवेलिंग एन एनिग्मा, पृ. 88
2. कृष्णन युवराज, गणेश अनरेवेलिंग एन एनिग्मा, पृ. 89
3. जे. एन. बैनर्जी, डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, कलकत्ता, पृ. 256
4. वासुदेव शरण अग्रवाल, मथुरा कला, अहमदाबाद, पृ. 73

है कि यह प्रतिमा बैठी मुद्रा में होगी। शुण्ड ऊपर उठी हुयी व बायीं ओर मुड़ी हुयी नाग यज्ञोपवीत धारण किये हुये, लम्बोदर यक्ष के सदृश शारीरिक संरचना वाली निश्चयतः यह गणेश जी की आकृति है।

मृण्मूर्ति में ही गणेश जी की एक अन्य आकृति उल्लेखनीय हैं। इसकी तिथि तीसरी, पाँचवी शताब्दी का प्रारम्भिक काल निर्धारित किया है। इस मूर्ति में गणेश जी नृत्य मुद्रा में अंकित हैं। मथुरा संग्रहालय में गणेश की चालीस मूर्तियाँ संरक्षित हैं। उनमें अब तक की प्राचीनतम मूर्तियाँ भी शामिल हैं। संकिसा से प्राप्त खड़े, द्विभुजी गणेश जी की प्रतिमा, मथुरा संग्रहालय की 758, 792, 964 संख्यक मूर्तियों को प्राचीनतम मूर्तियों के वर्ग में रखा जा सकता है। संकिसा से मिले गणेश जी द्विभुज, बायें हाथ में मोदक पात्र, जिस पर गणेश जी की उसी ओर घुमी शुण्ड तथा खड़ी मुद्रा में है। अन्य दो प्रतिमायें द्विभुज, लम्बोदर, सर्पयज्ञोपवीत धारण किये हुये तथा मोदक पात्र को स्पर्श करती शुण्ड वाली हैं।

मथुरा संग्रहालय संख्यक 758 तथा संकिसा से प्राप्त मूर्ति में एक अन्य विशेषता दिखायी देती है और वह है गणेश की नग्नता। इन मूर्तियों में वस्त्राभाव के अतिरिक्त लिंग का प्रमुखता से अंकन है। यद्यपि वहाँ 'उर्ध्वमेद्र' वाली कल्पना नहीं है।[1] कृष्णन युवराज ने भी प्रारम्भिक गणेश मूर्तियों की विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुये यह मत व्यक्त किया है कि ये बिना किसी वाहन के नग्न, अलंकार रहित मूर्तियाँ हैं, मात्र सर्प ही उनके आभूषण के रूप में अंकित है। ये मुकुटरहित तथा हस्तिशीर्ष के रूप में प्राप्त होती हैं।[2]

गुप्तकाल के आरम्भिक चरण में गणपति की प्रतिमायें निर्विवाद रूप से निर्मित होने लगी थीं। इन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांशतः इनके निर्माण का प्रतिमाशास्त्रीय आधार था। इस काल की मूर्तियाँ उदयगिर, अहिछत्र, भीतरगाँव, देवगढ़, राजघाट आदि स्थलों से प्राप्त हुयी हैं। इस काल की मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित सुन्दर प्रतिमाओं में गजमुखी, लम्बोदर, शूर्प कर्ण, एकदन्ती, द्विभुजी हैं। गणेश को बायें हाथ में रखे हुये मोदक को अपने सूँड़ से स्पर्श करते हुये प्रदर्शित किया गया है।[3]

---

1. एन. पी. जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ. 169
2. कृष्णन युवराज, वही, पृ. 89
3. शान्तिलाल नागर, कल्ट ऑफ विनायक, दिल्ली, पृ. 100

छठीं शताब्दी की बिहार के शाहाबाद जनपद से प्राप्त और पटना संग्रहालय में सुरक्षित गणपति प्रतिमा को पद्मासन में बैठे प्रदर्शित किया गया है। उसका सूँड़ बायें हाथ में रखे हुये मोदक की ओर आकर्षक ढंग से मुड़ा हुआ है।[1] कानपुर जिले के भीतरगाँव के मन्दिर से प्राप्त मृणफलक में चतुर्भुजी, गजमुखी गणपति को भी बायें हाथ में स्थित मोदक–पात्र को अपने शुण्ड में पकड़ते हुये दिखाया गया है।[2] इसका काल चौथी शताब्दी माना गया है। इसी काल की भूमरा से प्राप्त प्रतिमा में गणपति को द्विभुजी रूप में एक पीठिका पर आसीन प्रदर्शित किया गया है। भूमरा से ही प्राप्त एक दूसरी प्रतिमा में गणेश को अपनी शक्ति विघ्नेश्वरी के साथ आलिंगन मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार प्रदयगिरि गुफा में द्विभुज गणपति को ऊर्ध्वपीठिका पर अर्धपर्यकासन मुद्रा में बैठे दिखाया गया है। उनका शुण्ड बायें हाथ में रखे हुये मोदक पात्र की ओर मुड़ा हुआ है। गुप्तकाल के अन्तिम चरण में गणपति प्रतिमाओं को नृत्य आदि विभिन्न रूपों में प्रदर्शित किया जाने लगा। मथुरा कला में निर्मित इस समय की एक गणपति की प्रतिमा में उन्हें कमल पुष्प के ऊपर नृत्य करते प्रदर्शित किया गया है।[3]

गुप्तकालीन गणेश प्रतिमाओं का सूक्ष्म अध्ययन करने पर इस काल में निर्मित प्रतिमाओं की विशिष्टतायें स्पष्ट करती हैं। ये प्रतिमायें प्रस्तर या मिट्ठी के माध्यम से बनाई गयी हैं। इन मूर्तियों में गणेश का मस्तक प्राकृतिक हाथी का है, उसे मुकुट या अन्य अलंकार नहीं पहनाये गये हैं। इस काल की सभी मूर्तियों को लगभग सभी में शुण्डा बायीं ओर मुड़ी हैं और उसी ओर के हाथ में मोदक पात्र भी है। इनका यह अंकन भीतरगाँव तथा कसिया से प्राप्त मूर्तियों से स्पष्ट परिलक्षित होता है।[4] उदयगिरि के गणेश द्विभुजी हैं, पर गुप्तकाल में सामान्यतः चतुर्भुजी रूप अधिक लोकप्रिय हो गया था। हाथों में शारण की जाने वाली वस्तुओं में मोदक पात्र के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं का सभी अनिवार्य स्थान नहीं बन पाया था। भीतरगाँव के अंकन में मोदक पात्र को लेकर भागते गणपति के हाथों

---

1. निर्मला यादव, वही, पृ. 33
2. शान्तिलाल नागर, वही, पृ. 107
3. वासुदेव शरण अग्रवाल, मथुरा कला, पृ. 74
4. शान्तिलाल नागर, वही पृ. 107

में कोई आयुध नहीं अंकित है।[1] देवगढ़ से प्राप्त मूर्ति में मोदक पात्र के अतिरिक्त परशु, दंत और सम्भवतः मूली अंकित है। संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में राजघाट से प्राप्त मूर्ति स्थापित है। इसमें गणेश बायीं ओर के ऊपर वाले हाथ में दाँत या मूली तथा दायीं ओर के नीचे वाले हाथ में बीजपूरक लिये हुये हैं।[2] प्रारम्भिक काल तथा गुप्तकाल के सभी गणपति प्रायः खड़ी मुद्रा में अंकित हैं। गणेश के परिवार का यदि विचार करें तो स्पष्ट है कि प्रारम्भ की मूर्तियों में गणेश का कोई परिवार नहीं मिलता। यहाँ तक कि उनके वाहन भी नहीं अंकित किये गये। देवगढ़ की मूर्तियों में गणेश के अगल–बगल दो छोटे सक्ष दिखायी पड़ते हैं। जिनमें से एक के सिर पर लड्डुओं की टोकरी है।[3] इस काल में गणेश जी में अलंकार प्रियता नहीं दिखती। उनका सर्पयज्ञोपवीत अवश्य प्राचीन है। वह कभी–कभी उदबन्ध या भुजबन्ध में भी परिणत हो जाता है। इस सन्दर्भ में गणेश जी की मूर्तियों में परिलक्षित नग्नता पर विचार करना भी आवश्यक है।

इस काल की प्रतिमाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है – एक वर्ग उन मूर्तियों का है जो साधारण व अलंकार रहित हैं और दूसरे वर्ग में अलंकृत मूर्तियों को रखा जा सकता है। मथुरा से इस काल की अलंकार रहित साधारण मूर्तियाँ प्राप्त हुयी है।[4] ये अपने से पहले यानि कि चौथी से छठीं शताब्दी से प्राप्त मूर्तियों की परम्परा का ही निर्वहन करती हैं। कुछ मूर्तियाँ गणेश जी की नृत्यु मुद्रा में भी प्राप्त होती हैं। एलोरा के जगेश्वर से प्राप्त छठीं–सातवीं शताब्दी की नृतगणपति की मूर्ति प्राप्त हुयी है जो चतुर्भुजी है। दो संगीतकार भी साथ में अंकित हैं। बायें हाथ में मोदक, सूँड़ भी बाँयी ओर के कंधे पर लहराती हुयी, धोती धारण किये हुये, एक बायाँ हाथ दाहिनी ओर नृत्य मुद्रा में लहरा रहा है। उन्होंने अन्य हाथों में क्या लिया है, यह स्पष्ट नहीं होता।

सातवीं शताब्दी की मथुरा से नृत्य गणपति की मूर्ति प्राप्त हुयी है, जो अलंकृत है। सिर पर जटामुकुट अंकित है। चतुर्भुजी मूर्ति के बायें हाथ में मोदक और एक दायें हाथ

---

1. शान्तिलाल नागर, वही. पृ. 107
2. नीलकण्ठ जोशी, वही, पृ 170
3. नीलकण्ड जोशी, वही, पृ. 170
4. शान्तिलाल नागर, वही, पृ. 101

में अंकुश है। शुण्ड की गति दायीं ओर है। शरीर नृत्य की लयात्मक मुद्रा में है। मूर्ति के गले के हार, भुजबन्ध, कटिसूत्र और दायें कान में लटकते हुये आभूषण का अंकन है। बांयी ओर का कर्ण खण्डित हो चुका है। इस मूर्ति में गण संगीतकार, यहाँ तक कि वाहन मूषक भी नृत्य मुद्रा में अंकित है।

आठवीं से दसवीं शताब्दी अर्थात् मध्यकाल तक आते–आते गणेश जी की प्रतिमाओं का अंकन और भी उत्कृष्ट व विविधता से होने लगा। आठवीं से नौवीं शताब्दी में गणेश का विकास और प्रचार वृहद् क्षेत्र में हो चुका था। अतः उनकी मूर्तियाँ भी विस्तृत क्षेत्र से प्राप्त होती हैं। जैसे राजस्थान के जोधपुर जिले में घटियाल नामक स्थान से एक स्तम्भ पर गणेश जी की मूर्तियाँ प्राप्त हुयी हैं। इसमें चार गणेश मूर्तियाँ एक दूसरे से लगी हुयी चारों दिशाओं में मुख किये हुये अंकित हैं। मथुरा से ही इसी काल की चतुर्भुजी मूर्ति प्राप्त हुयी है। इसकी एक महत्वपूर्ण विशिष्टता को अभिव्यक्त करती है। इसका काल आठवीं शताब्दी माना गया है।

नवीं शताब्दी की मूर्तियाँ विशेष तौर पर मथुरा, औरंगाबाद, इंदौर, चित्तौड़गढ़, बैजनाथ (इलाहाबाद संग्रहालय) और बिहार से प्राप्त हुयी हैं। ये चतुर्भुजी, षडभुजी व अष्टभुजी हैं। ये मूर्तिकला में गणेश जी के विकसित स्वरूप का प्रतिबिम्बन करती हैं।[1]

पूर्व मध्यकाल तक आते–आते गणपति प्रतिमा को प्रतिमाशास्त्रीय लक्षणों से युक्त, स्थानक, आसन और नृत्य की विभिन्न मुद्राओं में दिखाया जाने लगा। शास्त्रों में वर्णित गणपति प्रतिमाओं के अनेक प्रकार, जैसे उच्छिष्ट गणपति, लक्ष्मी गणपति, हेरम्ब गणपति आदि का भी मूर्तन होने लगा। उड़ीसा के मयूरभंज जनपद से प्राप्त आरम्भिक मध्ययुगीन प्रतिमा में चतुर्भुजी गणपति को विभिन्न अलंकरणों से युक्त कमल पीठिका पर अभंग मुद्रा में खड़े प्रदर्शित किया गया है। उनके दाहिने हाथों में अक्षमाल और स्वदन्त तथा बायीं ओर के एक हाथ में मोदक और स्वदन्त तथा बायीं ओर के एक हाथ में मोदक पात्र है। दूसरे हाथ की वस्तु अस्पष्ट है। वे सर्प यज्ञोपवीतधारी हैं। मस्तक के ऊपर व्यवस्थित जटा प्रदर्शित है। उड़ीसा से ही प्राप्त गणपति की एक नृत्य प्रतिमा में अष्टभुजी

---

1. शान्तिलाल नागर, वही, पृ. 103

गणपति को दुहरे कमलासन पर नृत्यमुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। उनके सामने का एक दाहिना हाथ गजहस्त मुद्रा में है। ऊपर उठे हुये दो हाथों में सर्प पकड़े हैं, जिसके बीच का भाग खण्डित है। अन्य हाथों में मोदक पात्र, अक्षमाल और स्वदन्त हैं। शेष हाथ खण्डित हैं। इस प्रतिमा में प्रतिमाशास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह के ही साथ उत्कृष्ट शिल्प का भी दर्शन होता है।[1]

आठवीं–नवीं शताब्दी की पटना संग्रहालय में सुरक्षित गणपति प्रतिमा में षड्भुजी गणेश जी को एक पीठिका पर नृत्य मुद्रा में प्रभावशाली ढंग से दिखाया गया है। किरीट मुकुटधारी गणेश जी का सिर दाहिनी ओर मुड़ा हुआ है। किन्तु उनकी शुण्डा बायीं ओर मुड़कर बायें हाथ में रखे मोदक को स्पर्श कर रही है। दाहिनी ओर के दो हाथों में परशु और पाश है तथा एक हाथ उदर का स्पर्श कर रहा है। बायें हाथों में सर्प पुस्तक और मोदक हैं। बायें पार्श्व में दो स्त्री मूर्तियों को भी नृत्य मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। पादपीठ उनके वाहन मूषक को तथा ऊपर दोनों ओर हार लेकर उड़ती हुयी दो अप्सराओं को दिखाया गया है। इसी प्रकार नृत्यगणपति की बंगाल से प्राप्त एक प्रभावशाली प्रतिमा में अष्टभुजी गणपति को नृत्य मुद्रा में अति कलात्मक ढंग से प्रदर्शित किया गया है।

दसवीं शताब्दी की गणेश मूर्तियों में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जो खजुराहों से प्राप्त हुयी हैं।[2] इस काल की एक अन्य महत्वपूर्ण प्रतिमा भेड़ाघाट से प्राप्त हुयी है। खजुराहों से नृत्त गणपति की द्विभुजी, चतुर्भुजी, अष्टभुजी, दशभुजी, द्वादशभुजी और षोड्शभुजी प्रतिमायें भी प्राप्त हुयी हैं।[3] इन प्रतिमाओं में हार, कौस्तुभ–मणि, कंकन, मेखला, पैजनी आदि से अलंकृत, गजमुख शूर्पकर्ण, एकन्दती, सर्पयज्ञोपवीतधारी गणपति को नृत्य करते हुये, विभिन्न मुद्राओं में प्रदर्शित किया गया है। कुछ प्रतिमाओं में वे वीरभद्र और सप्त मातृकाओं के साथ नृत्य मुद्रा में प्रदर्शित हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी की पांडिचेरी की स्थानक पर आसीन मूर्ति, राजशाही की षड्मुखी नृत्तगणपति जो दुहरे कमलासन पर खड़े हैं, गंगकोण्डचोलपुरम् की नृत्तगणपति,

1. जे. एन. बैनर्जी, वही, पृ. 361
2. वी. बी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला वाराणसी, पृ. 147
3. रामाश्रय अवस्थी, खजुराहो की देव प्रतिमायें, आगरा, पृ. 41–46

राजस्थान के एकलिंग मन्दिर में स्थित गणेश प्रतिमायें महत्वपूर्ण हैं।[1]

बारहवीं शताब्दी की गणेश प्रतिमा आलमपुर संग्रहालय में संरक्षित है, जो बैठी हुयी मुद्रा में है। यह गणेश जी का भव्य व विकसित स्वरूप प्रस्तुत करती है।[2] बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी की प्रतिमा में करण्ड–मुकुट तथा अन्य आभूषणों से अलंकृत अष्टभुजी गणपति को नृत्य मुद्रा में प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उनके हाथों में परशु, पाश, मोदक–पात्र, दन्त, सर्प, पद्म स्थित है। इस प्रतिमा में अंजलिबद्ध–मुद्रा में बैठे भक्तों तथा वाद्य यन्त्रों को बजाते हुये अनुचरों को भी प्रदर्शित किया गया है। नीचे मोदक खाने में व्यस्त मूषक भी अंकित हैं।

मध्यकालीन भारत के विभिन्न भागों में गणेश और उनकी शक्ति की आलिंगन प्रतिमायें भी प्राप्त हुयी हैं। जिनमें गणेश को कहीं पर अपनी शक्ति विघ्नेश्वरी और कहीं लक्ष्मी के साथ आलिंगन मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार शास्त्रों में वर्णित गणपति प्रतिमाओं के अनेक प्रकारों, जैसे उन्मत्त गणपति, उच्छिष्ट गणपति, महागणपति, हेरम्ब गणपति आदि की प्रतिमायें भी प्रतिमाशास्त्रीय आधार पर निर्मित की गयी हैं। इन मूर्तियों के दिग्दर्शन से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि गाणपत्य सम्प्रदाय का उत्तरोत्तर विकास होने के कारण साहित्य में गणेश जी का जितना महत्वपूर्ण व विकसित स्वरूप परिलक्षित होता है। उसकी पुष्टि उस काल की मूर्तिकला में गणेश जी के स्थान मुद्राओं, अलंकरणों तथा संख्या से स्वतः हो जाती है।

लौकिक गणेश जी से सम्बन्धित प्रतिमाओं को 18 वर्गों में बाँटा जा सकता है।[3] इनमें छह देवी और गणेश जी की संयुक्त आकृतियाँ हैं, जो शक्ति गणपति के रूप में जानी जाती हैं। इनके नाम हैं – लक्ष्मी गणपति, उच्छिष्ट गणपति, महागणपति, उर्ध्वगणपति, पिंगला गणपति, शक्ति गणपति। अन्य बारह प्रकार की गणेश प्रतिमायें उनके विशिष्ट स्वरूप का प्रदर्शन करती है जिन्हें हेरम्ब, प्रसन्नागणपति, ध्वजगणपति, उन्मत्त गणपति, उच्छिष्ट गणपति, विघ्नराज, भुवनेश गणपति, नृत्त गणपति, हरिद्रा गणपति, बाल गणपति,

---

1. शान्तिलाल नागर, वही, पृ. 104
2. शान्तिलाल नागर, वही, पृ. 105
3. आर. एस. गुप्ता, आइक्नोग्राफी ऑफ हिन्दूज, बुद्धिस्ट एण्ड जैन्स, बाम्बे, पृ. 80–81

तरुण गणपति, भक्ति विघ्नेश्वर, वीर विघ्नेश्वर नाम दिया गया है। इन विभिन्न प्रकारों में उनके हाथों की संख्या भिन्न–2 है। हाथों में धारण की हुयी वस्तुओं में किसी प्रकार की समानता नहीं है। अलग–अलग स्वरूपों ने अलग–अलग आयुध धारण किया है। इनमें एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि गणेश की शक्तियाँ हस्तिमुख नहीं, अपितु मानवाकृतियाँ हैं।[1]

मन्दिर वास्तुशास्त्र में गणेश जी आरम्भ में द्वार देवताओं के साथ अंकित हुये। इन्हें द्वार देवता के नाम से अभिहित किया गया। पौराणिक सन्दर्भों में भी गणेश जी को शिव के अनुचरों के साथ रखा गया था, जो मनुष्यों के लिये आपदायें उत्पन्न करते हैं। गणेश जी का प्रथम अंकर मन्दिर के मुख्य द्वार या महाद्वार पर हुआ। बाद में उनका अंकन अग्रमंडप के सामने अवस्थित मण्डप के स्तम्भों में मूर्तियों के साथ किया गया। गणेश जी धीरे–2 पार्श्व देवता के रूप में विकसित हुये। शिव मन्दिर के पार्श्व देवताओं में पार्वती, महिषासुरमर्दिनी कार्तिकेय व गणेश जी थे। यहाँ पर गणेश जी बहुभुजी तथा गणों और भूतों के साथ अंकित हैं। जब से गणेश जी द्वार देवता के रूप में मन्दिर वास्तुकला में अंकित हुये उस समय उनके साथ द्वार पर कुबेर, भैरव व पार्वती दर्शाये गये हैं। गणेश जी को विभिन्न मंदिरों के गवाक्षों में भी दर्शाया गया है। दिक्पालों के साथ भी गणेश जी का अंकन हुआ है। कालान्तर में गणेश जी को ललाटबिम्ब में भी स्थान मिला है, जो मन्दिर की धार्मिक सम्बद्धता को अभिव्यक्त करते हैं।

शैव मन्दिर में बाह्य भित्ति में वेदिबन्ध के ऊपर निर्मित सप्त मातृकाओं के साथ गणेश जी का अंकन शैव सिद्धान्त की धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप बताया गया है। बाह्य प्रदक्षिणा क्रम में गणेश जी की मूर्ति का निश्चित स्थान पर अंकन शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के साथ उनके सहअस्तित्व एवं समायोजन के साथ–साथ उनके महत्व को भी रेखांकित करता है।[2]

मंगल स्वरूप श्री गणेश

श्री गणेश जी की असीम महिमा एवं उनके परम दिव्य मंगल–स्वरूप का मधुर

---

1. कृष्णन युवराज, वही, पृ. 87
2. देवांगना देसाई, रिलिजियस इमेजरी ऑफ खजुराहो, बम्बई, पृ. 135

वर्णन श्रुति–स्मृति–पुराण–तन्त्र–सूत्रादि ग्रन्थों में प्रतिपादित है। प्रत्येक हिन्दू घर में जो भी कार्य हम सर्वप्रथम आरम्भ करते हैं, वह गणेश जी का नाम लेकर ही करते हैं। इसलिये कि उसमें कोई विघ्न न आये और कार्य सफल हो जाये। चाहे हम गणेश जी की विधिवत् पूजा से अपना कार्य आरम्भ करें, चाहे पूजा न करके भी, गणेश जी का नाम स्मरण ही कल्याणारी है। व्यवसायी लोग अपने व्यवसाय के आरम्भ में और माता–पिता अपने बालकों के विद्यारम्भ में गणेश जी का पूजन अवश्य करते हैं। व्यावसायिक बहीखातों के या पुस्तकों के प्रथम पृष्ठ पर ''श्री गणेशाय नमः'' यह मांगलिक वाक्य सर्वप्रथम अवश्य लिखा जाता है।

''आदिपूज्यं गणाध्यक्षमुमापुत्रं विनायकम्।
मङ्गलं परमं रूपं श्रीगणेशं नमाम्यहम्।।''

तैंतीस कोटि देवताओं में श्री गणेश जी का जो महत्व दृष्टिगत होता है, वह सभी से विलक्षण है। किसी भी देव की आराधना के आरम्भ में किसी भी उत्कृष्ट–से–उत्कृष्ट एवं साधारण से साधारण लौकिक कार्य में भी भगवान् गणपति का स्मरण, उनका विधिवत् अर्चन एवं वन्दन किया जाता है। यह परमश्रेष्ठत्व भवभयहरण, मंगलकरण, सुभगचरण श्री विनायक को ही प्राप्त है। इनके मंगलमय पावन–विग्रह के दर्शन तथा स्मरणमात्र से ही त्रिविध पाप–ताप एवं विविध उग्रतम अन्तरायों का ध्वंस सहज में ही हो जाता है। श्रेष्ठ किंवा सामान्य अनुष्ठेय कार्य के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में श्रीगणपति भगवान् का स्मरण न हो तो समारमभ किये हुये कार्य की सम्पन्नता कठिन हो जाती है।

श्री गणेश जी जिस प्रकार ऋद्धि–सिद्धि–बुद्धि के दाता हैं, उसी प्रकार ये अपने अद्‌भुत रूप–सौन्दयपूर्ण विग्रह के दर्शनों से अनन्त सुख–समृद्धि के भी प्रदाता हैं। बुद्धि–वैभव के तो ये सर्वतोमुख भण्डार हैं, तभी तो भगवान् वेदव्यास–प्रणीत महाभारत–जैसे विशाल ग्रन्थ के लेखन का कार्य इन्होंने ही पूर्ण किया। 'भगवन्नाम'–अंकित कर और उसकी परिक्रमा करके सम्पूर्ण देवताओं से धरित्री–परिक्रमा में भी प्राथमिकता प्राप्त करने की पौराणिक गाथा इनकी अनन्त–मतिसिन्धुता एवं हरिनामामृत–महिमाभिज्ञता का संदर्शन कराती है। इसके अतिरिक्त ये गणपति अपनी संक्षिप्त अर्चना से ही अतिशय सन्तुष्ट हो

भक्त को ऋद्धि–सिद्धि से परिपूर्ण कर देते हैं। इनकी अर्चना कदापि निष्फल नहीं जाती। ऐसे सुभग, सरल, वरद देव का अर्चन–स्मरण–चिन्तन सभी के लिये परम कल्याणप्रद है।

पार्वती–शिव–तनय सर्वाग्र–पूज्य गणेश जी की इस गरिमा का हेतु रामचरित मानस में सन्त तुलसीदास जी बताते हैं –

"महिमा जासु जान गनराऊ।

प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ।।"[1]

इसके विषय में कथानक इस प्रकार है। एक बार देवताओं में इस बात की होड़ लगी कि जो कोई देवता पृथ्वी की परिक्रमा सर्वप्रथम कर लेगा, वही आदिपूज्य होगा। सभी देवता उस दौड़ में सम्मिलित हुये। उसमें श्री गणेश जी भी थे, किन्तु उनको कोई अभिमान नहीं था। वे जानते थे कि मेरे वाहन श्री मूषक जी हैं। जिनकी चाल बहुत धीमी हैं, भला, इनके द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा कैसे हो सकेगी ? लेकिन गणेश जी 'राम–नाम' के प्रभाव को जानते थे। 'राम–नाम' के द्वारा कौन–सी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती ? उन्होंने तुरन्त यह कार्य किया कि पृथ्वी पर ही राम–नाम लिख दिया। 'राम' से सारा विश्व ही ओत–प्रोत है और उसी राम–नाम लिखी हुयी पृथ्वी की उन्होंने अपने मूषक सहित परिक्रमा कर दी। इस प्रकार उनके द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा सम्पन्न हो गयी। इस रीति से देवताओं की परिक्रमा की होड़ में वे सर्वप्रथम आ गये। बुद्धि से कौन–सा काम कठिन है ? राम–नाम का प्रभाव और साथ–साथ उसमें बुद्धि का समावेश–इन दोनों के द्वारा श्री गणेश का सर्वप्रथम पूज्य एवं वन्द्य हो गये। राम–नाम स्वयं एक महामन्त्र है, जिसके जपने से कोई भी ऐसी सिद्धि नहीं है, जो प्राप्त नहीं हो सकती ? सन्त तुलसीदास जी राम–नाम की महत्ता को जानने और समझने वाले थे। अपनी रचना रामायण में जहाँ उन्होंने राम–नाम की महत्ता का वर्णन किया हैं, वहाँ स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि 'राम–नाम–जप' का ही यह प्रभाव था, जिसके द्वारा गणेश जी समस्त देवता–समूह में सर्वप्रथम पूजनीय हो गये। यही गणेश जी की महिमा है, जिसके कारण हम सर्वप्रथम अपने सभी मंगल–कार्यों में 'श्री गणेशाय नमः' बोलते और लिखते हैं तथा हमारे सभी मंगल–कार्यों में प्रारंभ करने

---

1. रामचरित मानस 1.18.2

का पर्यायवाची शब्द 'श्री गणेशाय नमः' बन गया है।

अतः सुस्पष्ट है कि श्री गणेश जी के स्मरण पूजन के बिना अनेक विघ्न–बाधाओं का आना स्वाभाविक है। अतः इन मंगलमूर्ति का ध्यान–आराधना परम अपेक्षित है।

भारतीय संस्कृति में श्री गणेश

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में पार्वती नन्दन के आठ नामों का निर्देश है – 1. गणेश 2. एकदन्त 3. हेरम्ब 4. विघ्ननायक 5. लम्बोदर 6. शूर्पकर्ण 7. गजवक्त्र 8. गुहाग्रज

"गणेशमेकदन्तं च हेरम्बं विघ्ननायकम्।

लम्बोदरं शूर्पकर्णं गजवक्त्रं गुहाग्रजम्।।"(1)

श्री गणेश जी के आठ से बढ़ते–बढ़ते सहस्रनामतक निर्दिष्ट हैं, पर यहाँ केवल उपर्युक्त आठ नामों का ही अनुसंधानात्मक विवेचन करना अभिप्रेत है। चुरादिगणनीय 'गण संख्याने' धातु से 'अच्' प्रत्यय करने से 'गण' शब्द निष्पन्न होता है और तब यह 'गण'–शब्द शिव के प्रथम–प्रभृति 36 कोटिमित गणों का बोधक सिद्ध होता है। इसी कारण अदादिगणीय 'ईश् ऐश्वर्ये' धातु में 'क' प्रत्यय के योग से 'ईश'–शब्द व्युत्पन्न होता है और 'गण' तथा 'ईश'–ये दोनों शब्द परस्पर संहित होकर 'गणेश'–शब्द की सिद्धि करते हैं। शब्दशास्त्रानुसार 'गणेश' का व्युत्पन्नार्थ हुआ गणों का नेता अथवा शिव का सेनाध्यक्ष।

1. **गणेश** – शब्दगत प्रथम अक्षर 'ग' ज्ञानार्थवाचक है और द्वितीय अक्षर 'ण' निर्वाणवाचक है तथा अन्तिम 'ईश' शब्द स्वामिवाचक है। इस प्रकार सम्पूर्ण गणेश का शब्दार्थ है ज्ञान तथा निर्वाण का स्वामी ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर या परमतत्व आदि।

"ज्ञानार्थवाचको गश्च णश्च निर्वाण वाचकः।

तयोरीशं परं ब्रह्म गणेशं प्रणमाम्यहम्।।"(2)

2. **एकदन्त** – शब्द में 'एक'–शब्द प्रधानार्थक है तथा 'दन्त'–शब्द बलवाचक है। अतः बहुब्रीहि–समास–सम्पन्न 'एकदन्त'–शब्द का अर्थ होता है–सर्वोत्कृष्ट बलशाली।

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3.44.85
2. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3.44.87

"एक शब्दः प्रधानार्थो दन्तश्च बलवाचकः।

बलं प्रधानं सर्वस्मादेकदन्तं नमाम्यहम्।।"(1)

3. हेरम्ब – शब्द का प्रथम अक्षर 'हे' दैन्य या अभाववाचक तथा 'रम्ब'–शब्द पालनार्थक है। अतः षष्ठीतत्पुरुषान्त 'हेरम्ब' का शब्दार्थ हुआ–दीन या भक्तजनों का सर्वथा पाल्यकर्ता।

"दीनार्थ वाचको हेश्च रम्बः पालकवाचकः।

दीनानां पालकं तं च हेरम्बं प्रणमाम्यहम्।।"(2)

4. विघ्ननायक – पूर्वार्ध 'विघ्न'–शब्द विपत्ति वा अमंगल वाचक है और उत्तरार्ध 'नायक'–शब्द–खण्डनार्थक या अपहरणार्थक है। अतएव सम्पूर्ण 'विघ्ननायक'–शब्द का अभिधेयार्थ है–अशेष विपत्ति या विघ्न–बाधाओं का संहारक।

"विपत्ति वाचको विघ्नो नायकः खण्डनार्थकः।

विपत्खण्डनकर्तारं नमामि विघ्ननायकम्।।"(3)

5. लम्बोदर – शब्द बहुब्रीहि–समास के द्वारा सिद्ध हुआ है। इसका विग्रह होता है–'लम्बम् उदरं यस्य सः लम्बोदरः।' अर्थात् लम्बा है उदर–पेट जिसका, वह। पूर्वकाल में भगवान् विष्णु के द्वारा दिये गये नैवेद्यों तथा पिता के द्वारा समर्पित विविध प्रकार के मिष्ठानों के खाने से गणेश का उदर लम्बा हो गया है। अतः गणेश 'लम्बोदर' शब्द से अभिहित हैं।

"विष्णुदत्तैश्च नैवेद्यैर्यस्य लम्बोदरं पुरा।

पित्रा दत्तैश्च विविधैर्वन्दे लम्बोदरं च तम्।।"(4)

6. शूर्पकर्ण – शब्द से भी बहुब्रीहि–समास है और उसका अर्थ होता है–सूप के समान बड़े–बड़े कर्ण हैं जिनके, वे गणेश। अर्थात् जिस प्रकार सूप से अन्नों में से दूषित तत्वों को फटककर उन्हें परिष्कृत कर दिया जाता है, उसी प्रकार श्री गणेश जी

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3.44.88
2. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3.44.89
3. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3.44.90
4. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3.44.91

अपने शूर्पकर्णों से भक्तजनों के विघ्नों का निवारण कर विविध ऐश्वर्य तथा ज्ञान प्रदान करते हैं।

"शूर्पाकारौ च यत्कर्णौ विघ्नवारणकारणौ।

सम्पदौ ज्ञानरूपौ च शूर्पकर्णं नमाम्यहम्।।"[1]

7. **गजवक्त्र** – शब्दार्थ के प्रतिपादन में कहा गया है कि जिनके मस्तक पर मुनि के द्वारा प्रदत्त विष्णु का प्रसादरूप पुष्प विराजमान है तथा जो गजेन्द्र के मुख से युक्त हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।

"विष्णु प्रसाद पुष्पं च यन्मूर्ध्नि मुनिदत्तकम्।

तद् गजेन्द्रवक्त्रयुक्तं गजवक्त्रं नमाम्यहम्।।"[2]

8. **गुहाग्रज** – शब्द में षष्ठी तत्पुरुष–समास के योग से इसका तात्पर्य है कि जो गुह–स्वामि कार्त्तिकेय से पूर्व जन्म ग्रहणकर शिव के भवन में आविर्भूत हुये तथा समस्त देवगणों से अग्रपूज्य हैं, उन गुहाग्रजदेवकी मैं वन्दना करता हूँ।

"गुहस्याग्रे च जातोऽयमाविर्भूतो हरालये।

वन्दे गुहाग्रजं देवं सर्वदेवाग्रपूजितम्।।"[3]

गुहाग्रज–शब्द में 'गुहः अग्रजो यस्य सः' इस प्रकार बहुब्रीहि–समास करने पर श्री गणेश जी स्वामिकार्त्तिकेय के अनुज भी सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार मंगलमूर्ति आदिदेव परब्रह्म परमेश्वर श्री गणपति के अवतारों का अत्यन्त संक्षिप्त मंगलमयी वर्णन किया गया है। इसक पठन, श्रवण और मनन–चिन्तन जन–जनके लिये परम कल्याणकारक है। इन अवतारों का पौराणिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, उससे भी बढ़कर आध्यात्मिक महत्व है। श्री गणपति सर्वव्यापी परमात्मा सबके हृदय में नित्य विराजमान हैं। अतः आसुरी वृत्तियों के दमन तथा दैवी सम्पदाओं के संवर्धन के लिये परम प्रभु गणपति का मंगलमय स्मरण करना ही सबके लिये सर्वथा श्रेयस्कर है।

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3.44.92
2. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3.44.93
3. ब्रह्मवैवर्त पुराण 3.44.94

विदेशों में श्रीगणेश

सर्वलोकवन्दित भगवान् श्री गणेश जी की अर्चना का आलोक केवल भारतवर्ष को ही नहीं, प्रत्युत विश्व के अन्य अञ्चलों को भी सदियों से उद्भासित करता आया है। विदेशों में श्री गणेश जी की पूजा के सम्बन्ध में ऑक्सफोर्ड के क्लारेंडन प्रेस से प्रकाशित 'गणेश–ए–मोनोग्राफ ऑफ द एलीफेंट–फेस्ट गॉड[1]–नामक पुस्तक में विशद वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में प्रकाशित तथ्यों के अनुसार भारत के अतिरिक्त चीन, चीनी तुर्किस्तान, तिब्बत, जापान, अमेरिका, स्याम, हिन्द–चीन, जावा तथा बोर्नियों में भी श्री गणेश जी प्रतिमायें मिलती हैं। इन मूर्तियों से उन–उन देशों में श्री गणेश जी के नाम और पूजन के प्रसार का पता चलता है।

बोर्नियो – बोर्नियों की श्री गणेश जी की आसन कांस्य मूर्ति विशेष प्रसिद्ध है।

चीन – चीन में श्री गणेश जी की दो मूर्तियाँ एक साथ जुड़ी हुयी खड़ी मुद्रा में पायी जाती है। चीनी भाषा में भगवान श्री गणेश का नाम "कुआन–शी–तिएन" है।

जापान – जापान में विघ्नेश श्री गणेश जी की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनके दो अथवा चार हाथ दिखाये गये हैं। जापानी भाषा में भगवान् श्री गणेश जी को "कांगितेन" के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

जावा – जावा में 'चण्डी–बनोन' नामक शिव मन्दिर में ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के साथ श्री गणेश जी मूर्ति अंकित है।

हिन्द–चीन – कंबोडिया एशिया महाद्वीप के उस भाग का टुकड़ा है, जिसे "हिन्द–चीन" कहा जाता है। यहाँ श्री गणेश जी को "केनेस" कहते हैं।

तिब्बत – तिब्बत में शैव एवं बौद्ध दोनों ही प्रकार के मन्दिरों में गणेश जी की मूर्तियाँ पायी जाती हैं।

नेपाल – नेपाल में 'सूर्य–विनायक' के रूप में श्री गणेश जी की पूजा की जाती

---

1. गणेश ए मोनोग्राफ आफ द ऐलीफेंन्ट फेस्ट गॉड, "एलिस गेट्टी" क्लारेन्डन प्रेस ऑक्सफोर्ड यूनाइटेड किंग्डम

है। "पुराण विमर्श"[1] के लेखक के मतानुसार 'नेपाल' में बौद्ध धर्म के साथ ही गणपति–पूजा का भी प्रचलन है।

स्याम – स्याम देश में भी श्री गणेश जी की अनेक मूर्तियाँ हैं। उसको "अयूथियन" कहते हैं क्योंकि उन दिनों स्याम देश की राजधानी का नाम भी अयूथिया (अयोध्या) था।

चीनी तुर्किस्तान – चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त चतुर्भुज गणेश जी का भित्ति–चित्र विशेष महत्वपूर्ण है।

अमेरिका – अमेरिका में लम्बोदर श्री गणेश की मूर्ति मिलती है। "पुराण–विमर्श"[2] नामक पुस्तक में अमेरिका में श्री गणेश जी की मूर्ति के मिलने का उल्लेख है।

भले ही भगवान् गणेश जी के नाम तथा गुणों से संसार के अधिकांश मानव अपरिचित हों तथा उनकी पूजामात्र भारत एवं भारतेतर कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित हो, परन्तु प्राणियों की बुद्धि–रूपिणी गुहाओं में तो ज्योतियों की भी ज्योति परमात्मा सदा विराजमान हैं ही। ब्रह्माण्ड का कोई ऐसा भाग नहीं है, जहाँ परमब्रह्म श्री गणेश जी का निवास न हो तथा कोई ऐसा जीव नही हो जो उनसे रहित हो –

"ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।"[3]

इस प्रकार भारत के बाहर भी यत्र–तत्र न्यूयाधिक मात्रा में वक्रतुण्ड श्री गणेश जी की पूजा प्रचलित रही है।

गुजरात के गणेश मन्दिर

गुजरात में भगवान् श्री गणेश जी की बड़ी मान्यता है। गुजरात के कुछ गणेश मन्दिरों का विवरण निम्नवत् है।

मोढेरा – मोढेरा नामक स्थल में सिद्धि और बुद्धि–नामक पत्नियों के साथ श्री गणेश की मूर्ति है।

---

1. पुराण विमर्श, श्री बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी–1
2. पुराण विमर्श, श्री बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी–1
3. गीता 13/17

सोमनाथ – सोमनाथ में भालकुण्ड के पास दुर्गकोटि–गणेश जी का मन्दिर है। इसके अतिरिक्त नगर में भी भगवान् श्री गणेश जी का मन्दिर है।

जूनागढ़ – सौराष्ट्र के इस प्रसिद्ध नगर में रेवतीकुण्ड से आगे मुचुकन्द–महादेव तथा भगवान महादेव हैं। उस मन्दिर की परिक्रमा में श्री गणेश जी का मन्दिर है।

सायर – यहाँ श्री गणेश जी ने तप किया था।

सूरत – सूरत में अम्बादेवी का विशाल मन्दिर है। देवी के दाहिने श्री गणेश जी की मूर्ति है।

बड़ोदा – यहाँ कई गणेश मन्दिर हैं। सावरकर गणेश–मन्दिर की मूर्ति मांदार की है। श्री ढुण्ढिराज–गणपति का मन्दिर शिल्पकला तथा वैभव की दृष्टि से बड़ा विख्यात है। नीलकण्ठेश्वर–गणपति की रचना भी कलापूर्ण है। सिद्धनाथ–गणपति के मन्दिर–निर्माण की विशेषता यह है कि जब भगवान् सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन और दक्षिणायन से उत्तरायण जाते समय भूमध्य रेखा पर अवस्थित होते हैं। तब उनकी किरणें मूर्ति पर पड़ती हैं।

गोरज – यहाँ के सिद्धि–विनायक की मूर्ति चतुर्भुज है। यह मन्दिर पहले से ही एक शमी के पेड़ के नीचे है।

गणेश–वट सीसोदरा – यहाँ बड़े–बड़े वटवृक्ष के झुण्ड हैं और उनके बीच में यह एक पक्का बना हुआ मन्दिर है। श्री गणेश जी की मूर्ति एक फुट ऊँची है। इसकी सूँड़ बायीं ओर मुड़ी है। गणेश जी की मूर्ति के पास पार्वती माता की एक प्रतिमा है।

बलसाड – इस नगर में एक भव्य गणपति–मन्दिर है। यह मन्दिर बहुत प्राचीन है, जिसका जीर्णोद्धार विपुल धनराशि लगाकर हाल में ही कराया गया था। यहाँ दाहिनी सूँड़ वाली गणेश मूर्ति चमत्कारिक तथा सिद्धि प्रदान करने वाली है।

खम्भात – यहाँ श्री गणेश जी का स्वतन्त्र मन्दिर ब्राह्मणवाड़ा में है, जहाँ श्री गणेश जी की मनुष्य के कद की भव्य प्रतिमा विराजित है। इसके चार हाथों में चार फण वाले सर्प हैं इसमें सर्प का यज्ञोपवीत भी है। यह मूर्ति बहुत प्राचीन है।

ध्रांगध्र – यहाँ की सात फीट ऊँची एकदन्त मूर्ति एक अखण्ड पत्थर में

उत्कीर्ण है। मन्दिर जोगसर–तालाब के एक किनारे पर है।

अहमदाबाद – भगवान् श्री गणेश जी की मूर्ति सिन्दूरी रंग की है। इसकी सूँड़ दाहिनी ओर है।

धोलका – यहाँ गणेश जी का एक प्राचीन एवं विशाल मन्दिर है। यहाँ गणेश जी की प्रतिमा के समक्ष अखण्ड दीपक सदैव जलता रहता है।

बलाला – यहाँ के मन्दिर की गणेश प्रतिमा कुआँ खोदते समय मिली थी। बाद में लिंबडी–नरेश ने एक भव्य मन्दिर बनवा दिया।

रामकुण्ड – तापी–नदी के किनारे गणेश जी का मन्दिर है। ऐसा कहा जाता है कि कभी ताड़का–वध के बाद भगवान् श्री राम ने यहाँ आकार इनका पूजन किया था।

सेजकपुर – यहाँ खुदाई करते समय विशाल मूर्तियुक्त एक गणेश–मन्दिर प्राप्त हुआ था।

नेपाल के गणेश मन्दिर

जनकपुर – जनकपुर में राम–मन्दिर के घेरे में गणेश जी की भी सिद्ध प्रतिमा है।

भाटगाँव – यहाँ का सूर्य विनाशक–गणेश जी का मन्दिर अत्यन्त भव्य है। मन्दिर के समक्ष एक स्तूप है। जिसके सिरे पर कमल बना है। कमल के ऊपर गणेश जी का वाहन चूहा है।

फुलहर – यहाँ जानकी–राम का प्रथम दर्शन पुष्पवाटिका में हुआ था। (इसी स्थान पर गणेश जी का भी विग्रह है)।

गोर्खा – यहाँ गुरू गोरखनाथ जी के मन्दिर के पास ही गणेश जी का मन्दिर है। जो बड़ा प्रसिद्ध है। नेपाल के प्रसिद्ध गणपतियों में से से एक माने जाते हैं। गोर्खा–क्षेत्र के निवासी इन्हें 'विजय–गणपति' या 'कामना–गणेश' भी कहते हैं।

पंजाब-काश्मीर के गणेश-मन्दिर

पटियाला (पंजाब) – श्री गणेश जी की सुन्दर मूर्तियाँ श्री नैना देवी जी श्री

गौरा देवी जी, श्री सत्य नारायण जी आदि के मन्दिरों में प्रतिष्ठित हैं।

अचलेश्वर – यह स्थान भगवान् श्री गणेश जी की लीलास्थली रह चुकी है। कहा जाता है कि एक बार पारस्परिक श्रेष्ठता को लेकर गणेश जी तथा स्वामिकार्तिक में विवाद हो गया। श्रेष्ठता का निर्णय कर लेने का निर्देश दिया। इस पर गणेश जी ने माता–पिता की ही परिक्रमा कर ली और वे ही विजयी माने गये।

बैजनाथ (काँगड़ा) – बैजनाथ के षड्भुज गणेश यहाँ के प्रसिद्ध एक शिव–मन्दिर में अवस्थित हैं। इनके हाथों में आयुध हैं।

गणेशबल (काश्मीर) – यहाँ गणेश जी के रूप में पूजित एक विशाल स्वयंभू–शिला है।

हरिपर्वत – यहाँ गणपति का विग्रह एक टीले के नीचे है। इनका नाम 'भीमस्वामी' है। इसमें गणेश जी का मस्तक स्पष्ट दीखता है।

गणेशघाटी – यहाँ एक अति प्रसिद्ध स्वयंभू–गणेश मूर्ति है। यहाँ प्रकृति के प्रभाव से एक चट्टान का आकार गणेश जी जैसा हो गया है, जिसमें उनकी सूँड़ लटकी दीखती है।

अमरनाथ – यहाँ जो बर्फ के लिङ्ग बनते हैं, उनमें एक को 'पार्वती' एवं दूसरे को 'गणेश' कहा जाता है।

उत्तर प्रदेश के गणेश-मन्दिर

गाणेश्वरी शिला (टिहरी गढ़वाल) – इस क्षेत्र में एक गाणेश्वरी शिला है। वह लाल रंग की है।

सोमद्वार (सोम–प्रयाग) – यहाँ छिन्नमस्तक गणपति का मन्दिर है। महादेव जी ने गणेश जी का सिर भ्रम से यहीं काटा था और पीछे हाथी का सिर लगाकर उन्हें जीवित कर दिया। यह स्थान भी इसीलिये तीर्थ बन गया।

केदारनाथ – यहाँ मुख्य द्वार पर पहले गणेश जी का पूजन होता है और इसके बाद यात्री मन्दिर के अन्दर जाते हैं।

काँड़ी चट्टी – काँड़ी चट्टी से कुछ दूर पर गणेश जी के दर्शन होते हैं।

कुबेरशिला – यहाँ गणेश जी का एक छोटा सा मन्दिर है। यहाँ से बदरीनाथ के मन्दिर के भी दर्शन होते हैं।

बदरीनाथ – श्री बदरी नारायण जी की मूर्ति के पास में ही गणेश विराजमान हैं।

गणेश गुफा – यहाँ गणेश गुफा है। यहाँ श्री गणेश की अनगढ़ आकृति स्वरूप एक पाषाण है।

आदिबदरी – यहाँ के मन्दिर में भी श्री गणेश विग्रह है। यह प्रतिभा काले पाषाण की है।

हरिद्वार – यहाँ गणेश घाट है, जहाँ गणेश जी की एक विशालकाय मूर्ति है।

वृन्दावन – यहाँ श्री मोटा गणेश का मन्दिर है तथा श्री काव्यायनी मन्दिर का श्री सिद्ध गणेश का श्री विग्रह दर्शनीय है।

अयोध्या – यहाँ गणेश जी का कोई स्वतन्त्र मन्दिर नहीं है। मणिपर्वत के दक्षिण एक गणेश–कुण्ड है। वहीं गणेश मन्दिर के अलग–अलग भग्नावशेष भी हैं। पुराने लोग बतलाते हैं, उस गणेश–मन्दिर की प्रतिमा वही है, जो आजकल कैथाना मुहल्ले में बड़ी सड़क के पास एक पीपल के पेड़ की जड़ पर रखी है। मूर्ति–विशेषज्ञों का कहना है कि यह गणेश–प्रतिमा डेढ़ हजार वर्ष से भी पुरानी है। अयोध्या नरेश के महल में गणेश जी का एक मन्दिर है।

चित्रकूट – यहाँ चित्रकूट एवं करबी के बीच गणेश कुण्ड एवं गणेश जी का एक प्राचीन मन्दिर है।

प्रयाग – प्रयाग को 'ओंकार–गणेश क्षेत्र' कहा जाता है। ऐसे तो सिद्धिसदन गजवदन विनायक की बहुत सी मूर्तियाँ प्रयाग में जगह–जगह पर स्थापित हैं, किन्तु वहाँ गंगा के किनारे कमलनालतीर्थ तथा दशाश्वमेध महादेव के सन्निकट प्राचीन बहुत बड़ी, बहुत सुन्दर, 'बड़े गणेश जी' के नाम से पुकारी जाती है।

वाराणसी – काशी में सर्वफलप्रद श्री ढुण्ढिराज गणेश विराजमान हैं। काशी

में समस्त विनायक–विग्रहों में सर्वाधिक पूज्य एवं श्रेष्ठ स्थान इन्हें ही प्राप्त है।

गोरखपुर – यहाँ श्री गोरखनाथ–मन्दिर में श्री गणेश भगवान् का नव–प्रतिष्ठित विग्रह दर्शनीय है।

पड़रौना – यहाँ गणेश जी का एक छोटा–सा, किन्तु स्वतन्त्र तथा सिद्धि प्रदायक मन्दिर है।

बंगाल और आसाम के श्री गणेश

बड़नगर (बंगाल) – अजीमगंज स्टेशन के पास इस गाँव के अनेक देवालय है, जिनमें अष्टभुज गणेश जी का भी एक श्रेष्ठ मन्दिर है।

गोहाटी (असम) – कामाक्षादेवी के मन्दिर में श्री गणेश जी का एक सुन्दर विग्रह है।

मध्य प्रदेश के गणेश मन्दिर

मध्य प्रदेश की आस्तिक जनता की गणेश जी में बड़ी आस्था है। स्थान–स्थान पर श्री गणेश के दर्शनीय स्थल हैं। गणेश स्थानों की अल्प झलक प्रस्तुत की जा रही है।

खोड़ – शिवपुरी के पास खोड़ग्राम में धाय–महादेव का प्रसिद्ध मन्दिर है। इसी मन्दिर के सामने गणेश जी की मूर्ति है।

उज्जैन – यहाँ के षट्–विनायक के मन्दिर इस प्रकार स्थित हैं – 1. **मोदविनायक** – महाकालेश्वर के मन्दिर में कोटितीर्थ पर इमली के नीचे। 2. **प्रमोदविनायक** (लड्डू विनायक) – विराट् हनुमान् के पास रामघाट पर। 3. **सुमुखविनायक** (स्थिर विनायक या थल – महागणपति) – गढ़कालिका के मन्दिर के पीछे। 4. **दुमुर्खविनायक** – मंगलनाथ की सड़क पर खाकयोके अखाड़े के पीछे अङ्कपाद (चित्रगुप्त मार्ग) की सड़क के पास। 5. **अविघ्न विनायक** – खाकयो के अखाड़े के सामने है, तथा 6. **विघ्वविनायक** – (विघ्नकर्ता) – चिन्तामणि गणेश–मन्दिर स्टेशन के पास बहुत प्रसिद्ध है। इन षट्–विनायकों के पूजन आदि का बड़ा महत्व है। उज्जैन में और भी कई गणेश–मन्दिर हैं।

चिन्तामनगणपति – यहाँ गणेश जी का पुराना मन्दिर है, जो अहिल्याबाई होल्कर द्वारा निर्मित है। यहाँ पर चैत्र महीने के हर बुधवार को यात्रा लगती है।

नवगढ़ – यहाँ श्री गणेश जी की एक बड़ी भव्य सिद्धिदायक मूर्ति हैं। इसके सामने एक शमी–वृक्ष है। जिसकी पत्तियाँ गणेश जी की पूजा के काम में आती हैं।

अमरकण्टक – यहाँ सिद्ध विनायक की भव्य द्विभुज मूर्ति है। इनके दाहिने–बायें ऋद्धि–सिद्धि अवस्थित है। मूर्ति सजीव जैसी लगती है।

ओंकारेश्वर – यहाँ पंञ्चमुख गणेश जी की मूर्ति है।

पगारा – यहाँ अनेकों मन्दिर हैं। जिनमें भगवान् गणपति का मन्दिर मुख्य और भव्य है।

लोणार – यहाँ पवित्र कुण्ड में एक तरफ गणेश जी का दर्शनीय मन्दिर है।

इन्दौर – यहाँ बारह फीट ऊँची विशाल गणेश मूर्ति है। तल रंग से रँगी बड़ी सुन्दर लगती है।

निष्कलङ्केश्वर गणेश – उज्जैन के पास निष्कलङ्केश्वर महादेव के मन्दिर के प्रवेश द्वार में ही यह गणेश मूर्ति है।

बिहार-प्रान्त के गणेश मन्दिर

बिहार शरीफ – यहाँ के बड़े मन्दिर में गणेश जी की संगमर्मर की बनी हुयी आकर्षक प्रतिमा है। यहाँ का दूसरा मन्दिर चंदियाहा गणेश जी का है।

सोहसराय – यहाँ बुढ़वा–गणेश जी का एक भग्न मन्दिर है। यहाँ का दूसरा मन्दिर जवन का गणेश जी का है।

गया – श्री रामशिला के समीप भगवान् श्री गणेश का अति मनोहर मन्दिर है।

माँझा – हथुआ रेलवे स्टेशन से तीन मील दूर श्री गणेश जी का स्वतन्त्र मन्दिर है।

बड़का गाँव – सीवान से तीन मील की दूरी पर स्थित श्री गणेश जी का स्वतन्त्र मन्दिर है।

बडरम – यह ग्राम सीवान से दक्षिण–पूर्व के कोने पर लगभग दो मील पर है। यहाँ श्री गणेश की विशाल काले पत्थर की बनी हुयी मूर्ति है।

बेदौल – मुजफ्फरनगर से सत्रह मील पर जनाढ़–बेदौल–नामक ग्राम से

दक्षिण ओर एक सरोवर है। उसी में एक भव्य प्रतिमा गणेश जी की है।

देकुली – यहाँ स्थूलकाय गणेश जी का एक मन्दिर है।

कन्हौली गजपति – सीतामढ़ी से बारह मील दक्षिण इस गाँव में एक ब्राह्मण के यहाँ 250 वर्षों से पूजित एक भव्य गणेश विग्रह है।

पुनौरा – यह स्थान सीतामढ़ी से तीन मील पश्चिम है। यहाँ श्री महादेव–मन्दिर में एक भव्य गणेश विग्रह है।

राजनगर – यह दरभंगा जयनगर लाइन में पड़ता हैं वहाँ गणेश जी का एक अत्यन्त मनोरम भव्य एवं विशाल मन्दिर है।

वासुकिनाथ – वैद्यनाथधाम से अट्ठाईस मील की दूरी पर वासुकिनाथ महादेव हैं। यहाँ गणेश जी का एक भव्य विग्रह है।

सीतामढ़ी – रक्सौल, दरभंगा रेलवे लाइन पर सीतामढ़ी स्टेशन है। यहाँ मुख्य मन्दिर के पास श्री गणेश जी का मन्दिर है।

अजगैबीनाथ – यहाँ चट्टान पर काटकर गणेश जी की मूर्ति बनायी गयी है।

बैद्यनामधाम – यह हाबड़ा पटना लाइन पर जसीडीह स्टेशन के पास है। वैद्यनाथ मन्दिर के घेरे में ही श्री गणेश जी का भी मन्दिर है।

श्री महादेव सिमिरिया – यह स्थान क्यूल–गया लाइन पर स्थित शेखुपरा स्टेशन के पास है। यहाँ श्री गणेश जी का एक प्रसिद्ध स्थान है।

राजग्रह – यहाँ विपुलाचल पर्वत के दक्षिण में एक सुन्दर गणेश–मन्दिर है।

राजस्थान के श्री गणेश मन्दिर

जोधपुर – सनावड़ा–गणेश जी की मूर्ति इतनी स्पष्ट रूप से अंकित नहीं है, परन्तु प्रत्येक बुधवार को दर्शनार्थियों की भीड़ यहाँ रहती है।

पिचियाक (जोधपुर) – इस स्थान के आस–पास बिखरे हुये गणेश जी के देवालय की छोटी–बड़ी कई प्राचीन भव्य प्रतिमायें पिचियाक–ग्राम के अन्य स्थानों पर रखी हुयी हैं।

घटियाला – जोधपुर के पास इस जगह पर एक प्राचीन पाषाण स्तम्भ है।

स्तम्भ के शिखर पर चार गणेश चार दिशाओं की ओर मुँह किसे पीठ से पीठ सटाकर बैठे हुये हैं।

रायपुर (पाली) – यहाँ गणेश जी महाराज का एक प्राचीन मन्दिर है। मन्दिर के सामने गणेश तालाब है। यहाँ प्रतिवर्ष भाद्र–शुक्ल चौथे को गणेश जी की जयन्ती मनायी जाती है।

जयपुर – यहाँ के विश्वेश्वर–मन्दिर में एक अत्यन्त प्रसिद्ध गणेश–प्रतिमा है।

सिद्धगणेश – सवाई–माधोपुर स्टेशन से पाँच मील दूर एक पर्वत शिखर पर सिद्धगणेश का मन्दिर हैं।

चौथ का बरवाड़ा – सवाई–माधोपुर के बीच इस स्थान से कुछ दूर पहाड़ पर चौथ माता जी का मन्दिर है। वहाँ एक गणेश मूर्ति है।

बरूँधन (बूँदी) – यहाँ गणेश जी का एक प्रसिद्ध मन्दिर है।

रणथम्भौर – सवाई–माधोपुर स्टेशन से दक्षिण पूर्व की ओर गिरि–श्रृंखलाओं से घिरा रणथम्भौर–दुर्ग पर्वत के ऊपर बना हुआ सिद्धिदाता भगवान् गजानन का सुप्रसिद्ध मन्दिर है। पर भगवान गजानन के श्री विग्रह की केवल सूँड़मात्र ही पूर्णरूप से अक्षुण्ण है।

श्री केशवराय पाटण – यह स्थान कोटा–जंकशन से पाँच मील दूर है। यहाँ गणेश जी का मन्दिर है।

उदयपुर – घाटेश्वर मन्दिर के बाहर तोरण–सदृश दो खम्भों पर गणेश जी के मन्दिर हैं।

चित्तौड़गढ़ – गणेशपोल के पास की एवं प्रत्येक द्वार पर अंकित गणपति की मूर्तियाँ हैं। शिवमन्दिर में भी गणपति की छोटी–बड़ी मूर्तियाँ देखने योग्य है।

एकलिङ्गजी – यहाँ एकलिङ्गजी को मन्दिर से थोड़ी ही दूर पर इन्द्रसागर नामक स्थान है। सरोवर के पास गणेश जी का एक मन्दिर है।

गोगुन्दा – यहाँ से दो मील की दूरी पर गणेश जी का विग्रह है।

सोहागपुर – यहाँ शिव मन्दिर के सभामण्डप के ऊपरी भाग पर नृत्य करती हुई गणेश मूर्ति हैं। इस मूर्ति के छः हाथ हैं।

शंकरगढ़ – यहाँ नृत्य मुद्रा में एक षड्भुजी गणेश मूर्ति है।

जालोर – यहाँ मकराने के पत्थर की बनी गणेश मूर्तियाँ हैं।

नागौर – लगभग सातवीं शताब्दी में बने नागौर के दुर्ग में गणपति की विशाल मूर्ति है।

भीलवाड़ा – यहाँ श्री सिद्ध–गणेश–मन्दिर के विग्रह विशेष दर्शनीय हैं।

इसी प्रकार अलवर, कोटा, सिरोही, बाँसवाड़ा, डूँगरपुर, प्रतापगढ़, बीकानेर, पुष्कर, अजमेर आदि स्थानों पर भी भगवान् गणेश के स्वतन्त्र मन्दिर हैं।

आन्ध्र, कर्नाटक तथा केरल के गणेश

1. कुमारस्वामी ने हेरम्ब–गणपति 2. गोकर्ण में सिद्धगणपति 3. हम्पी में बारह हाथ ऊँची बड़े गणेश जी की मूर्ति 4. रेजंतल में शिवप्रभु महागणपति, जय सिद्ध विनायक 5. अइनविल्लि में गणपति 6. फेंच–यानाम् में गणपति 7. भद्राचलम् में हनुमान गणेश 8. विजयवाड़ा में पहाड़ी के पादमूल में एक छोटी गुफा में श्री गणेश मूर्ति 9. कुरुडमडे (कर्नाटक) में महागणपति भी हरे संगमर्मर की मूर्ति 10. इडगुंजी (कर्नाटक) में पञ्चखाद्यप्रिय महागणपति की मूर्ति द्विहस्त तथा सर्पालंकार–भूषित 11. मंगलूर (कर्नाटक) के शरऊ गणपति 12. कासरागोड में श्री महागणपति 13. कर्नाटक में कुमढ़ा के लवणेश–गणपति 14. अग्निहोत्र गणपति और चिंतामणि–गणपति 15. शिशी के महागणपति 16. सिद्धापुर के सिद्धगणपति और 18. मधुरैके मदनेश्वर–सिद्धि विनायक प्रसिद्ध हैं।

इक्कीस प्रधान गणपति क्षेत्र

मोरेश्वर–में मयूरेश गणेश मूर्ति, प्रयाग–में ओंकारगणपतिक्षेत्र काशी–में ढुण्ढिराज गणेश, कलम्ब–में चिन्तामणि–गणेश अदोष–में शमी विघ्नेश क्षेत्र, पाली में वल्लाल–विनायक क्षेत्र, पारिनेर–में मंगल मूर्ति क्षेत्र, गंगामसले–भालचन्द्र गणेशक्षेत्र, राक्षस भुवन–में विज्ञान गणेश क्षेत्र, थेऊर–में गणेश, सिद्धटेक में विष्णु द्वारा स्थापित गणपति मूर्ति, राजनगाँव में शिवजी द्वारा स्थापित गणेशमूर्ति, विजयपुर में गणपति मन्दिर, कश्यपाश्रम–में गणेश जी, जलेशपुर–में असुरों ने गणेश जी की स्थापना की लोह्यद्रि–में, पार्वती ने गणेश जी को पुत्र

रूप में पाने के लिये तपस्या की, बेरोल में लक्ष–विनायक, पद्मालय में गणपति मूर्तियाँ, नामलगाँव–में आशापूरक गणेशमूर्ति, राजूर–में गणेश गीता का उपदेश, कुम्भमोणम् में श्वेत–विघ्नेश्वर क्षेत्र प्रसिद्ध है।

उत्कल-प्रदेश के श्री गणेश मन्दिर

श्री जगन्नाथ जी के मन्दिर में कई गणेश–विग्रह हैं जैसे 1. कर्णाटक गणपति–'उच्छिष्ट गणेश' अथवा 'भण्ड–गणपति' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। 2. नृत्यगणपति 3. कल्प गणपति – कल्प वृक्ष के नीचे कल्प गणपति स्वतंत्र मन्दिर में विराजमान हैं। 4. चारगणपति 5. पञ्च विनायक 6. मणिकर्णिका गणेश।

गणेश के मन्दिर एवं तीर्थ उड़ीसा में प्रायः सर्वत्र ही मिल जाते हैं जैसे 1. नइगुआ भोगद–गणेश 2. गोप के खदिर–गणपति 3. कटक के वरद–गणनाथ 4. गणेश घाट गणेश के विघ्न विनाश श्री गणेश मूर्ति 5. महावीणा पर्वत के महाविनाशक श्री गणेश 6. गुहा गणपति 7. याजपुर के श्री गणेश जी की सुन्दर मूर्ति हैं। उड़ीसा में उपलब्ध गणपति की सभी प्रतिमायें कृष्ण प्रस्तर से निर्मित हैं।

द्रविड़-देश में श्री गणेश

द्रविड़, मद्रास, कालहस्ती, वेंकटगिरि, अरूणाचल, काञ्ची, चिदम्बरम, तिरुनारैयूर, शियाली, पिल्लैयार पट्टी, तिरुच्चेङ्गट्टाङ्कुडि, कोट्टाइयूर, तिरुप्पूरंपयम्, तिरुवलम्–चुलि, पुद्द्रुचेरि, तंजौर, कोडमुडी में कावेरी कान्त विनायक, चित्रिनापल्ली, जम्बुकेश्वर, रामेश्वरम् में वन विनायक मन्दिर, मदुरा, तिरुप्परंकुत्रम् वंडियूर तेप्पकुलम्, तिरुप्पारूणदुराई में वेपिल उमाण्डा विनायकर कुत्तालम्, तिरुनेल्वेली, कन्याकुमारी में 'इन्द्रकान्त विनायक' शुचीन्द्रम् में मायागणपति, शक्ति विनायक वल्लभ–विनायक, तिरुवदनाई ताल्लुका में तोंडी–विनायक, मायावरम् के गणेशत्रय (स्थल–विनायक, अगस्त्य–विनायक और कोढी–विनायक)– तिरुक्कदैयूर के अमृतसिद्धि विनायक गुडुवाचेरी के सिद्धि–गणपति, नेगापट्टम् के हेरम्ब गणपति आदि श्री गणेश स्थलों एवं मन्दिरों की तमिलनाडु में बड़ी ख्याति है।

महाराष्ट्र के गणेश मन्दिर

मोरगाँव – यहाँ के देवता हैं – मयूरेश्वर। यहाँ गणेश जी के आगे एक बहुत बड़े चूहे की प्रतिमा है, जो पैर में लड्डू पकड़े है। भीतरी आँगन में मुद्गलपुराणोक्त श्री गणेश की आठ प्रतिमायें आठ कोनों में हैं। प्रतिमा के अगल–बगल धातु की सिद्धि–बुद्धि की प्रतिमायें हैं। मूर्ति के सामने वाहन के रूप में मूषक एवं मयूर हैं।

थेऊर – यहाँ के गणेश जी का नाम 'चिन्तामणि' है। यहाँ पर स्थित श्री गणेश्या प्रतिमा पालथी मारे हुये बैठी मुद्रा में है तथा प्रतिमा की सूँड़ बायीं ओर एवं पूर्वाभिमुख है।

लोह्यादि – गणेश पुराण में इस स्थान का उल्लेख है। यहाँ पर गणेश–प्रतिमा एक तारवे के भीतर है, जो 'गिरिजात्मज' के नाम से प्रसिद्ध है।

ओझर – यहाँ 'श्री विघ्नेश्वर जी' की बड़ी प्रतिष्ठा है। मूर्ति की सूँड़ बायीं तरफ है।

राजनगाँव – यहाँ के श्री विग्रह को 'महाराणपति' कहते हैं। इस समय मन्दिर में जो पूजामूर्ति है; उसके नीचे तहखाने में दूसरी एक छोटी मूर्ति है। वही असली मूर्ति है। इन गणेश जी का नाम 'मर्होकट' है।

चिंचवड़ – यहाँ समाधि स्थल पर स्थित श्री गणेश मूर्ति पद्मासन में है। सूँड़ दाहिनी ओर मुड़ी है। केवल दो आँखें दिखलायी देती हैं।

इन मुख्य स्थानों के अतिरिक्त पूना शहर में कसवागणपति, सिद्धि विनायक, वरद–गुपचुप गणपति, दशभुज चिन्तामणि, त्रिशुण्ड आदि गणेश मन्दिर है।

पाली (जिला–कुलाबा) – यहाँ के श्री गणेश जी का नाम बल्लालेश्वर है। गणेश पुराण तथा मुद्गल पुराण में इसका उल्लेख है। इस मन्दिर के पीठ की ओर श्री धुण्डिविनायक का मन्दिर है।

महड़ (जिला–कुलाबा) – महड़ के श्री वरदविनायक अष्टविनायकों में प्रसिद्ध हैं।

नाँदगाँव (जिला–कुलाबा) – यहाँ स्वयम्भू गणपति देवता हैं।

कनकेश्वर (जिला–कुलाबा) – यहाँ पीले संगमर्मर के पत्थर की सिद्धि–बुद्धि एवं लक्ष–लाभ बालकों सहित श्री लक्ष्मी गणेश की मूर्ति है। इन गणेश जी का नाम 'श्री राम–सिद्धि विनायक' है।

कडाव (जिला कुलाबा) – यहाँ के श्री दिगम्बर सिद्धि–विनायक का मन्दिर प्रसिद्ध है।

टिटवाला (जिला–थाना) – यहाँ एक गणेश प्रतिमा है। इसे 'वरविनायक' या 'विवाह विनायक' भी कहते हैं।

बंबई – यहाँ दो प्रसिद्ध गणपति मन्दिर हैं एक प्रभादेवी का 'सिद्धि विनायक मन्दिर' और दूसरा है मूलजी जेठा का पड़ मार्केट का 'सिद्धि विनायक–मन्दिर'। बबई में अनेक गणेश मन्दिर हैं। गिरगाँव के फड़के गणपति जी, मुम्बा देवी के गणेश जी, इनके अतिरिक्त वाणगंगा, वालकेश्वर, भूलेश्वर, गणेशवाड़ी, बडाला, माटुंगा, कालबादेवी, मंदार–गणेश, बांद्रा आदि स्थानों में श्री गणेश मन्दिर दर्शनीय हैं।

पुल्या (जिला रत्नागिरि) – यहाँ गणपति मूर्ति पर सूर्य की किरणें ठीक स्वर्णिम कलश से होकर पड़ती हैं।

ताशगाँव (जिला साँगली) – यहाँ गणपति पञ्चायतन का मन्दिर है।

साँगली – यहाँ का गणपति मन्दिर चमकते हुये काले पत्थर का है।

बाई (जिला–सतारा) – यहाँ के ढोल्या–गणपति (विशालकाय गणेश) प्रसिद्ध है।

सतारा – शहर के पास आज्जिक्य किले की पहाड़ी के उतार पर भी गणेश मन्दिर है।

सिद्धटेक (जिला अहमदनगर) – यहाँ के 'सिद्धि विनायक' हैं इनकी सूँड़ दाहिनी ओर झुकी है।

मालीवाडा (जिला अहमदनगर) – यहाँ का गणपति मन्दिर प्राचीन एवं जाग्रत है। पचास साल पूर्व यहाँ के गणेश जी को पसीना आने लगा था तब से यह स्थान प्रसिद्ध है।

नासिक – यहाँ के मोदकेश्वर 'हिगल्या का गणपति' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त और भी गणेश मन्दिर हैं।

एरंडोल (जिला–जलगाँव) – गणेश पुराण में इसका वर्णन है। यहाँ का पद्मालय–क्षेत्र प्रसिद्ध है। गणेश जी की दो स्वयम्भू मूर्तियाँ हैं एक दाहिनी ओर मुड़ी सूँड़ की एवं दूसरी बायीं ओर मुड़ी सूँड़ की है।

कदम्बपुर (जिला यवतमाल) – यहाँ 'चौमुखी गजानन' की मूर्ति है। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र में अनेक छोटे बड़े गणपति मन्दिर हैं जैसे केलझा (जिला चर्धा) में गणेश प्रतिभा पाण्डवों द्वारा स्थापित, आधासा (जिला नागपुर) में श्री शमी विघ्नेश, नागपुर में सीतावर्डी किले में गणपति मन्दिर, वेरुल (जिला औरंगाबाद) में श्रीलक्ष–विनायक, सेन्दुवाड़ा (जिला औरंगाबाद में सिन्दूरान्तक, राजूर (जिला औरंगाबाद) में 'वरेण्य–पुत्र गणपति' गंगामसलें जिला परभणी) में सिद्धाश्रम, परभणी में बैठा गणेश, खड़ा गणेश, ऋद्धि–सिद्धि गणेश, दशभुज गणेश, नांदेड़ में 'चित्रकूट–गणेश' नवगण राजुरी (बीड़) में श्री नवगणपति मन्दिर यहाँ चार गणेश मूर्तियाँ हैं। पूर्व की ओर महामंगल, दक्षिण की ओर मयूरेश्वर, पश्चिम की ओर शेषाब्धिस्थित, उत्तर की ओर अन्तिष्ठ गणेश की मूर्तियाँ हैं, राक्षस भवन (बीड़) में श्री विज्ञान–गणेश, बांदिवडे (गोवा) में श्री गोपाल–गणपति आदि गणेश मन्दिर प्रसिद्ध हैं।

जनपद जालौन के मन्दिरों में गणेश प्रतिमायें

देवराधना में गणेश जी का अतिशायी महत्व सर्वविदित है। देवोपासना में मंगलमूर्ति श्री गणेश को प्रथम स्थान का गौरव प्राप्त है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र जनपद जालौन में कई प्राचीन गणेश मन्दिर हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नवत है –

1. **लक्ष्मी नारायण मन्दिर (उरई)** – उरई नगरी में माहिल तालाब के तट पर स्थित लक्ष्मी नारायण का प्राचीन मन्दिर है जो चन्देलकालीन शैली में इस मन्दिर में पूर्व की ओर मुख किये हुये गणेश की मूर्ति भी विद्यमान है। 3 अप्रैल 1858 ई. वी. में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने कालपी की ओर कूच के दौरान यहाँ पर रूकी थीं।

2. **महाकालेश्वर का मन्दिर (कोंच)** – 200 वर्ष पुराना यह मन्दिर बंजारों

के द्वारा बनाया गया था। जिसे नायक का मठ भी कहा जाता है। गणेश की दोनों प्रतिमाओं में एक मूषकासीन गणपति और दूसरी पदमासीन मूर्ति हैं।

3. **गड़ी का गणेश मन्दिर (कोंच)** – यह मन्दिर मराठा कालीन (1730) है। इसमें गणेश की नृत्य प्रतिमा विराजमान है।

4. **रामलला का मन्दिर (कोंच)** – यह मन्दिर 300 वर्ष पुराना है। महारानी लक्ष्मीबाई के अराध्य गुरू महान्त आत्माराम दास इस मन्दिर के महात्मा थे। यह गणेश प्रतिमा पीपल की है जो सिंहासन के दाहिनी तरफ विराजमान है।

5. **बड़ी माता का मन्दिर (कोंच)** – कोंच के बड़ी माता मन्दिर के प्रवेश द्वार पर ही दाहिनी तरफ एक कक्ष बना हुआ है जिसमें गणेश की संगमरमर की प्रतिमा विराजमान है।

6. **मँन्सिल मन्दिर (उरई)** – उरई के तिलक नगर में स्थित इस मन्दिर में गणेश की नृत्यमुद्रा में अष्टभुजी प्रतिमा स्थित है जो आकर्षक एवं बलुआ पत्थर से बनी है। यह मन्दिर चन्देलकालीन प्रतिमाओं के महत्व को दर्शाता है।

7. **पाहुलाल देवालय (कालपी)** – इस गोपाल मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध राधाकृष्ण की मूर्ति के साथ–साथ लाल पत्थर की बनी हुयी सुन्दर लुहावनी श्री गणेश की मूर्ति भी विराजमान है।

8. **बिहारी जी का मन्दिर (कालपी)** – 500 वर्ष पुराना किला घाट कालपी में बिहारी जी का प्राचीन मन्दिर स्थापित है। इस मन्दिर में वक्रतुण्डि एवं लम्बोदर के रूप में गणेश जी को प्रदर्शित किया गया है। ये प्रतिमायें पत्थर द्वारा निर्मित हैं।

9. **गणेश मन्दिर (कालपी)** – कालपी का गणेश मन्दिर मुहल्ला गणेश गंज में स्थित है जो 12वीं शताब्दी में मराठा शासक बालाजी वाजीराव द्वारा जीर्णोद्धारित करवाया गया था।

10. **गोविन्देश्वर मन्दिर (जालौन)** – मुहल्ला गोविन्देश्वर जालौन में स्थित है। 12वीं और 19वीं शदी की सुन्दर गणेश प्रतिमायें पत्थर की बनी हुयी विद्यमान हैं इस मन्दिर को गोविन्द राव ने बनवाया था।

जनपद के संग्रहालयों में संग्रहीत गणेश प्रतिमायें

जनपद जालौन के प्रमुख दो संग्रहालय जिनमें प्रथम महात्मा गाँधी संग्रहालय कालपी, द्वितीय बुन्देलखण्ड संग्रहालय उरई में स्थित 12वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी तक की गणेश प्रतिमायें संग्रहीत हैं। जो कि द्रष्टव्य हैं।

अतएव जनपद जालौन के पाँचों तहसीलों में गणेश की सुन्दर प्रतिमायें स्थापित हैं जो ग्यारहवीं, अठारहवीं, उन्नीसवीं शदी को प्रदर्शित करती है। इन तहसीलों के ग्रामीण क्षेत्र में भी अनेक प्राचीन मन्दिर हैं जिनमें भेंड का गणेश मन्दिर, चमरसेना ग्राम में दाहिनी ओर सूँड़ किये हुये, पत्थर पर चित्रित, सुन्दर, लुभावनी मंगलदायक गणेश की मूर्ति विराजमान है। यह मन्दिर तालाब के किनारे बाँध पर बना हुआ है। इसी प्रकार जनपद जालौन में रामपुरा, माधौगढ़, नदीगाँव, जालौन, ताहरपुरा आदि में भी गणेश प्रतिभा में स्थापित है। जो इस जनपद के ऐतिहासिक सांस्कृतिक व धार्मिक महत्व को दर्शाते हैं।

उपसंहार

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

गणेश पुराण में पूर्वमध्यकालीन समाज में प्रचलित सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक तत्वों का निरूपण हुआ है। इन विशेष सन्दर्भों में गणेश की आवश्यकता और महत्व को प्रतिपादित किया गया है। गणेश की प्राचीनता को वैदिक परम्परा से जोड़कर उसे तत्कालीन अन्य देवों से श्रेष्ठ और शीर्ष स्थान प्रदान किया गया है।

पूर्वमध्यकाल के भय, विश्रृंखलता और आतंक के समय में विविध धार्मिक सम्प्रदायों के पूर्ववर्ती मूल्य निरर्थक प्रतीत होने लगे थे। समाज को ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो उसे विघ्न एवं विपत्ति से न केवल मुक्त करा सके अपितु उसे भौतिक संरक्षण भी दे सके। यदि पश्चिमोत्तर भारत की पूर्वमध्यकालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में गणेश पुराण तथा उसमें वर्णित धर्म का ऐतिहासिक विश्लेषण किया जाये तो यह स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र में गणेश को प्रधान देवता का स्थान देते हुए एक सर्वथा नवीन धार्मिक सम्प्रदाय, तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण विकसित हुआ, जिनमें गणेश के महत्व को समाज में प्रतिस्थापित कर उनके विघ्नहर्ता स्वरूप को जन समुदाय के समक्ष प्रचारित किया गया। पूर्वमध्यकालीन परिवर्तित सामाजिक एवं धार्मिक दबाव में गणेश के प्रचार–प्रसार ने गाणपत्य सम्प्रदाय का विकास किया। गणेश पुराण में इस सम्प्रदाय और उससे सन्दर्भित धर्म का विस्तृत विवेचन–स्थापन हुआ है। गणेश पुराण का मुख्य उद्देश्य गणेश के महत्व को बताना तथा तत्कालीन समाज में उन्हें सर्वोपरि देव के रूप में स्थापित करता था। गणेश की स्वरूपगत अवधारणा के साथ–साथ उनकी आध्यात्मिक एवं नैतिक मान्यता का भी विकास हो रहा था। भारतीय धर्म की समन्वयशील प्रवृत्ति ने समाज में गणेश की उपासना के सन्दर्भ में भी विभिन्न परम्पराओं को समन्वित करने का प्रयास किया। गणेश को सर्वश्रेष्ठ देव के रूप में स्थापित करने के लिये प्राचीन एवं नवीन तत्वों को एक स्थान पर सुव्यवस्थित करने का महत्वपूर्ण कार्य भी इस रचना ने किया है।

गणेश पुराण का काल, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, हाज़रा महोदय ने 1100–1400 ई. निर्धारित किया है। यह मत सर्वथा तर्कसंगत है, क्योंकि गणेश पुराण में उत्तर पूर्वमध्यकालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दशा स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होती है।

गणेश पुराण में उल्लिखित सामाजिक परम्पराओं, समाज व काल के अनुसार परिवर्तित हो रही वैदिक मान्यताओं का बोध कराती है। आश्रम व्यवस्था का उल्लेख इसमें प्राप्त होता है, किन्तु इसके प्रति समाज में प्रतिबद्धता नहीं दिखायी देती। समाज में चातुर्वर्ण्य धारणा व्याप्त थी। ब्राह्मण अपनी तपःशक्ति तथा बौद्धिक उपलब्धियों के कारण विशेष सम्मान पाया हुआ वर्ग था। गाणपत्य धर्म के प्रचार–प्रसार में उसका विशेष योगदान रहा। क्षत्रियों को भी सम्मानप्रद स्थान मिला था। उनका स्थान ब्राह्मणों के बाद का है। वैश्यों और शूद्रों की स्थिति परिवर्तनशील थी।

पूर्वमध्यकाल में राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों ही क्षेत्रों में ऐसी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें नवीन मूल्य व मान्यताओं की प्रतिस्थापना और अनिवार्यता पर बल दिया गया। इस काल में भूमि अनुदानों की परम्परा ने सामंती जीवन पद्धति का प्रारम्भ किया, साथ ही जमीन वाले एक मध्यवर्ती वर्ग का विकास भी किया। ब्राह्मणों को भूमि अनुदान दिये जाने से यह वर्ग विकसित हुआ। उन्हें गाँवों में इस भूमि पर मालिकाना हक मिला। इन भूमि अनुदानों ने, व्यापारिक गतिविधियों के ह्रास, काव्य–साहित्य, क्षेत्रीय भाषाओं, स्थानीय कला, सम्प्रदायों आदि के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। इन क्षेत्रों में नये विकास–अंकुर उभरते हुए दिखाई देते हैं। इसी युग के आरंभ में कुछ क्षेत्रीय जातीयताओं का भी विकास हुआ, जो स्थानीय राजवंशीय शासन, भूमि अनुदान, लिपि, भाषा, कला, त्योहारों और तीर्थ–स्थानों पर आधारित थी। गुप्तोत्तर काल में नगरीकरण का ह्रास शुरू हुआ और यह प्रक्रिया पूर्वमध्यकाल के उत्तरखण्ड तक चलती रही। इसने महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनों को जन्म दिया। जातियों की संख्या में वृद्धि होने लगी। कुछ गोत्र आधारित इकाइयों जैसे, जन, विश्, ग्राम, कुल, जाति आदि के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण होने लगा। जातियों में भी उपजातियाँ विकसित हो रही

थीं। सामंतवादी प्रवृत्ति के अभ्युदय के कारण वैश्यों का पतन हो रहा था। ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के कृषि एवं वाणिज्य में प्रवृत्त होने के कारण वैश्यों की स्थिति ह्रासमान हो गयी थी। शूद्रों के उत्थान में धार्मिक कारक विशेष सहायक थे। यद्यपि वे पूर्णतया स्वतंत्र नहीं थे। जाति बहुगुणन के कारण चरवाहा, कृषक, आभीर, भिल्ल, सोनार, मोंच आदि उपजातियों का प्रादुर्भाव हुआ था। पूर्व मध्यकाल में सामन्तीकरण के कारण आर्थिक इकाइयों का आकार अपेक्षाकृत छोटा हो गया था। मुद्राओं के अभाव से ह्रासोन्मुखी अर्थव्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। गणेश पुराण में सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में होने वाला यह परिवर्तन तथा इनका बदलता स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस परिवर्तनशील मूल्यों के दौर में गणेश उपासकों ने समाज के उस वर्ग को भी स्वयं जे जोड़ने का प्रयास किया जो सामाजिक स्तरीकरण के नीचे के स्तर से ऊपर आने का प्रयास कर रहा था। वह वर्ग शूद्रों का था। गणेश पुराण में स्पष्ट वर्णित है कि इस पुराण को सुनने वाला शूद्र क्रमशः उच्च वर्ण को हासिल कर सकता है। एक स्थल पर कहा गया है कि गणेश पुराण के अध्ययन से शूद्र वैश्य, वैश्य क्षत्रिय तथा क्षत्रिय ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त कर सकता है। शूद्र गणेश पुराण में तीर्थों के दर्शन की स्वतन्त्रता के योग्य माने गये हैं। भिल्ल, मल्लाह और चांडाल जैसी उपजातियों को भी गणेश पूजन में स्थान प्राप्त था। स्त्रियों के साम्पत्तिक तथा धार्मिक अधिकार भी सुरक्षित होने का साक्ष्य मिलता है। स्त्रियों द्वारा जप, तप, पूजा–हवन आदि किये जाने की परम्परा का उल्लेख भी प्राप्त होता है। दूसरी और सती प्रथा तथा पति द्वारा घर से निकाल दिये जाने का भी उल्लेख मिलता है। कई स्थलों पर उनके नैतिक पतन से सन्दर्भित कथायें भी प्राप्त होती हैं जिनके आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस युग में स्त्रियों के प्रति मिला–जुला दृष्टिकोण रहा होगा।

सामन्ती प्रथा के उदय और विकास का परिणाम भारतीय शासन पद्धति के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ। सामन्त अपने क्षेत्र के पूर्ण शासकीय अधिकारों व तत्वों से युक्त होते थे। फलतः केन्द्रीय सत्ता के कमजोर होते ही अपनी शक्ति और राज्य क्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न करने लगे थे। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय राजनीति में प्रशासनिक ढीलापन, केन्द्रीय सत्ता का ह्रास, अस्थिरता, विदेशी आक्रमणाको निमंत्रण देने वाली स्थिति आदि

कमजोरियाँ उत्पन्न हो गयीं। इन प्रवृत्तियों ने सामाजिक और धार्मिक स्तर पर गतिरोध, संकोच, रूढ़िवादिता और अंधविश्वास की भावनाओं को जन्म दिया। विभिन्न वर्णों में जातियों–उपजातियों की बढ़ती हुई संख्या, वर्णेतरों, स्पर्शों, अत्पृश्यों और अन्त्यजों की स्थिति से सामाजिक भेदोपभेद व दूरी बढ़ने लगी। कर्म की प्रधानता के स्थान पर जन्म की प्रधानता हो गयी। धीरे–धीरे समाज रूढ़िगत, प्रतिक्रियावादी और पुरातनवादी हो गया और नवीन परिस्थितियों के मुकाबले के लिये उसके पास विकल्पों की कमी हो गयी। इस सबके परिणामस्वरूप नगरीय बाजार अर्थव्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गयी और इसके स्थान पर धीरे–धीरे बड़े गाँवों की निर्वाह अर्थव्यवस्था पनपी। साथ ही छोटे–छोटे वंशागत केन्द्र स्थापित हो गये जिनकी वजह से बाजारों की आवश्यकता कम से कमतर होती गयी। राजकोषीय और प्रशासनिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण इस काल की प्रमुख विशेषता थी। जागीरों की स्थापना या शासकीय अधिकार क्षेत्र वाली व्यक्तिगत माफ़ी की जमीनों और बेशी उत्पादन करने वाली स्वायत्तशासी इकाइयों का निर्माण सातवीं शताब्दी के बाद तेजी से होने लगा था। गाँवों में आ बसे कुछ गिने–चुने ब्राह्मण परिवार राज्य की ओर से भूमिकर से मिली छूट के बलबूते पर खूब फले–फूले। माफीदारों के ही बेशी उत्पादन के प्रबन्धक बन जाने और उसका सीधे ही अपने लिये विनियोजन कर लेने की स्थिति कालान्तर में स्पष्टतः दिखायी देता है। इसी तरह से, यद्यपि कुशल कारीगरों के नगरों को छोड़कर गाँवों में जा बसने से ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमपूर्ति की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हो गयी किन्तु इस श्रम शक्ति की बंधुआ कृषि मजदूरों के रूप में परिवर्तन होने की शुरूआत आठवीं–नौवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गयी। आर्थिक क्षेत्र में हुये उपर्युक्त विकास के फलस्वरूप धार्मिक क्षेत्र में भी यह परिवर्तन देखने में आया कि पहले से प्रचलित यज्ञ और बलि आधारित उपासना पद्धति के स्थान पर अब मंदिर आधारित सम्प्रदाय प्रधान पूजा पद्धतियाँ शुरू हुईं और दान–दक्षिणा लेने–देने तथा भेंट–पूजा चढ़ाने व ग्रहण करने के नये–नये तरीके प्रचलित हो गये।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि परंपरागत ब्राह्मणवादी व्यवस्था में भौतिक साधनों और अध्यात्मिक उन्नति के परस्पर सहयोग पर आधारित जो नया संबंध विकसित

हुआ उसने ब्राह्मण, पुरोहित और यजमान को परस्पर एक सूत्र में बाँध दिया। परन्तु जैसे–जैसे उत्पादन के प्रकार बदलते गये और तदनुसार बेशी उत्पादन के वितरण की व्यवस्था के तरीकों में परिवर्तन आता गया वैसे–वैसे पुरोहितों और यजमानों के परस्पर सम्बन्धों में भी बदलाव आता रहा। फिर भी बेशी उत्पादन सामग्री पुरोहितों के ही निमित्त विनियोजित होती रही। यह तथ्य इन बातों से प्रगट हो जाता है कि तब पुरोहितों ने दान–दक्षिणा प्राप्त करने के लिये नये–नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये तथा इस विचारधारा को प्रसारित किया कि पुरोहितों और यजमानों का परस्पर संबंध अटूट और शाश्वत है।

उपर्युक्त सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक स्थितियों का प्रतिबिम्बन गणेश पुराण में स्पष्टतः हो रहा है। विवेचित पुराण में भूमिदान, ग्रामदान की प्रथा ब्राह्मणों के सन्दर्भ में बहुतायत से वर्णित है। यत्र–तत्र मंत्रियों को भूदान का उल्लेख भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण, आभूषण, रत्न आदि दान करने का भी वर्णन प्राप्त होता है जो तत्कालीन समाज में व्याप्त सामन्तवादी प्रकृति का द्योतक है। मुद्राओं का उल्लेख मात्र एक स्थल पर हुआ है जो उत्तरपूर्व मध्यकाल के प्रारम्भिक चरण की बंद एवं गतिहीन अर्थव्यवस्था का परिचायक है। गणेश पुराण में दास, धर्म, पूजा, व्रत, उपासना आदि का पूर्ण कर्मकाण्डीय पक्ष निरूपित है जो तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की महत्वपूर्ण स्थिति का द्योतक है।

पूर्व मध्यकाल के उत्तरकालीन चरण में ग्रामीण क्षेत्रों में मन्दिरों का जाल–सा बिछ गया तथा इनके निर्माण में पत्थरों का उपयोग शुरू हुआ। दूसरी ओर, बेशी उत्पादों का अकूत संग्रह भी होने लगा। पुण्य वस्तुओं के निर्माण में भी तेजी आयी। जैसे–जैसे कृषि उत्पादों और पुण्य वस्तुओं के निर्माण में वृद्धि होती गयी, वैसे–वैसे उत्पादकों और विनियोजकों के सम्बन्ध पिरीमिडी अधिक्रम वाले बनते गये अर्थात् निचले स्तर पर कई उत्पादनकर्त्ता होते थे, जिनके बेशी उत्पाद का संचय कुछ ही उच्चस्तरीय विनियोजकों के हाथों में होता था।

ग्यारहवीं शताब्दी के आते–आते राजनीतिक अधिकार प्राप्त निजी क्षेत्रों वाले सामाजिक वस्तुओं के विनियोजकों की भूमिका समाप्त हुई और तब आर्थिक हितों वाले कुछ नये वर्ग उभरे, जिनका प्रतिनिधित्व नगरीय बाजार व्यवस्था के माध्यम से शुरू हुआ।

किसान और दस्तकार वर्ग इस नई व्यवस्था से जुड़ गये और इस तरह से उन्होंने अपने माल की खपत के लिये बाजारों में आना–जाना प्रारंभ किया। फलस्वरूप कई नये व्यापारी वर्ग ने जन्म लिया। ये व्यापारी वर्ग अपने सामूहिक हितों की रक्षा हेतु मिल बैठते थे तथा जो निर्णय लिया जाता उस पर साझा कार्यवाही भी करने लगे। संभवतः पुनः श्रेणी प्रमुखों का अस्तित्व महत्वपूर्ण स्तर पर उभरा होगा। गणेश पुराण में अर्थव्यवस्था का यह पक्ष स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इसमें कई स्थलों पर श्रेणी प्रमुखों को मंत्री के सदृश ही महत्व दिया गया है, जिससे उस काल के व्यापार–वाणिज्य के विकास व उन्नत स्थिति का द्योतन होता है।

गणेश पुराण में वैदिक 'गणपति' की परम्परा से गणेश को जोड़ने का प्रयास किया गया है। साथ ही अनेक धार्मिक सम्प्रदायों, जैसे वैखानस, भागवत, सात्वक, पांचरात्र, शैव, पाशुपत, कालामुख, भैरव, शाक्त, सौर, जैन, अर्हत इत्यादि का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इस पुराण का गणेश की महत्ता के प्रति अत्यधिक सचेष्ट होना इसकी धार्मिक साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति का परिचायक है। वैष्णव, सौर, शाक्त और शैव सम्प्रदाय के उपासकों द्वारा गणेश को सर्वोपरि स्वीकार करना तथा विष्णु, शिव, पार्वती व अन्य देवी–देवताओं को गणेश के आश्रित के रूप में वर्णन किये जाने के आधार पर आर. सी. हाज़रा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि संभवतः यही चारों सम्प्रदाय गाणपत्य सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी थे। गणेश पुराण में 'होरा' तथा 'राशियों' के नाम प्राप्त होते हैं। 'गणेश गीता' अंश पर भगवद्गीता का स्पष्टतः प्रभाव दिखायी देता है। इस पुराण से ज्ञात होता है कि जिस समय इनकी रचना हुयी, उस समय पंचायतन पूजा प्रचलित थी। गजानन की उत्पत्ति से सम्बन्धित अध्यायों में तांत्रिक प्रभाव दिखायी देता है। यह उल्लेखनीय है कि मुद्गल पुराण तथा शारदा तिलक में गणपति के 32 रूपों का उल्लेख प्राप्त हुआ है। शारदा तिलक में 51 तथा गणेश पुराण में 50 स्वरूपों का विवरण प्राप्त होता है। गणेश का अग्रपूजक स्वरूप पौराणिक काल से ही भारतीय उपासना पद्धति में प्रचलित रहा है। कालान्तर में गणेश उपासना पद्धति पूर्णतया विकसित स्वरूप में प्राप्त होने लगी जिसमें जप, तप, आचमन, प्राणायाम, षोडशोपचार, मातृपूजन, भूतशुद्धि, मूर्तिपूजन आदि क्रियाविधियाँ

शामिल हुई। प्रस्तर, स्फटिक, रत्नकांचन, मृत्तिका, काष्ठ द्वारा निर्मित मूर्तियों द्वारा गणेश पूजा का विधान था। विभिन्न प्रकार के व्रत, उपवास तथा कुछ व्रतों के दौरान मूर्ति स्थापन व व्रत समाप्त होने पर रात्रि जागरण, गाजे–बाजे के साथ नृत्य करते हुये मूर्ति विसर्जन हेतु जाने की परम्परा का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

गणेश पुराण में गणेश के सगुण–साकार स्वरूप का वर्णन होने के बावजूद उन्हें निर्गुण–निराकर परब्रह्म के स्वरूप से युक्त माना गया है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियन्ता है। गणेश पुराण के इस पक्ष पर उपनिषद्, सांख्य, योग, वेदान्त दर्शनों का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। सांख्य, रोग, वैष्णव धर्मों से भी गणेश उपासना पद्धति व गाणपत्य सम्प्रदाय अत्यन्त प्रभावित हुआ। इन परम्पराओं ने गाणपत्य धर्म की महत्ता में विशेष वृद्धि की तथा ब्रह्मा, विष्णु व शिव तथा गणेश के मध्य पूर्ण एकात्मकता स्थापित हुयी। गाणपत्य साहित्य में गणेश को इन तीनों देवों से उच्च स्थापित किया गया। गणेश की महत्ता को सर्वोपरि बताया गया। गणेश का कालान्तर में शक्ति के साथ भी तादात्म्य स्थापित किया गया। मंदिरों में पंचायतन पूजा का प्रचलन हो चुका था।

गाणपत्य धर्म तंत्रोपासना से पूर्णतः प्रभावित हो रहा था। क्योंकि तंत्रोपासना में वर्ण, धर्म, लिंग तथा अन्य प्रवृत्तियों का विचार किये बिना सभी सम्प्रदायों एवं वर्ग के लोगों को समान आचरण की स्वतन्त्रता उपलब्ध थी। इस प्रवृत्ति के कारण जन सामान्य की न केवल धार्मिक प्रत्युत सामाजिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो रही थी। तन्त्रोपासनान्तर्गत शूद्र तथा स्त्रियों को उपासना की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। तन्त्र में विविध चिकित्सक तथा ज्योतिषियों के रूप में जनसामान्य की सेवा करते थे। इस प्रकार तन्त्र–दर्शन समाज के अन्तरंग जीवन में प्रविष्ट होकर गाणपत्य धर्म को लोकप्रिय बना रहा था।

गणेश पुराण के रचनाकार ने गणेश के व्यक्तित्व में वह सभी चारित्रिक विशिष्टतायें सम्मिलित की हैं जो रुद्र, शिव, वरुण, कुबेर, कार्तिकेय व दुर्गा में हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दू, बौद्ध तथा विभिन्न आगम परम्पराओं से भी इनका सम्बन्ध स्थापित किया है। तांत्रिकों ने गणेश को शक्ति के साथ सम्बद्ध कर उनके सम्मान में विभिन्न प्रकार के मंत्र की रचना की है। इस रूप में गणेश को मंत्रमति के रूप में प्रतिस्थापित करते थे।

जिसके पीछे दर्शन यह था कि मंत्रपति की पूजा उन्हें विभिन्न काली छयाओं से बचाती है। उच्छिष्ट गणेश गुह्यचक्ररत, गुह्यागम निरूपिता यह प्रमाणित करते हैं कि तंत्र परम्परा में गणेश का महत्व किसी भी रूप में वामचक्र से कम नहीं था।

गणेश पुराण में तांत्रिक यन्त्र–पूजा को भी एक माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है। गणेश उपासकों को यह निर्दिष्ट किया जाता है कि मंत्र, संध्या, न्यास को सम्पादित करने के लिये आगम निर्देशों का अनुपालन सुनिश्चित किया जाये। गणेश पुराण में यह भी उल्लिखित है कि तांत्रिक पद्धतियों से गणेश की पूजा व विभिन्न प्रतीक–चिन्हों से उन्हें जोड़ने के बावजूद 'गणानां त्वा', ऋग्वैदिक मंत्र इन सभी आगमिक परम्पराओं से उत्कृष्ट है।

गणेश की मूर्ति–पूजा के विकास तथा प्रसार में वृहत्संहिता, गणेश पुराण, मुद्गल पुराण, अग्निपुराण मत्स्यपुराण, विष्णु धर्मोतर पुराण, विश्वकर्माशिल्प, रूपमण्डन, अंशुमदभेदागम, सुप्रभेदागम, विश्वकर्मशास्त्र, पूर्वकरणागम शिल्परत्न, मानसोल्लास, पदम्पुराण, ब्रह्मपुराण, भविष्यपुराण, वाराहपुराण, नारद पुराण, गरुण पुराण आदि का विशिष्टतम योगदान रहा है।

शुभ लक्षणों से युक्त प्रतिमा कल्याण करने वाली मानी जाती थी। गणेश प्रतिमा–पूजा के साथ ही उनके परिवार, पार्षद व अनुचरों का भी महत्व बढ़ गया। गणेश के साथ उनके वाहन रूप में मूषक, मयूर, सिंह तथा उनकी शक्तियों, सिद्धि–बुद्धि, कहीं–कहीं कार्तिकेय व स्कन्द आदि का अंकन भी प्राप्त होता है। गणेश की प्राचीनतम मूर्तियाँ यक्षों और नागों की प्रतिमाओं का प्रतिरूप हैं। यक्ष और नागों की पूजा ईसा से भी कई शताब्दी पहले भारत में प्रचलित थी। अमरावती से प्राप्त एक शिलापट्ट पर यक्ष का अंकन प्राप्त होता है, जिसके कान बड़े हैं। किन्तु मुख यक्ष का नहीं है। जयपुर के रेह नामक स्थान से (प्रथम शताब्दी ई. पू. से प्रथम शताब्दी ई.) की मिट्टी की बनी विनायकी की मूर्ति प्राप्त हुयी। मथुरा से (दूसरी शताब्दी ई.) प्राप्त मूर्ति पर गजमुखी यक्षों का अंकन मिलता है। इन साक्ष्यों के आधार पर कुमारस्वामी, वी. एस. अग्रवाल आदि यह मानते हैं कि गणेश की मूर्तियों का विकास इन गजमुखी यक्षों की प्रमिताओं से हुआ होगा। कुछ

विद्वान इस मत को स्वीकार नहीं करते। यद्यपि इतना स्पष्ट है कि प्रारम्भिक गुप्त युग तक स्वतन्त्र रूप से गणेश की कुछ स्थानक मूर्तियाँ मथुरा से तथा इन्हीं की समकालीन आसन–मूर्तियाँ भूमरा से प्राप्त होती हैं।

गणेश का हिन्दू देवमण्डल में जैसे–जैसे स्थान महत्वपूर्ण होता गया, वैसे–वैसे उनके स्वरूप, भुजाओं, आयुधों, अलंकरण में भी विविधता व जटिलता बढ़ती गयी। प्रारंभ में (प्रथम से चौथी शताब्दी) गणेश प्रतिमायें साधारण, द्विभुजी, अलंकारविहीन तथा वाहन विहीन स्वरूप में अंकित हैं। द्विभुजी गणेश का स्वरूप साहित्य में भी कम प्राप्त होता है। किन्तु कालान्तर में चतुर्भुजी, षड्भुजी, दसभुजी, द्वादशभुजी, षडादशभुजी प्रतिमाओं का साहित्य व प्रतिमा विज्ञान दोनों ही क्षेत्रों में प्रमाण प्राप्त होने लगा। इन्हें वैष्णव व शैव परम्परा से जोड़ते हुये विष्णु व शिव से उच्च स्थान पर स्थापित किया गया। अतः उनके आयुधों में त्रिशूल, शंख, चक्र, गदा, खड्ग, वज्र, पाश, टूटा हुआ दांत आदि वर्णित हैं जो शिव, विष्णु, गणेश के समन्वय का भाव प्रतिबिम्बित करते हैं। गणेश ने शिव की ही भाँति मस्तक पर अर्द्ध चन्द्रमा और यज्ञोपवीत के रूप में सर्प धारण किया है। पूर्व मध्यकाल में पायी जाने वाली गणेश प्रतिमाओं का स्वरूप विधान गणेश पुराण में प्राप्त प्रतिमा–लक्षण से साम्य रखता है।

गणेश पुराण में गणेश के मंदिरों का स्थापत्य शास्त्र के संदर्भ में उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कुछ महत्वपूर्ण स्थलों के नाम अवश्य प्राप्त होते हैं–जैसे विष्णु ने सिद्धि क्षेत्र में गणेश का स्फटिक का विशाल मंदिर बनवाया, उसका शिखर स्वर्ण का था। उसमें चार द्वार थे। मंदिर सुन्दर शोभा से सम्पन्न था। एक अन्य स्थल पर, वामन द्वारा रत्नकांचन जटित मंदिर बनवाने, शंकर द्वारा त्रिपुर विजय पश्चात् गणेशपुर में रत्न और स्वर्ण से भव्य मंदिर बनवाने, गृत्समद द्वारा पुष्पक क्षेत्र में विशाल मंदिर के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है। गणेश पूजा के प्रसिद्ध केन्द्रों के सन्दर्भ में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रारंभ में गणेश को अन्य देवताओं के साथ मंदिर में स्थान मिला था। 13वीं शताब्दी के पश्चात् ही गणेश के स्वतंत्र मंदिरों का निर्माण हुआ होगा। होयसल शासकों की प्राचीन राजधानी हेलेविद में होयसलेश्वर मंदिर की स्थापना विष्णुवर्धन द्वारा (1121 ई.) में कराई गयी। इस

मंदिर में नृत्तगणपति की सुन्दर मूर्ति स्थापित है। 12वीं–13वीं शताब्दी के लगभग तंजौर जनपद के पट्टीश्वरम् में निर्मित शिव मंदिर में प्रसन्न गणपति की त्रिभंग प्रतिमा प्रतिष्ठित है। 15वीं शताब्दी के लगभग निर्मित नेगापरम् के नीलायताक्षी यमन मंदिर में उच्छिष्ट गणपति की मूर्ति स्थापित है। 1446 ई. में पांड्य शासक अरिकेसरि ने तेनकाशी में विश्वनाथ स्वामी का मंदिर बनवाया, जिसमें लक्ष्मी गणपति की मूर्ति स्थापित है। इसी काल के कुम्भकोणम् के नागेश्वर स्वामी मंदिर में उच्छिष्ट गणपति की मूर्ति प्रतिष्ठित है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि गणेश पुराण में पूर्व मध्यकालीन सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों का निरूपण जगह–जगह होने के कारण उसकी तिथि 1100–1400 ई. के मध्य रखी जा सकती है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस पुराण में ऐसे अनेक सन्दर्भ मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि गणेश उपासना में जनजातीय तत्व भी कर्मकाण्ड के अंग के रूप में समाहित हो रहे थे। जैसे, गणेश के इक्कीस नामों के उच्चारण का उल्लेख प्राप्त होता है। उन्हें इक्कीस फल, इक्कीस दूर्वा के टुकड़े, इक्कीस मुद्रायें समर्पित करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार विनायक चतुर्थी व्रत के अवसर पर गणेश की प्रतिमाओं को छत्र, ध्वज इत्यादि से सुसज्जित करके मनुष्यों द्वारा खींचे जाने वाले रथ में ले जाने का जो उल्लेख है उसमें सामन्ती प्रभाव दिखायी देता है। जन जातीय तत्वों का पौराणिक परम्परा में समावेश यद्यपि प्राचीन काल से ही प्रारंभ हो चुका था परन्तु उसमें तीव्रता पूर्व मध्यकाल में ही दृष्टिगत होती है। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में सामन्तवादी व्यवस्था के आधार पर देवताओं के स्तरीकरण तथा उनकी उपासना में ऐश्वर्य एवं प्रभुता का समावेश पूर्व मध्यकालीन देन है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गणेश पुराण गाणपत्य सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है। यह इस सम्प्रदाय का आधारभूत संग्रह है। स्वयं इस ग्रंथ में भी इसे उपपुराण कहा गया है। इसके माध्यम से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि 13वीं–14वीं शताब्दी तक गणेश की उपासना परम्परा का उत्कर्ष अपने चरम पर पहुँच गया तथा यह परम्परा उत्तरोत्तर विकास करती रही। धीरे–धीरे गणेश धर्म के साथ–साथ कला, साहित्य व जातीय परम्पराओं में इस प्रकार समीकृत हुये कि आज भारतीय समाज की धार्मिक

आवश्यकताओं तथा हिन्दू जीवन पद्धति के अनिवार्य अंग बन गये हैं।

गणेश पुराण के सांस्कृतिक अध्ययन के दौरान इस पुराण से सन्दर्भित लगभग हर महत्वपूर्ण पक्ष पर अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में यथासंभव नवीनता एवं अनुल्लिखित पक्षों को सन्निवेशित करने की चेष्टा की गयी है। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं दार्शनिक पटलों को सम्यक् रूप से विश्लेषित एवं समीक्षित करने का प्रयास भी किया गया है। इस अध्ययन के पूर्व गणेश पुराण का हिन्दी अनुवाद करना भी एक अनिवार्य एवं श्रमसाध्य प्रक्रिया थी। इन कार्यों को पूर्ण मान लेना तर्क संगत नहीं होगा तथापि गणेश पुराण की तिथि निर्णय, उसका सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण, गणेश पुराण में वर्णित आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक स्थिति का पूर्व मध्यकालीन परिप्रेक्ष्य में विवेचन, गाणपत्य धर्म, दर्शन व सम्प्रदाय पर समकालीन अन्य धर्म, दर्शन के प्रभाव तथा तांत्रिक प्रभाव, गणपति प्रतिमा—विज्ञान एवं मंदिरों का सांगोपांग विवेचन तथा इन सब विषयों की ऐतिहासिक निष्पक्षता से समालोचना करने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.	गणेश पुराणम्	बरेली प्रकाशन
2.	गणेश पुराणम्	नाग प्रकाशन दिल्ली
3.	गणेश कोश	एस. के. राव बंगलौर 1992
4.	विनायक	बी. एन. शर्मा नई दिल्ली 1972
5.	गणेश	सम्पूर्णानन्द
6.	गणपति	शान्ति निकेतन 1956
7.	गणेश अंक	गीता प्रेस गोरखपुर
8.	गणपति अथर्वशीर्ष (उपनिषद्)	वैंकटेश्वर प्रेस बम्बई 1913
9.	गणेश पूर्वतापिनी उपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
10.	गणेश स्टडीज ऑफ तन्त्र	आर. एल. ब्राउन कलकत्ता
11.	द कल्ट ऑफ विनायक	शांतिलाल नागर नई दिल्ली 1992
12.	कॉन्सेप्ट ऑफ गनेश	के. एन. सोमयाजी बंगलौर
13.	प्रतिमा विज्ञान प्रतिभा लक्षण	वी. वी. श्रीवास्तव वाराणसी
14.	गणेश इन इण्डियन आर्ट एण्ड लिटरेचर	निर्मला यादव जयपुर 1997
15.	गणेश, ए मोनोग्राफ आन एलीफैंड फेस्ट गॉड	गैटी, एलिस नई दिल्ली 1971
16.	द प्राब्लम ऑफ गनपति	एच. हेराज दिल्ली 1972
17.	हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन	प्रभु पी. एन. मुम्बई 1958
18.	श्रीमद् भगवद् गीता	गीता प्रेस गोरखपुर
19.	बाल्मीकि रामायण	गीता प्रेस गोरखपुर
20.	महाभारत	गीता प्रेस गोरखपुर
21.	गीता रहस्य	गीता प्रेस गोरखपुर
22.	छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर

23. हिन्दू संस्कृति अंक गीता प्रेस गोरखपुर
24. रामायण कालीन समाज व्यास
25. पुराणों की अनादिता गिरधर शर्मा चतुर्वेदी
26. विष्णु पुराण का भारत डॉ. सम्पूर्णानन्द
27. पुराण विमर्श बलदेव उपाध्याय वाराणी 1965
28. मत्स्य पुराण गीता प्रेस गोरखपुर
29. मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन पं. बद्रीनाथ शुक्ल
30. मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन वासुदेव शरण अग्रवाल
31. पुराणोत्पत्ति प्रसंग मधुसूदन ओझा
32. ब्रह्मवैवर्त पुराण गीता प्रेस गोरखपुर
33. हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन वीणापाणि
34. दशपुराण पंचलक्षण डॉ. किर्फिले
35. पुराण मीमांसा चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
36. पुराण विमर्श चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
37. पद्म पुराणांक गीता प्रेस गोरखपुर
38. पौराणिक कथायें हृदय नारायण शर्मा
39. इतिहास पुराण का अनुशीलन आर. एस. भट्टाचार्य
40. अष्टादश पुराण दर्पण ज्वाला प्रसाद
41. पुराण विषयानुक्रमणी राजवली पाण्डेय
42. पौराणिक साहित्य और संस्कृति भास्करानन्द लोहनी
43. पुराण पारिजात गिरधर शर्मा
44. पुराण विवेचन श्री रामकृष्ण

45.	पुराण दिग्दर्शन	माध्वाचार्य शास्त्री
46.	पुराण तत्त्वमीमांसा	श्री कृष्ण मणि त्रिपाठी
47.	अष्टादश पुराण परिचय	चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
48.	पुराण रहस्य	अन्नदाचरण (काशी)
49.	पौराणिक धर्म और समाज	सिद्धेश्वरी नारायण
50.	नारद पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. हेमवती शर्मा बांकेबिहारी प्रकाशन आगरा
51.	इतिहास पुराण अनुशीलन	डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य, इण्डोलोजिकल बुक हाउस वाराणसी
52.	पद्म पुराण	एम. सी. आप्टे, आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना
53.	अग्नि पुराण	आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना
54.	गरूड़ पुराण	वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे
55.	स्कन्द पुराण	वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई 1910
56.	वाराह पुराण	पी. एच. शास्त्री, कलकत्ता 1893
57.	विष्णु धर्मोत्तर पुराण	वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई 1912
58.	लिंग पुराण	बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता 1885
59.	पोलिटिकल आइडियाज इन पुराणाज	ओमप्रकाश इलाहाबाद 1977
60.	शिव पुराण	पंचानन तर्करत्न, बंगवासी प्रेस कलकत्ता
61.	भविष्य पुराण	वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे, 1910
62.	मुद्गल पुराण	चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
63.	अंशुभेदागम्	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना
64.	उत्तरकामिकागम	टी. ए. गोपीनाथ
65.	सुप्रभेदागम	टी. ए. गोपीनाथ

66. अजितागम — आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना
67. अपराजित पृच्छा — आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना
68. रूपमण्डन — बलराम श्रीवास्तव कलकत्ता
69. देवता मूर्ति प्रकरण — डॉ. निर्मला यादव
70. शिल्परत्न — श्री कुमार प्रणीत, उत्तरभाग
71. शारदातिलक — संस्कृत सीरीज तथा तांत्रिक टेक्स्ट
72. बृहत्संहिता — एच. कर्म बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1864
73. डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी — जे. एन. बैनर्जी
74. श्री गणेश पंचरत्न — शंकराचार्य
75. शिल्परत्न — श्री कुमार त्रिवेन्द्रम, 1922
76. गणेश अनरिवेलिंग एन एनिग्मा — कृष्णन युवराज
77. प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला — बी. बी. श्रीवास्तव, वाराणसी
78. खजुराहों की देव प्रतिमायें — रामाश्रय अवस्थी, आगरा
79. आइक्नोग्राफी ऑफ हिन्दूज बुद्धिस्ट एण्ड जैन्स — आर. एस. गुप्ता, बाम्बे
80. रिलिजियस इमेजरी ऑफ खजुराहो — देवांगना देसाई, बम्बई
81. रामचरित मानस — वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई
82. ऋग्वेद — गीता प्रेस गोरखपुर
83. भारतीय दर्शन — उमेश मित्र
84. अष्टाध्यायी — चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
85. वैदिक वाङ्मय का इतिहास — चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
86. सांख्य तत्व कौमुदी प्रभा — आद्या प्रसाद मिश्र इलाहाबाद
87. भारत की संस्कृति साधना — डॉ. वी. के. सिंह इलाहाबाद

88.	आधुनिक धर्म और समाज	राधाकृष्णन
89.	संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	राम जी उपाध्याय
90.	श्री मद् गर्ग संहिता का सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. टी. आर. निरञ्जन कोंच
91.	मनुस्मृति	पूना संस्करण 1937
92.	कालीदास ग्रन्थावली	चौखम्भा संस्करण सीरीज वाराणसी
93.	तन्त्र वार्तिक	चौखम्भा संस्करण सीरीज वाराणसी
94.	हिन्दू संस्कृति अंक	गीता प्रेस गोरखपुर